हिन्दी सूफ़ी-काव्य में प्रतीक-योजना

सरोजनी पाण्डेय

हिन्दी-सूफ़ी-काव्य में प्रतीक-योजना

लेखक
डॉ० सरोजनी पाण्डे
एम० ए०, पी-एच० डी०
हिन्दी विभाग
आचार्य नरेन्द्रदेव महापालिका महिला महाविद्यालय
कानपुर



प्रकाशक
युगवाणी प्रकाशन
जवाहर नगर, कानपुर–१२

मूल्य : ७५.००

प्रकाशक :
युगवाणी प्रकाशन
१०७/६६ जवाहरनगर, कानपुर

लेखिका :
डॉ० श्रीमती सरोजनी पाण्डेय

संस्करण
प्रथम, १९७४

आवरण
श्री एस मतवाला

मुद्रक :
विवेक प्रिंटर्स, ब्रह्मनगर, कानपुर

प्रेरणामयी
माँ को—
'सरोज'

आमुख

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीमती सरोजनी पाण्डेय का शोध-प्रबन्ध है, जिस पर उन्हें आगरा विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० उपाधि से सन् १९६९ ई० में सम्मानित किया था। मुझे इसके प्रकाशन से विशेष प्रसन्नता है; क्योंकि यह कार्य मेरे निर्देशन में ही सम्पन्न हुआ था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूफ़ी-काव्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक काल के समीक्षा-शास्त्र के आरम्भ से ही कितने ही मनीषी समीक्षकों का ध्यान सूफ़ी-कवियों और इनमें भी विशेषतया जायसी के काव्य की ओर आकर्षित होता रहा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० माता प्रसाद गुप्त तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति लब्धप्रतिष्ठ विद्वान इस क्षेत्र में अनुसंधान एवं समीक्षा कर चुके हैं, किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रतीक-योजना की दृष्टि से इस प्रकार का विशद अनुसंधानपरक कार्य अभी तक किसी ने भी नहीं किया था; स्पष्ट है कि इस कार्य के द्वारा एक अभाव की आपूर्ति हुई है। इसके द्वारा अनुसंधानपरक व्यवस्थित सामग्री सुलभ हुई है, जिसमें लेखिका के मौलिक चिन्तन एवं शोध-प्रवृत्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है। विषय-विवेचन, सामग्री-संकलन तथा तथ्यों के पुनराख्यान की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध मौलिक है और शोध-क्षेत्र में एक उपलब्धि है। प्रबन्ध की भाषा प्रांजल, प्रौढ़ एवं साहित्यिक है और शैली सौष्ठवपूर्ण है।

प्रस्तुत प्रबन्ध बारह अध्यायों में विभक्त है। इनमें पृष्ठभूमि के रूप में प्रारम्भिक चार अध्याय हैं जिनमें विषयानुष्ठान, प्रतीक-परम्परा का इतिहास, हिन्दी के सूफ़ी-कवि और उनका काव्य तथा सूफ़ी काव्य में प्रतीक-योजना के प्रेरक तत्त्व आदि से सम्बन्धित बड़ी उपयोगी सामग्री सैद्धान्तिक विवेचन-सहित प्रस्तुत की गयी है। उपसंहार को छोड़कर शेष सात अध्यायों में प्रतीकों का बड़ा ही विशद एवं वैज्ञानिक विभाजन किया गया है। प्रतीक-योजना के माध्यम से सूफ़ी रहस्यवाद का स्वरूप भी स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है। सूफ़ी रचनाओं का रूपकात्मक पक्ष भी प्रकाशित किया गया है और रूपक के तीनों प्रकार — सांग, निरंग तथा परम्परित — लेकर प्रतीक-योजना को समझाया गया है। रूढ़ि तथा प्रयोजनवती लक्षणा के माध्यम से भी प्रतीक-योजना का उल्लेख है। उपसंहार में प्रतीक-योजना से सम्बन्धित बड़े महत्त्व-पूर्ण निष्कर्ष निकाले गये हैं।

शोध-प्रबन्ध के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत चित्र-परिचय एवं विशेष प्रतीक-सूची दे देने से कार्य की उपयोगिता और बढ़ गयी है। संलग्न सहायक ग्रन्थ-सूची भी इस क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिये विशेष उपयोगी है।

मैं श्रीमती पाण्डेय के इस ग्रन्थ का हार्दिक स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि हिन्दी-जगत् में इसका समुचित सम्मान होगा। श्रीमती पाण्डेय इसी प्रकार भविष्य में भी हिन्दी साहित्य-भाण्डार को ग्रन्थ-रत्न प्रदान करती रहें, यह मेरी मंगलकामना है।

डॉ० कैलाशचन्द्र अग्रवाल

९-१०-७३

क० मु० हिन्दी विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

प्राक्कथन

हिन्दी–सूफ़ी-काव्य के प्रणयन में अनेकानेक रहस्यवादी कवियों का योगदान रहा है, इसीलिये सूफ़ी-काव्य रहस्यात्मक अनुभूतियों का भाण्डार हो गया है। रहस्य-वादियों ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को स्पष्ट करने के लिये विविध प्रतीकों का विपुल प्रयोग किया है। उनके साध्य और उनकी अनुभूति का स्वरूप भाषा में अप्रेषणीय होने के कारण इन दोनों के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है वह प्रतीकों के माध्यम से ही। इसी कारण उनकी भाषा प्रतीक बोझिल होकर दुरूह हो गयी है, जिसके प्रतीकों का अर्थ जाने बिना कोई अदीक्षित व्यक्ति उसे समझ ही नहीं सकता। यही कारण है कि अनेक मर्मियों की अभिव्यक्ति साधारण पाठक को उद्दाम प्रणय, अभिसार और उत्कट मिलन की अभिव्यक्ति लगती है, उनके प्रतीकात्मक कथन प्रलाप प्रतीत होते हैं।

कलात्मक अनुभूति के दो पक्ष हैं प्रतिभा द्वारा सीधा प्रत्यक्षीकरण और प्रतीक के द्वारा आदर्शात्मक व्याख्याकरण।[1] प्रतीकों के माध्यम से जो व्याख्याकरण होता है उसका काव्य-सौष्ठव की रमणीयता के सम्वर्द्धन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। कहने की आवश्यकता नहीं, हिन्दी-सूफ़ी-काव्य हिन्दी-साहित्य का अति समृद्ध काव्य है जिसमें रमणीयता की कोई कमी नहीं है। इस साहित्यिक रमणीयता का बहुत कुछ श्रेय प्रतीक-योजना को ही है, किन्तु इस दृष्टि से अभी तक इस काव्य का मूल्यांकन नहीं हो सका है।

यह विषय अब तक अधिकांशतः उपेक्षित ही रहा है। यद्यपि डा० चन्द्रबली पाण्डेय ने अपने 'तसव्वुफ और सूफ़ी मत' शीर्षक ग्रंन्थ में सूफ़ीमत पर और वह किस प्रकार प्रतीकों पर अवलम्बित है, इस पर विचार किया है; परन्तु विशेष रूप से उन्होंने केवल सूफीमत के उद्भव और विकास पर ही प्रकाश डाला है। डा० विमल कुमार

१–देखिये, हिन्दी-साहित्यकोश, पृ०४७३

जैन ने अपने 'सूफ़ीमत और हिन्दी-साहित्य' में हिन्दी के मान्य सूफ़ी-सन्तों की रचनाओं के आधार पर सूफ़ी-सिद्धान्तों की खोज करके उनके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। डा० कमल कुलश्रेष्ठ और डा० जयदेव कुलश्रेष्ठ ने जायसी के काव्य और जीवन पर प्रबन्ध लिखकर पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के 'सूफ़ी-काव्य-संग्रह' में हिन्दी सूफ़ी-कवियों के प्रेमाख्यानों का संग्रह किया गया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पदमावत' के प्राक्कथन में 'पदमावत' के पारिभाषिक प्रतीकों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। डा० सरला शुक्ला ने अपने शोधप्रबन्ध "जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य" में जायसी के पश्चात् हुए हिन्दी-सूफ़ी-कवियों और उनकी कृतियों पर प्रकाश डाला है।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि हिन्दी-सूफ़ी-कवियों के काव्यों में प्राप्त प्रतीक-योजना पर किसी ने भी अपना ध्यान केन्द्रित नहीं किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में मैंने इस गुरुतर कार्य को यथाशक्ति सम्पन्न करने का प्रयास किया है। मर्मज्ञ ही इस बात का निर्णय कर सकेंगे कि मेरा यह प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है? प्रस्तुत शोध प्रबन्ध द्वादश प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम प्रकरण में, प्रतीक का अर्थ, प्रयोग एवं उसकी महत्ता तथा प्रतीक निर्माण की प्रक्रिया और उसके आधार पर प्रकाश डालते हुए प्रतीक विषयक विद्वानों की विभिन्न मान्यताओं को प्रस्तुत करके अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। इसी अध्याय में प्रतीक का प्रतीकवाद, अलंकार, बिम्ब, अनुभूति व संकेत से अन्तर स्पष्ट करते हुए, वैज्ञानिक ढंग से प्रतीकों के प्रमुख भेदों को निर्देशित किया गया है।

द्वितीय प्रकरण में, प्रतीकों की परम्परा का इतिहास बताते हुए उस पर तर्क-संगत ढंग से प्रकाश डाला गया है।

तृतीय प्रकरण में, हिन्दी के प्रमुख सूफ़ी-कवियों के काव्य तथा उनके काल आदि का सामान्य परिचय दिया गया है। साथ ही इन प्रेम-काव्यों के वर्ण्य-विषय काव्यादर्श और उसकी महत्ता को बताते हुए हिन्दी-साहित्य में उसके स्थान को बताया गया है।

चतुर्थ प्रकरण में, इन प्रेम-काव्यों की प्रतीक-योजना के प्रेरक तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम् प्रकरण में, इन हिन्दी-सूफ़ी-प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त सार्वभौम प्रतीकों पर दृष्टिपात किया गया है।

चूंकि इन प्रेमाख्यानों में फारस एवं भारत दोनों ही देशों के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, अतः षष्ठम् प्रकरण में, देशगत प्रतीकों पर विचार किया गया है।

सप्तम् प्रकरण में, हिन्दी-सूफी-कवियों को परम्परा से प्राप्त साहित्यिक, पारिभाषिक एवं पौराणिक प्रतीकों का मूल्यांकन किया गया है।

अष्टम् प्रकरण में, प्रेम-सौन्दर्य व साम्प्रदायिक साधना-सम्बन्धी प्रतीकों का विवेचन किया गया है।

नवम् प्रकरण में, रहस्यात्मक संकेतों को प्रस्तुत करने वाले इहलोक और परलोक सम्बन्धी प्रतीकों का चित्रण किया गया है।

दशम् प्रकरण में, रूपकात्मक प्रतीकों की महत्ता बताते हुए सूफी-काव्यों में प्रयुक्त सांग रूपक, निरंग रूपक एवं परम्परित रूपक-सम्बन्धी प्रतीक-योजना पर विचार किया गया है।

एकादश प्रकरण में, लक्षणामूलक प्रतीकों के सम्बन्ध में बताते हुये रूढ़ लक्षणा एवं प्रयोजनवती लक्षणा-सम्बन्धी प्रतीकों का पर्यवेक्षण किया गया है।

द्वादश प्रकरण में, संत-कवियों एवं हिन्दी-सूफी-कवियों के प्रतीकों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनकी आन्तरिक भावनाओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

त्रयोदश प्रकरण में उपसंहार के अन्तर्गत निष्कर्षस्वरूप आधुनिक उपयोगिता मूलक दृष्टि-संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी के सूफ़ी-काव्यों में प्रयुक्त प्रतीकों के माध्यम से व्यंजित आध्यात्मिक एवं मानवतावादी सांस्कृतिक देन की विवेचना करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि आज अपनी-अपनी जाति एवं देश की सीमाओं से सम्बद्ध भयानक युद्ध-विभीषिका से संत्रस्त कुण्ठित मानवता एवं उसकी अस्तव्यस्त जीवनचर्या के लिये समस्त जातियों को एकता के सूत्र में आवद्ध करने वाली हिन्दी-सूफ़ी काव्य की प्रेममयी विचारधारा एक प्रकाश-स्तम्भ का-सा कार्य करती है। हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने अपनी उदार और दूरदर्शी दृष्टि से प्रतीकों के माध्यम से मानव को जो प्रेम-बोध कराया है वह युग-युग तक मानव के मार्ग को प्रशस्त करता रहेगा।

अंत में परिशिष्ट में, हठयोग-साधना के षटचक्रों को चित्रों के माध्यम से समझाया गया है तथा साथ ही विशेष प्रतीक-सूची देकर ग्रंथ की उपादेयता को बढ़ाने का प्रयास किया गया है।

मैं सर्वप्रथम डा० माताप्रसाद गुप्त (निदेशक क० मु० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा) के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ जिन्होंने विद्यापीठ में मुझे शोध सम्बन्धी समस्त सुविधाएँ प्रदान कीं। अपने प्रबन्ध निर्देशक डा० कैलाश चन्द्र अग्रवाल के प्रति मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ, जिन्होंने शोधकार्य की इतनी स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत की कि मुझे शोध-साधना पूर्ण करने में अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा।

समय-समय पर उनके बहुमूल्य सत्परामर्शों से मैं बहुत ही लाभान्वित हुई हूँ। इतना ही नहीं, प्रस्तुत शोध-विषय भी वस्तुतः उनके द्वारा ही निर्दिष्ट है। अस्तु, मैं शब्दों में आभार प्रदर्शन कर औपचारिकता का निर्वाह नहीं करना चाहती। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी संस्कृत विभाग के अध्यक्ष परम श्रद्धास्पद डॉ० हरवंशलाल शर्मा के प्रति भी मैं नतमस्त हूँ जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध की उपयोगिता की वृद्धि हेतु अपने बहुमूल्य सुझाव दिये हैं। इसके अतिरिक्त अपने अन्य गुरूजनों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता स्वीकार करती हूँ, जिनके सत्परामर्श शोध कार्य में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। साथ ही मैं उन सभी विद्वज्जनों एवं अध्येताओं के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता निवेदित करती हूँ, जिनकी कृतियों के सूक्ष्म-सूत्र-संकेतों से भी मुझे अपने अध्ययन की दिशा-दृष्टि मिली है।

अन्त में कृतज्ञता ज्ञापन के इस अवसर पर मैं अपने उन परिजनों को भी नहीं भूल सकती, जिनके असीम स्नेह और सहयोग के बिना इस शोध प्रबन्ध की सृष्टि दुसाध्य थी। किन्तु उनके लिये कुछ लिखना उनके स्नेह और सहयोग का अवमूल्यन करना है। बस, यही कामना है कि आगे भविष्य में भी मुझे इसी प्रकार उनका स्नेह और सहयोग प्राप्त होता रहे।

९-११-१९७३ सरोजनी पाण्डेय
१२८/२३ 'ई' ब्लाक
क़िदवई नगर, कानपुर–११

अनुक्रम

———

१ | विषयानुष्ठान

'प्रतीक एक ऐसी संज्ञा है जिसका प्रयोग तर्क-शास्त्र, गणित, चिह्न-विज्ञान, ज्ञान-सिद्धान्त, धर्म-शास्त्र, ललित-कला और कविता सभी में होता है ।'[1]

दार्शनिक दृष्टि से प्रतीक का इतना व्यापक अर्थ है कि उसके अन्तर्गत शब्द, भाषा, मुद्रा एवं सम्पूर्ण वाङ्.मय आ जाते हैं । समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रतीकों का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में प्रतीकों को रूढ़ रीति-रिवाजों, धर्म-पूजा एवं अन्य सामाजिक अनुष्ठानों से इस प्रकार सम्बद्ध कर दिया गया है कि प्रतीकों का व्यक्तिगत मनोरागों से कोई सम्बन्ध ही नहीं बन पाता।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रतीकों का जो अध्ययन किया गया है उसमें प्रतीकों को व्यक्ति के अवचेतन मन, दमित इच्छाओं और मानसिक स्वतःचालन से इस प्रकार मुद्रित कर दिया गया है कि इन आधारों को स्वीकार कर लेने पर कला-जगत में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।

गणित और तर्क शास्त्र के प्रतीक परम्परित स्वीकृत चिह्न होते हैं; उदाहरणार्थ अंकगणित से कुछ प्रतीक प्रस्तुत हैं–

(१) तीन तरह के कोष्ठ

(२) अंकगणित की क्रियाओं के प्रतीक

(३) डेल्टा प्रतीक अर्थात् अन्तरसूचक प्रतीक

(४) दो बदलते हुए परिणामो के सम्वन्धसूचक प्रतीक

विज्ञान के प्रतीक एक निश्चित चिह्न प्रणाली (Sign system) पर चलते हैं; उदाहरणार्थ रसायनशास्त्र के कुछ प्रतीक देखे जा सकते हैं:–

---

1. It appears as a term in logic, in mathematics, in sematics and semiotics and epistemology, it has also had a long history in the worlds of theology (symbol is synonym for 'creed') for liturgy of the fine arts and of poetry' Rene wellek & Austin warren. 'Theory of Literature' P. 193.

पदार्थ	प्रतीक
१–हाइड्रोजन	H
१–ऑक्सिजन	O
३–नाइट्रोजन	N
४–फासफोरस	P

किन्तु साहित्यिक प्रतीकों के अर्थ के सम्बन्ध में प्रयोक्ता तथा श्रोता या पाठक एकमत नहीं होते क्योंकि इन प्रतीकों में अर्थ की सम्भावनाओं और नमनीयता का पर्याप्त महत्त्व रहता है। वस्तुतः साहित्यिक प्रतीकों में अर्थ स्फीति होती रहती है, क्योंकि ये प्रतीक केवल प्रयोक्ता से ही नहीं अपितु पाठक के भी कल्पना-बोध और उन्नत संवेदन से सापेक्षिक सम्बन्ध रखते हैं।

इसी प्रकार धर्म के प्रतीक भी साहित्यिक प्रतीक से भिन्न होते हैं। धर्म के प्रतीक मनोराग या संवेग से संपृक्त न होकर विश्वास-भावना पर निर्भर रहते हैं, इसी कारण धर्म का कोई प्रतीक तब तक प्रभाव नहीं पैदा करता है जब तक उसके अनुकूल सहृदय अथवा भावक में विश्वास-भावना न हो। वस्तुतः साहित्यिक प्रतीकों में भावुकता की प्रमुखता रहती है और धर्म के प्रतीकों में चिन्तन तत्त्व की। यों धर्म के प्रतीक भी एक स्तर पर आकर कला के प्रतीकों की तरह रमणीय बन जाते हैं। यह तब होता है जब पूजा-भाव सहृदय का स्वभाव सिद्ध गुण बनकर उसके चित्-अस्तित्व का अंश बन जाता है। इस दृष्टि से हिन्दू-धर्म के नाद, विन्दु, ॐ, शिव, प्रणव इत्यादि प्रतीकों का विशेष महत्त्व है; किन्तु धर्म के कुछ प्रतीक ऐसे भी हैं जो सार्वजनीन न होकर संकीर्ण साम्प्रदायिक विश्वास पर निर्भर करते हैं; जैसे गणेश का मूषक विघ्ननाश का प्रतीक है और शिव का त्रिशूल त्रिगुणात्मक शक्ति का। भाव यह है कि धर्म के क्षेत्र में भी वे ही प्रतीक अधिक सफल सिद्ध होते हैं जिनमें साहित्यिक प्रतीकों की तरह भावोद्‌बोधन की क्षमता रहती है। यही वह सामान्य भूमि है जिसके कारण विज्ञान के कुछ प्रतीकों की तरह धर्म के प्रतीक भी साहित्य में ग्रहीत हुए हैं। उपासना जगत् के प्रतीक भी काव्यगत प्रतीकों से भिन्न होते हैं। उपासना के क्षेत्र में उपास्य परब्रह्म के चिह्न, पहचान, अवतार, अंश या प्रतिनिधि के तौर पर आई हुई नाम रूपात्मक वस्तु को प्रतीक कहते हैं। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने प्रतीक शब्द के धात्वर्थ को बतलाते हुए उपासना के क्षेत्र में इसके आशय को बहुत अच्छी तरह व्यंजित किया है "प्रतीक (प्रति+इक) शब्द का धात्वर्थ यह है प्रति=अपनी ओर, इक=झुका हुआ। जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो तब उस भाग को 'प्रतीक' कहते हैं। इस नियम के अनुसार सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के

लिये उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिह्न अंश रूपी विभूति या मार्ग 'प्रतीक' हो सकता है।"[1]

साहित्यिक प्रतीक साहित्यकार की अनुभूति के व्यंजक हुआ करते हैं। इसमें स्थूलता एवं सरलता की अपेक्षा सूक्ष्मता एवं जटिलता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इन प्रतीकों में प्रकाशन और गोपन की क्षमता रहती है। दूसरी बात यह है कि साहित्यिक प्रतीकों का सम्पूर्ण अर्थ निश्चय पूर्वक प्रकट नहीं किया जा सकता है। साहित्य में जिन प्रतीकों का प्रयोग होता है वे प्रायः बदलते रहते हैं। वैसे ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं से आये हुए प्रतीक भी साहित्य में चलते रहते हैं लेकिन उनके अर्थ प्रायः परम्परानुमोदित ही रहते हैं। यह तो निश्चित है कि साहित्य क्षेत्र में आने वाले प्रतीक भी किसी अन्य वस्तु के लिए ही आते हैं, किन्तु उनका अपना अस्तित्व भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। कविता में प्रयुक्त प्रतीक को केवल अभिव्यक्ति का साधनमात्र नहीं समझना चाहिए वरन् उसका मूल्य सौन्दर्यगत तथा आन्तरिक भी होता है।[2]

अस्तु, स्पष्ट है कि तर्क-शास्त्र, गणित, समाज-शास्त्र, विज्ञान; मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र आदि के प्रतीकों की अपेक्षा साहित्यिक प्रतीकों का अस्तित्व अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली होता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रतीक से हमारा अभिप्राय इन्हीं काव्यगत एवं धर्मगत प्रतीकों से है; हिन्दी के सूफी-काव्यों में यदि एक ओर सूफी धर्म एवं हिन्दू धर्म से सम्बन्धित प्रतीकों का प्रयोग हुआ है तो दूसरी ओर अलौकिक प्रेम एवं सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए इन कवियों ने जिन लौकिक प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया है, उनमें साहित्यिक प्रतीकों की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं।

१·० प्रतीक अर्थ, प्रयोग और महत्ता

'प्रतीयते अनेन इति प्रतीकम्' अर्थात् जिससे प्रतीत हो, या किसी वस्तु की अभिव्यक्ति हो वह प्रतीक है। सामान्यतः प्रतीक शब्द का प्रयोग अंग्रेजी, संस्कृत एवं हिन्दी-भाषा में 'चिह्न, 'प्रतिनिधि', 'प्रतिरूप', 'प्रतिमा' आदि अर्थों में उपलब्ध होता है।[3]

---

१. श्रीमद् भगवतगीता-रहस्य, पृ० ४१८, अनु० माधव राव जी सप्रे।

2. 'That is to say, the plurisign, the symbol, is not merely employed but enjoyed, its value is not entirely instrumental but largly aesthetic, intrinsic.' Rene wellek & Austin warren, 'Theory of Literature' P. 330.

3. Symbol—'Mark' sign of some object or idea or process or character taken as the 'conventional, represent by means of. 'The concise oxford Dictionary' P. 1311.

भारतीय साहित्य-शास्त्र में प्रतीक के लिए 'उपलक्षण' शब्द आया है जिसके अनुसार जब कोई नाम या वस्तु इस रूप में व्यवहृत हो कि वह उस गुण में अपने समान अन्य वस्तुओं के गुणों का ज्ञान भी करा दे तो उस शब्द को 'उपलक्षण' कहा जा सकता है । 'एक पदेन तदर्थान्यपदार्थ कथमुपलक्षणम्' संस्कृत-हिन्दी-कोष में 'उपलक्षणम्' शब्द पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है–उपलक्षणम् (उप+लक्ष+ल्युट्) अंकित करना, चिह्न किसी ऐसी बात का ध्वनित होना जो वस्तुतः कही न गयी हो, किसी अतिरिक्त वस्तु की ओर या अन्य किसी समरूप पदार्थ की ओर संकेत जबकि केवल एक का ही उल्लेख किया गया हो ।'[२]

परन्तु आधुनिक साहित्य में प्रतीक जिस भाव को व्यक्त करता है वह पूर्णतः 'उपलक्षण' से गृहीत नहीं है; जिसके मूल में यह कहा जा सकता है कि हमारे अधुनातन साहित्य पर अँग्रेजी-साहित्य का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, अतः प्रतीक भी उस प्रभाव से अछूता नहीं है। प्रतीक का पर्यायवाची शब्द अंग्रेजी में (S mbol) है।

'सिम्बल' (Symbol) शब्द की व्युत्पति ग्रीक-क्रिया (συμβαλλειγ) से हुई है, जिसका अर्थ है, Throwing together, chance encounter conflict, union in tension'.

Symbol—'Token, sign convention, a visible sign of something.' 'Webster's third New International Dictionary' P. 2316.

Symbol-'Mark, token, represents, a material object' representing or taken to represent something immaterial or abstract '-collected by—The Philological society. 'The shorter oxford English Dictionary, Volume II. P. 2108.

प्रतीक–प्रति+कन, निदीर्घ, प्रतिमा

ले० वामन शिवराम आप्टे 'संस्कृत-हिन्दी-कोष' पृ० ६५७

प्रतीक–चिह्न, प्रतिरूप, स्थानापन्न वस्तु, प्रतिमा

सं०–श्री रामचन्द्र वर्मा–'संक्षिप्त हिन्दी-शब्द-सागर' पृ० ८४०

प्रतीक–प्रतिरूप, प्रतिमा

सं०–कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव–वृहत हिन्दी कोष, पृ० ८४६

प्रतीक–चिह्न, प्रतिरूप, स्थानापन्न वस्तु, वह वस्तु जिसमें किसी दूसरी वस्तु का आरोप किया गया हो, प्रतिमा, मूर्ति ।

सं०–बाबू श्यामसुन्दरदास–'हिन्दी-शब्द-कोष, (तीसरा भाग) पृ० २२२८

१. लेखक वामन शिवराम आप्टे–'संस्कृत-हिन्दी-कोष' पृ० २१०

परन्तु ग्रीक-क्रिया का यह भाव 'सिम्बल' (Oδυμβολον) शब्द से व्यंजित नहीं होता है जबकि इसी धातु से उत्पन्न एक अन्य शब्द (ή'Ουμβλή) आज भी चिह्न (Sign or token) आदि के रूप में प्रयुक्त होता है। वस्तुतः प्रतीक वह है[1] जो किसी अन्य वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है अथवा उसकी ओर संकेत करता है जबकि ग्रीक-क्रिया, जिसका अर्थ है–To throw together, to compare संकेत करती है कि संकेत और चिह्न में तुलना का भाव प्रारम्भ से ही वर्तमान था और इनके आधुनिक प्रयोगों में यह भाव आज भी किन्हीं अर्थों में विद्यमान है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि 'सिम्बल' (Symbol) शब्द या उसके पर्याय प्रतीक का अर्थ-विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। 'सिम्बल' में ग्रीक-क्रिया का भाव लुप्त हो गया है और प्रतीक में भी 'उपलक्षण' का अर्थ प्रायः समाप्त सा हो गया है।

प्रयोग

प्रतीक का जीवन के समस्त क्षेत्रों–कला और धर्म, ज्ञान और विज्ञान, समाज और राजनीति, दर्शन और काव्य आदि–में प्रयोग होता है। मूर्तियाँ, देवालय तथा धार्मिक स्थान, उनसे सम्बन्धित वास्तु तथा शिल्प कलाएँ, धर्म-ग्रन्थ, मंत्र-तन्त्र, यज्ञ-योग, पूजा-पाठ आदि उपासना की नाना विधियाँ अपनी सांकेतिकता के कारण प्रतीक ही हैं। धर्म और कला के क्षेत्रों में प्रतीक शब्द का प्रयोग भाषा या अभिव्यक्ति के ऐसे साधनों के लिए होता है जिनका उद्देश्य अर्थ बताने तक ही सीमित न रहकर संकेतात्मक या अन्तर्दृष्टि परक भी होता है।

इसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रतीकों का अपना प्रसार है। प्राचीन काल से ही प्रतीकों के माध्यम से संदेश संप्रेपण का कार्य होता आया है–शिवाजी के गुरू समर्थ रामदास ने आशीर्वाद-रूप में उनके पास थोड़ी सी घोड़े की लीद तथा कतिपय प्रस्तर-खण्ड भेजे थे, जो इस बात के प्रतीक थे कि तुम्हारे घोड़े तथा दुर्ग सुरक्षित रहें, जिससे तुम युद्ध में निरन्तर विजय प्राप्त करते रहो। इसी प्रकार तिब्बती-चीनी सीमा पर जब किसी के पास मुर्गी का कलेजा उसकी चर्बी के तीन टुकड़ों एवं एक मिर्च के साथ लाल कागज में लपेटकर भेजा जाता है तो इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह होता है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

---

1. 'Symbol is 'that of something standing for, representing something else. But the Greek Verb, which means to throw together, to compare, suggest that the idea analogy between sign and signified was origianally present. It still survives in some of the modern uses of the term'.
'Written by Rene wellek & Austin Warren.
'Theory of Literature' P. 188.

राष्ट्रीय-जीवन की दृष्टि से देश में महत्त्वशाली प्रतीकों का प्रयोग समूह की शक्ति को उपयुक्त दिशा में प्रवाहित करने के लिए होता है, राष्ट्रीय झंडा इसका ज्वलंत उदाहरण है। झंडा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का, राजा एकता का और राष्ट्रीय गान राष्ट्र के सामाजिक भाव तथा संस्कृति का प्रतीक है। प्रत्यक्षत: तो राष्ट्रीय-झण्डा केवल वस्त्र मात्र होता है पर अप्रत्यक्ष रूप से इसकी महत्ता अति गूढ़ है। इसका प्रतीकात्मक मूल्य आँकना सहज नहीं। यह गूढ़ भावात्मक शक्ति जो व्यक्तिगत नहीं परन्तु मानव की धरोहर है, का प्रतीक है। राष्ट्र के प्रतीकों में राष्ट्र का जीवन, गान, उत्सव आदि निहित होते हैं। इनसे राजनैतिक आदर्शों, सामाजिक संस्थाओं के नैतिक आदर्शों एवं विभिन्न रंगों और छाया के भावों का दिग्दर्शन होता है। प्रत्येक प्रतीक अपने युग की संस्कृति को व्यंजित करता है। झण्डे से अज्ञात मन की स्वतन्त्र क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है; उदाहरणार्थ भारतीय राष्ट्रीय झण्डे का गेरुआ रंग 'प्रेम और त्याग' का प्रतीक है और हरा रंग 'कृषि' का, पीत रंग सदैव से 'अध्यात्म' का प्रतीक माना गया हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय झण्डे के ये रंग भारत की अध्यात्मप्रियता एवं धर्मप्रियता के प्रतीक हैं।

इसी प्रकार टिकट, मुद्रा, सिक्के एवं ध्वजा विशेष सरकारों के, पंख हवाई सेना के सैनिकों के तथा ट्रेड-मार्क व्यापारिक कम्पनियों के प्रतीक होते हैं। गणित के अंक गुर, विज्ञान सम्बन्धी फारमूले आदि अन्ततः प्रतीक हैं।

केवल धर्म, कला, दर्शन, राजनीति आदि क्षेत्रों में ही प्रतीक का प्रसार नहीं हैं अपितु मानव-अनुभूतियों को व्यंजित करने के लिए भी इसका प्रयोग होता हैं। हमारे अभ्यन्तर की उथल-पुथल बाह्य-जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया में नित्यप्रति संकेतों से प्रस्फुटित होती रहती है। पीड़ा में आह-कराह, सुख में हास-पुलक, जुगुप्सा में नाक-भौं सिकोड़ना, क्रोध में आँखों की रक्तिमता, भय में मुखाकृति की पीतवर्णता आदि गति-प्रगति हमारे भीतर की विशिष्ट अनुभूति की ओर संकेत करती है। 'वस्तुत: प्रतीक के ही सहारे मनुष्य ज्ञात अथवा अज्ञात अवस्था में जीवित रहता है, काम करता है तथा अपने अस्तित्व को बनाए रखता हैं।'[1] अत: स्पष्ट है कि हमारे जीवन की समस्त क्रिया-प्रक्रिया ही प्रतीकात्मक हैं।

जिस प्रकार हमारा भौतिक-जीवन अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का आश्रय चाहता हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक अस्तित्व भी प्रतीकों की अपेक्षा रखता हैं। ज्यों-ज्यों हम स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होते हैं, प्रतीक की अनिवार्यता भी उतनी ही अधिक प्रतीत होती हैं। अन्तर्मुखी यौगिक एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों

1. Symbolic movement in Literature (Introduction) Arther symon, quoted by डा० चन्द्रकला—'प्रतीक तथा प्रतीकवाद, पृ० 3

की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीक व्यवहृत होते हैं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शब्दों में "प्रतीकों का प्रयोग आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण...... अर्थ को जान-बूझकर छिपाने के लिये भी हुआ करता है, जिससे आध्यात्मिक मार्ग के रहस्यों का पता अयोग्य व्यक्तियों को न लगने पावे, अथवा यदि बाइबिल के शब्दों में कहा जाय, तो 'मोती के दाने सुअरों के आगे न बिखेर दिये जायें।[1]

वस्तुतः आध्यात्मिकता प्रतीकाश्रित है। उस परम शक्ति को हम उसके लिये प्रयुक्त प्रतीकों द्वारा ही सुगम बना पाते हैं। परोक्ष अनिर्वचनीय और निर्गुण है। सभी धर्मों और संस्कृतियों में उसकी उपासना के लिये प्रतीकों का प्रयोग होता है; यथा—हमारे यहाँ सगुण मूर्तियाँ निर्गुण परोक्ष सत्ता की प्रतीक हैं। काला गोल पत्थर (सालिग्राम की बटिया) शून्य निरंजन ब्रह्म का प्रतीक माना गया है। सभी धर्म एवं जाति के लोग उस प्रकाश सिन्धु तक पहुँचना चाहते हैं, पर पथ उनके अलग-अलग हैं। प्रत्येक पथ अपने विशिष्ट प्रतीकों द्वारा उस तक पहुँचने का प्रयास करता है। कोई प्रकृति की व्यापक सता को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उसके प्रति अपनी आत्मीयता स्थापित करता है तो कोई अपनी भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान कर उसके प्रति अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रतिमा प्रतिष्ठा मनुष्य की ईर्सा प्रवृत्ति का प्रतीक है। रहस्यमार्गी आध्यात्मिक अनुभूति की उपलब्धि कर उसे प्रतीकों के माध्यम से जनता के सम्मुख प्रस्तुत करता है। संत बरनार्ड के मतानुसार 'जब साधक के हृदय-देश में ईश्वर की भेजी हुई ज्योति की किरण झलक की तरह क्षणमात्र के लिये आ जाती है तब या तो उस परमतेज की चकाचौंध को कम करने के लिये अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक कुछ पहुँचने योग्य बनाने के लिये उस प्रेषित ज्ञान या तथ्य को व्यंजित करने के उपयुक्त पार्थिव-जगत का कुछ अनूठा रूप-विधान (रूपक) सामने आ जाता है। सूफियों में इसी परम्परा का निर्वाह शराब, प्याले आदि के रूप में मिलता है जो एक प्रकार के प्रतीक से हो गये हैं। निर्गुण-पंथ की बानियों में विशेषतः कबीरदास की बानी में—जो वेदान्त आदि की बातों को लेकर पहेली के ढंग के रूपक बाँधने की प्रवृत्ति पायी जाती है, वह भी इसी रूढ़ि का निर्वाह है। 'ब्लेक' ने जो ईश्वर का दिव्य साक्षात्कार बताया है उसका भी यही साम्प्रदायिक मूल है।"[2]

साहित्य-क्षेत्र में तो प्रतीक का पूर्णतया राज्य ही है क्योंकि प्रतीकों में व्यंजना की अपूर्व शक्ति रहती है और व्यंजना-शक्ति काव्य की प्रमुख शक्ति मानी गयी है। काव्य में प्रतीकों का प्रयोग एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है। पं०

१-अनु० श्रीपरशुराम चतुर्वेदी—'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० ४०९.
२-ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल —'सूरदास' पृ० ६२-६३.

रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य-भाषा की चार मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है, उनमें से एक विशेषता का प्रतीक से सीधा सम्बन्ध है। उनका कथन है—'भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता में दूसरी विशेषता यह है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप व्यापार सूचक शब्द अधिक रहते हैं'[1] इस विशेषता से स्पष्ट संकेत मिलता है कि भावना को मूर्त रूप देने के लिये प्रतीकों का आश्रय लिया जाता है; यही प्रतीकों के प्रयोग का मुख्य प्रयोजन है। साहित्य–जगत् में कविता की तरह गद्य-काव्य और गल्प में भी प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया जाता है; उदाहरणार्थ जैनेन्द्र जी की 'जान्हवी' 'शीर्षक' कहानी में कौवे को रोटी के टूकड़े खिलाना उत्सर्ग-भाव और आत्मपीड़न का प्रतीकात्मक प्रेषण है।इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद जी की 'स्वर्ग के खंडहर में' शीर्षक कहानी भी प्रतीकात्मक है। विशेषकर शेख और सेनापति विक्रम के समक्ष प्रस्तुत की गयी मीना की उक्तियाँ तो बहुत ही प्रतीक अभिज्ञेय और अर्थगर्भयुक्त हैं जिन्होंने कहानी के दर्शन की रीढ़ का काम किया है; जैसे-मैं एक भटकी हुई वुलबुल हूँ। मुझे टूटी डाल पर अन्धकार बिता लेने दो। इस रजनी-विश्राम का मूल्य अन्तिम तान सुना कर जाऊँगी' इसमें प्रयुक्त बुलबुल, रजनी–विश्राम, टूटी-डाल इत्यादि शब्द अति प्रतीकात्मक हैं; इन सभी प्रतीकों के माध्यम से प्रसाद जी ने कहानी में रहस्यवादी कवियों की तरह एक परमार्थिक सत्य को व्यंजित किया है।

प्रसाद जी की उक्त कहानी अथवा 'बिसाती' शीर्षक कहानी के अन्त में प्रयुक्त 'फ़ल' और 'बुलबुल' की तरह आस्कर वाइल्ड की 'बुलबुल और गुलाब' शीर्षक कहानी भी प्रतीकात्मक है-बुलबुल 'कलाकार' का प्रतीक है और गुलाब 'कलाकृति' का; लड़की कला के महत्व को न समझने वाले 'पाठक' का और युवक 'कला में उपयोगिता ढूढ़ने वाले आलोचक' का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त साहित्य में कुतूहल और विस्मय उत्पन्न करने तथा गोपनीय वस्तुओं को दूसरों से गुप्त रखने के निमित्त भी प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। 'डा० रामकुमार वर्मा'[2] ने साहित्य-क्षेत्र में प्रतीकों का प्रयोग निम्नांकित६ बातों के लिये माना है—

१—सौन्दर्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये।

२-किसी भाव को छिपाकर चमत्कार उत्पन्न करने के लिये।

३—दार्शनिक भावधारा की अभिव्यक्ति के निमित्त।

४—रहस्यात्मक अनुभूति की परस्पर विरोधी [उलटवासियों के] रूप में

१—आ० रामचन्द्र शुक्ल 'चिन्तामणि' [कविता क्या है ?] प्रथम भाग पृ० १७६.

२—धीरेन्द्र वर्मा-'हिन्दी—साहित्य में प्रतीक—योजना 'विशेपांक, हिन्दी अनुशीलन, पृ० ३८८.

अभिव्यक्ति के अवसर पर।

५–कवि-सत्य को आदर्श रूप देने के लिये, तथा

६–मनोवैज्ञानिक भावना के क्षेत्र–विस्तार के लिये।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि आदिकाल से ही प्रतीकों का प्रयोग भौतिक, आध्यात्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में होता आया है; वस्तुतः मानव-जीवन का सम्पूर्ण यन्त्र ही अपनी गति के लिये प्रतीकों पर आश्रित रहता है।[1]

महत्ता

ऊपर बताया जा चुका है कि मानव-जीवन का कोई भी कोना प्रतीकों से अछूता नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर उसका पूर्ण साम्राज्य है। प्रतीकों की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि उनके उपयोग से उन बातों की अभिव्यंजना भी पूर्णतः हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी असमर्थ अथवा मूक होती है। जो भाव लेखक अनेक पृष्ठ रंगकर भी स्पष्ट नहीं कर पाता उसी भाव को वह प्रतीकों के माध्यम से एक-दो पंक्तियों में ही अभिव्यक्त कर देता है। प्रतीक किसी भाव को कम से कम शब्दों में प्रकट कर देते हैं। ये विचारों को मूर्त रूप प्रदान करते हैं अन्यथा सम्भवतः ये विचार अव्यक्त ही रह जाते।[2] वस्तुतः प्रतीकों का वास्तविक महत्त्व उनके द्वारा प्राप्त होने वाले अर्थसंकेत में है। प्रतीक द्वारा अनेक प्रकार के भावों का एक साथ प्रत्यक्षीकरण होता है; उदाहरणार्थ-प्रतीक द्वारा गृहीत चातक प्रिय के प्रति प्रेमी की अनन्यनिष्ठा, प्रिय की रुष्टता पर भी उससे एकान्त प्रेम, प्रिय के वियोग में नाना सुख-सामग्रियों पर भी दृष्टिपात न करना, मृत्यु के पश्चात् भी प्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की चाहना न रहना आदि अनेक भाव और विचार सामने आ प्रस्तुत होते हैं।

भाषा की दृष्टि से प्रतीकों की अपनी महत्ता है। भाषा अपने आप में प्रतीक ही है।[3] उसके [भाषा के] भाषित और लिखित दोनों ही रूप [अपनी ध्वनि और लिपि के रूप में] प्रतीक ही तो हैं। भाषा वैज्ञानिकों का मत है कि भाषा

१–अनु० श्री परशुराम चतुर्वेदी-'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' पृ० ३७७.

2--They (Symbols) save much explanation and they give a concrecte form to ideas that would otherwise be dim.
C.M. Bawra--'Heritage of symbolism' P. 212.

3--Language, itself is symbol'—' Trends in Literature, P. 150.

4--'Language. written or spoken is such a symbolism······The word is a symbol and its meaning is constituted by the ideas images and emotions, which it raises in the mind of the hearer. Alfred North Whitehead-'Symbolism, its meaning and effect.'—P. 62.

का आदि रूप प्रतीकात्मक ही था ।[१] उस समय इन प्रतीकों के माध्यम से ही हमारे अनेक मनोभावों एवं इच्छाओं की अभिव्यक्ति हुआ करती थी । प्रत्येक आधुनिक भाषा उन्हीं आदिम प्रतीकों का विकसित रूप है । प्रारम्भ में शब्द-ध्वनियाँ बाह्य पदार्थों की निश्चित संकेतात्मक प्रतीक ही रही होंगी किन्तु यथार्थ मानव-जीवन एवं बुद्धि की विस्तृति के साथ ही देशकाल एवं विशेष परिस्थतियों के अनुसार उनकी चिन्तनात्मक अर्थ-भूमियाँ भी विस्तृत होती गयीं ।

प्रतीकों की सर्वप्रमुख महत्ता यह है कि जहाँ काव्य के अन्य उपकरण केवल काव्य तक ही सीमित रहते हैं वहाँ प्रतीक काव्य के अतिरक्त अन्य ललित कलाओं चित्र, मूर्ति, स्थापत्य एवं संगीत पर भी अपना अधिकार रखता है, उदाहरणार्थ-चित्र-कला के मुख्य उपादानभूत रंगों को ही लिया जा सकता है, भारतीय दृष्टि से उनका चयन ही अपना पृथक-पृथक महत्त्व रखता है । काला अथवा नीला रंग अमांगलिकता एवं पापरूपता का, श्वेत रंग सात्विकता का तथा लाल रंग श्रृंगारिकता का प्रतीक माना जाता है । संस्कृत का 'राग' शब्द स्वयं अपने क्रोड़ में केवल चित्रकला को ही नहीं बल्कि भावजगत को भी समेटे हुए है । अनेकानेक चित्रकारों और साहित्यकारों ने उसी राग की कुसुम्भमंजिष्ठ आदि अवान्तर छायाएँ अपने चित्रों और काव्य-रचनाओं में अच्छी तरह संजोकर रखी हैं जो कि व्यंग्यपूर्ण रहती हैं । रंगों के अतिरिक्त प्रभाकर माचवे के शब्दों में 'पश्चिम में चित्रकला, शिल्प या स्थापत्य कला में फूल-पत्ती पशु-पक्षी, त्रिकोण, चतुर्भुज आदि आकार केवल अलंकरण की भांति प्रयुक्त होते हैं, परन्तु पूर्व में केवल अलंकरण नहीं है बल्कि इनके पीछे कोई ध्वनि है, संकेत है, प्रतीक है, अर्थ है । प्रतीक समझे विना जब तक गूढ़अर्थ समझ में न आये तब तक इन्हें निरे अलंकरणों के रूप में ग्रहण करना अन्याय है ।[२] उदाहरणार्थ-हमारे यहाँ चकवा-चकवी का जोड़ा अथवा सारस-मिथुन अनन्य दाम्पत्य-प्रेम निष्ठा का प्रतीक है ।[३] इसके लिये कहीं-कही बतख जोड़ी अंकित करते हैं । संस्कृत-कविता-कामिनी के विलास कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' शीर्षक नाटक में दुष्यन्त द्वारा शाकुन्तलम् के चित्र में हंस-मिथुन का जो चित्र

१—"......और साथ ही ऐसे भी अनेक शब्द बनते थे, जो किसी क्रिया अथवा घटना के संकेत अथवा प्रतीक थे ।'
डॉ० श्यामसुन्दर दास-'भाषा-विज्ञान' (स्वीट का समन्वितवाद) पृ० ३३

२—'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' २१ अगस्त, १९५५ में प्रकासित-'प्रतीक-योजना लेख ।

३—'अथर्ववेद' में दम्पति की चक्रवाक और चक्रवाकी से यों तुलना की गयी है -'इहेमामिन्द्र संनुद चक्रवाकेवदम्पत्ती' (१४।२।६४)

अंकित करवाया है उसका भी यही कारण है।[1] इसी प्रकार राजमहलों, मंदिरों एवं घरों की बाहरी भित्ति पर चित्रित शंख, पद्म, अष्टदल कमल, मत्स्य आदि मांगलिकता के प्रतीक हैं। स्थापत्यगत इस प्रतीकात्मक चित्रण में भाव-व्यंजकता और ध्वन्यात्मकता की छाप रहती है। मार्क शगल के प्रसिद्ध चित्र 'द ग्रीन आइ' में एक आम की फांक जैसे बड़े किन्तु स्थिर और ज्योतिर्मय नयन का जो चित्रण हुआ है वह सृष्टिप्रसर ब्रह्म की उस व्यापक चिद्शक्ति का प्रतीक है जो विवेकशक्ति की तरह सजग रहकर इस जगत के क्रिया-कलापों के शुभाशुभ का सचेत और शान्त निरीक्षण करती रहती है, इस प्रकार ब्रह्म की जिस विवेकशीला चिद्शक्ति की व्यंजना एक लेखक अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियों द्वारा भी करने में सफल नहीं हो पाता, उसे मार्कशगल ने एक अपलक, स्थिर और ज्योतिष्क नेत्र के प्रतीक से अभिव्यंजित कर दिया है। वर्तमान समाचार पत्र-जगत में यह चित्रात्मक प्रतीक कार्टूनों, व्यंग्य चित्रों के रूप में अति लोकप्रिय बना हुआ है। इसमें पंचतन्त्र की जन्तुकथाओं की भाँति प्राय: जीव-जन्तुओं के प्रतीकात्मक रेखा-चित्रों द्वारा किसी राष्ट्र या राष्ट्रनेता के क्रिया-कलापों और उसके जीवन के नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि समस्त पहलुओं पर अतिचुभता-चोखा व्यंग्य किया जाता है। इन चित्रगत प्रतीकों में भावों की इतनी समाहार शक्ति रहती है कि जिस भाव को व्यक्त करने के लिए समाचार पत्र के सम्पादक को कितने ही सम्पादकीय लेख लिखने पड़ते, उसे निपुण व्यंग्य-चित्रकार अपने छोटे-से-छोटे रेखा-चित्र से ही स्पष्ट कर देता है।

चित्रकला की भाँति संगीतकला पर भी प्रतीक की छाप है। उसके मुख्य तत्त्व स्वरों और ध्वनियों के सम्बन्ध में भी भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में स्पष्ट निर्देश कर रखा है कि किस तरह करुणा, निर्वेद आदि भावनाओं की अभिव्यंजना के लिये स्वरों की सरगम व्यवस्था रखनी होती है। स्वयं राग-रागनियों की आरम्भिक ध्वनियाँ ही करुणादि भावों की ओर संकेत कर देती हैं। जिस प्रकार काव्य में हम शब्दों से प्रतीक-सृष्टि करते हैं उसी प्रकार संगीत में 'टोन' (Tone) के द्वारा प्रतीकात्मक प्रपण किया जाता है। संगीतदर्शन के विश्लेषणकर्ताओं का यह मत है कि संगीत के 'टो' में उसी प्रकार निश्चित अर्थवत्ता रहती है जिस प्रकार काव्य-कला के शब्दों में, क्योंकि संगीत भी एक प्रकार से भावों की भाषा है; अतः अनेक विचारकों ने 'टोन' को संगीत का 'गत्वर' प्रतीक (dynamic symbol) कहा है।[2] सवाक् चित्रपट कला में तो अब संगीत को कथानक की प्रस्तुत घटना के साथ

१—टी०—श्री गुरुप्रसाद शास्त्री— 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पृ० ३२१, (६।२०)

2—Victor Zuckerkandl sound and symbol, Translated from the German by--Willard R. Trask, P. 66, 69.

प्रतीकमुखेन जोड़कर व्यंग्यरूप से ही उसे अभिव्यक्त करने की प्रथा प्रचलित हो गयी है। 'चल उड़ जा रे पंछी, अब यह देश हुआ बेगाना' आदि चित्रपट के प्रतीक गीत जन-मुख में गूँजते हुए सर्वत्र सुनाई देते हैं। स्पष्ट है कि प्रतीक केवल काव्य में ही नहीं अपितु समस्त ललित-कलाओं में व्याप्त है। इसीलिये क्रोचे का अभिव्यंजनावाद केवल काव्य-कला को ही नहीं प्रत्युत समस्त ललित-कलाओं को अपने क्रोड़ में लिए हुये है।

समग्र रूप में, कहा जा सकता है कि मानव-जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही पक्ष प्रतीकाश्रित हैं। प्रतीक गागर में सागर की स्थिति का स्वतः प्रतीक है। प्रतीक कवि के अभीप्सितार्थ को प्रांजलतापूर्वक व्यक्त करते हैं और इसी कारण काव्य की शिल्प-योजना में उनका निजी महत्त्व होता है। निस्संदेह समस्त साहित्य प्रतीकों के द्वारा ही पल्लवित, सुगंधित और सुसज्जित होता है।

१.१ प्रतीक–निर्माण की प्रक्रिया और इसके आधार–मानसिक आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और प्राकृतिक

इस मूर्त भौतिक संसार में मनुष्य अपनी इन्द्रियों के माध्यम से जो अनुभव करता है, उन अनुभवगत पदार्थों और क्रियाओं को वह जब तक नाम नहीं देता तब तक उसे विचार-क्रिया के लिये आधारभूत सामग्री ही प्राप्त नहीं होती; तुलसीदास जी के शब्दों में "देखिअहिं रूप नाम अधीना, रूप ग्यान नहिं नाम विहीना"।[१]

अर्थात रूप नाम के आधीन होता है। नाम के बिना रूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। यह रूप का ज्ञान सूक्ष्म चिन्तन नहीं है वरन् वह गोचर आधार है जिससे सूक्ष्म चिन्तन सम्भव होता है। हमारी इन्द्रियाँ पहले किसी पदार्थ या वस्तु का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर उसे हमारे मानस-पटल तक पहुँचा देती हैं और फिर मस्तिष्क उसका एक न्यूनाधिक परिचित चित्र अपने ढ़ंग से निर्मित कर लेता है। इस प्रकार इन्द्रियों द्वारा अर्जित अनूभूति हमारे मानस–पटल पर अंकित हो जाती है और हम इस अनुभूति को व्यक्त करने का माध्यम खोजने लगते हैं। माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया दूरदर्शक अथवा अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा 'फोकस' करने के समान है। शिल्पी के मन में एक ऐसा चित्र होता है जिसे वह स्फटिक में प्रत्यक्ष कर अमर कर देना चाहता है। छेनी हथौड़ी से वह प्रस्तर खंड को काट-छाँट कर तराशता है। ऊपर से देखने पर लगेगा कि हथौड़ों के प्रहार में कोई संगति नहीं है, पर वस्तुतः शिल्पी की आँखे उस मूर्ति पर लगी रहती हैं जो प्रस्तर-खंड के केन्द्र में विराजमान है और जिस तक पहुँचने के लिए वह प्रयत्नशील है। जैसे-जैसे वह केन्द्र के पास आता जाता है वैसे-वैसे उसकी तराश सूक्ष्म होती जाती है। हथौड़े का अन्तिम प्रहार शिल्पी के लिए आत्मोपलब्धि का क्रान्तिकारी क्षण है क्योंकि इसी समय वह अपनी

१—रामचरित मानस पृष्ठ ४८

मानसी सृष्टि से साक्षात्कार करता है।

जिस प्रकार शिल्पी स्फटिक एवं छेनी हथौड़ी के माध्यम से अपनी कल्पना को साकार रूप देता है उसी प्रकार साहित्यकार भी अपने अनुभूतिजन्य चित्रों को भाषा के माध्यम से अभिव्यंजित करता है, परन्तु बहुत से विषय ऐसे भी हैं जो प्रत्यक्षतः इन्द्रियगम्य नहीं हुआ करते, किन्तु जिनकी कल्पना हम बहुधा अपने तर्क विश्वास अथवा अनुमान द्वारा कर लिया करते हैं। ऐसे विषय की अनुभूति को भाषा व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है क्योंकि भाषा सदैव अनुभूति के सामान्य धरातल पर चलती है और इसी से साहित्यकार के लिए अपने असाधारण स्वप्न को वाणी देना कठिन हो जाता है। कवि की भावमय अन्तरानुभूतियाँ या तो सामान्य धरातल पर इतनी उतर आयें कि सामान्य भाषा में उसका प्रकाशन हो सके, या कवि शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग कुछ इस प्रकार से करे कि उनके द्वारा उसकी अनुभूति अभिव्यंजित हो सके। कवि धारणातीत को धारणा में बाँधना चाहता है, वह अनभिव्यक्त को सामान्य भाषा की निश्चित रूप-रेखा में अभिव्यक्त करना चाहता है, ऐसे विषयों के वर्णन में जब भाषा की अभिधाशक्ति कुंठित हो जाया करती है, तब उसे भाषा की लक्षणात्मक और व्यंजनात्मक शक्तियों का या प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है।

आध्यात्मिक

वैसे तो अपने मूल रूप में प्रत्येक शब्द ही प्रतीक है, किन्तु प्रयोग और प्रचलन की दृष्टि से सामान्य शब्द और प्रतीक में अन्तर है। सामान्य शब्द केवल सामान्य भाव की ही अभिव्यक्ति करते हैं जब कि प्रतीक सामान्य अर्थ का परित्याग कर अपने अर्थ विशेष को सुरक्षित रखता है। वस्तुतः प्रतीकों का प्रयोग गुह्यता के क्षेत्र में अधिक होता है। प्रतीक-प्रयोग की सबसे अधिक आवश्यकता दार्शनिक और आध्यात्मिक जगत् में पड़ती है। अलौकिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करने में जब भाषा पंगु और अशक्त सी होकर मौन धारण करने लगती है तब प्रतीक ही इन अनुभूतियों की अभिव्यंजना करने में सहायक सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि रहस्यवादी कवियों ने अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का विपुल प्रयोग किया है।

धार्मिक

चूँकि कतिपय प्रतीक भावना प्रधान होते हैं और भावना का आधार या सर्जनकर्ता बुद्धि है। बुद्धि संस्कार से बनती है। संस्कार कर्म के अनुसार बनता है। कर्म आचरण से बनता है और आचरण धर्म से बनता है, अतः जुंग ने धर्म को अन्तःप्रेरित भावना माना है। यहाँ पर धर्म का अर्थ ईश्वर में विश्वास मात्र से है। लूबा ने इसे अन्तःप्रेरित भावना मानते हुए बताया है कि अनुभव तथा जानकारी से

आन्तरिक प्रेरणा की नींव पर धार्मिक भावना का क्रमशः विकास होता है।[१] विचार करने पर हम देखते हैं कि इन दोनों ही विद्वानों ने अपने कथनों में यह बताने का प्रयास किया है कि अन्तरात्मा या आन्तरिक प्रेरणा ही वह मुख्य वस्तु है जिससे धर्म की भावना पैदा होती है। जो व्यक्ति इस धर्म की भावना को प्राप्त करने में सफल हो जाता है, वह इसे दूसरों तक प्रेषित करने के लिए धार्मिक प्रतीक (मूर्ति आदि) की रचना करता है जिसे शंकराचार्य ने 'प्रतीकोपासना' कहा है। अन्तर्ज्ञान की उपलब्धि के लिए चित्त की एकाग्रता अपरिहार्य है। चित्त की इस एकाग्रता में सहायता देने के लिए प्राचीन काल में ऐसे धार्मिक प्रतीक बने होंगे, जिनमें मूर्तियाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही होंगी। कथाओं में ऐसी किंवदन्तियाँ पायी जाती हैं कि शिव-लिंग का पूजन करने से शंकर भगवान के दर्शन प्राप्त होते हैं। शंकर भगवान लिंग के रूप में नहीं अपने रूप में प्रकट हुए। अस्तु, शिव का बोध कराने वाला लिंग न तो स्वयं शंकर है और न शंकर की मूर्ति ही है, वल्कि शंकर का प्रतीक है। अतः कहा जा सकता है कि सगुण मूर्तियाँ परोक्ष निर्गुण ब्रह्मसत्ता की प्रतीक हैं।

यों तो सभी देशों में धार्मिक प्रतीकों का कुछ-न-कुछ महत्त्व रहता ही है, किन्तु भारत जैसे धर्म प्रधान देशों में उन्हें विशेष महत्त्व प्राप्त है। धर्म अनेकानेक प्रतीकों को मान्यता देकर उनको प्रामाणिक प्रशस्ति प्रदान करता है। भारतीय धर्म ने ऐसे अनेक प्रतीक संचित कर रखे हैं जो प्रशस्ति के इस सिंहासन पर प्रतिष्ठित हैं; उदाहरणार्थ पुराणों में प्रतीकों के आश्रय से अनेक कथाओं का गुम्फन किया गया है। षडानन, काली, गजानन आदि अनेक नामों में प्रतीकोद्भास है। इन नामों के साथ जो कथाएँ गुम्फित हुई हैं उनमें धार्मिकता, श्रद्धा, कल्पना आदि अनेक उच्च भावों को संपुटित किया गया है।

सामाजिक

सामाजिक दृष्टि से प्रतीकों का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है क्योंकि प्रतीक भाषा का निर्माण समाज के क्रोड़ में हुआ है, जब से मनुष्य को सम्भाषण की आवश्यकता हुई तब से प्रतीक भाषा का भी अस्तित्व है। भाषा प्रधानतः एक सामाजिक तथ्य है तथा सामाजिक सम्पर्क का फल है। समाजों को मिलाये रखने वाले सबसे अधिक दृढ़ सम्बन्धों में से भाषा भी एक है और उसकी प्रगति सामाजिक समुदाय के अस्तित्व पर निर्भर है मनुष्यों के मध्य सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए भाषा ही सर्वोत्कृष्ट साधन है।

समाज के विघटन को रोकने में भाषा का प्रमुख हाथ है। भाषा समाज को एक सूत्र में बाँधे रखने का महान् कार्य करती है। समाज केवल व्यक्तियों का समूह

१. श्री परिपूर्णानन्द वर्मा—'प्रतीक—शास्त्र, पृष्ठ ३०।

न होकर एक प्रकार की एकता को व्यक्त करता है; और इस एकता की अभिव्यक्ति के लिए आज से हजारों वर्ष पूर्व सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य ने प्रतीकों को ही अभिव्यंजना का साधन बनाया था। सभ्यता के इतिहास में हमें जो चित्र और भाव आदि लिपियों का विवरण मिलता है वे एक प्रकार से प्रतीकों का ही समृद्ध रूप थीं। आज हमारे पास पौराणिक गाथाओं का जो कोश सुरक्षित है वह आदिम युग के मनुष्यों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों का ही उदाहरण सामने रखता है।

समाज में प्रचलित ऐसे कतिपय शब्द है जो स्थायी तथा सर्व व्यापक सामाजिक प्रतीक बन गए हैं; यथा–जिसके गर्भ से जन्म हुआ है; अथवा जो जन्म देने वाली के समान ममता रखती हैं उसका प्रतीक शब्द है 'माता'। अब माता सर्व व्यापक तथा स्थायी प्रतीक बन गया है। माता शब्द का अर्थ जिसे भी ज्ञात है उसके लिये वह समूची ममता, दया, मातृ-शक्ति आदि का सम्मिलित प्रतीक बन गया है।

राजनैतिक

प्रतीक निर्माण की प्रक्रिया में राजनीति का भी महत्वपूर्ण योगदान है। आज के समाचार-पत्रों में चित्र-प्रतीकों के माध्यम से राजनीतिज्ञों पर जो व्यंग्य किये जा रहे हैं वे अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि लेखक या सम्पादक राजनीतिज्ञों के क्रिया-कलापों पर जो व्यंग्य करना चाहता हैं उस व्यंग्य की अभिव्यक्ति वह अनेकों लेख लिख कर भी करने में सफल नहीं हो पाता; किन्तु इन प्रतीकात्मक चित्रों का आश्रय लेकर वह अपने उन व्यंग्यात्मक भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण सफलता पा लेता है।

प्रत्येक राष्ट्र अपने देश की प्रतिष्ठा एवं स्वतन्त्रता की अभिव्यंजना के लिये 'ध्वज' को प्रतीक रूप में अपनाता है। इसी कारण 'ध्वज' को केवल वस्त्र खण्ड न माना जाकर श्रद्धा और गौरव का अधिकारी माना गया है। क्रास ईसा के त्याग और बलिदान की अमर कहानी का प्रतीक है। स्विट्जरलैण्ड के छोटे-छोटे राज्यों का जब संघ बना, नवीन स्विट्जरलैण्ड की रचना हुई, उसने क्रास के प्राचीन प्रतीक को अपने झण्डे पर अंकित कर ईसा के त्याग, बलिदान और साहस की प्राचीन गाथा को प्रत्येक नागरिक के मनःपटल पर अंकित कर दिया। मित्र राष्ट्र संघ के ध्वज पर विश्व का गोल मानचित्र अंकित है, यह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का प्रतीक है।

राजनैतिक गुटों या संगठनों, राज्य, देश, जनता के विशिष्ट वर्ग आदि में प्रतीकों के माध्यम से ही संदेशों का आदान प्रदान होता है; अन्यथा उनके दुश्मन सामान्य भाषा में प्रेषित संदेशों से नाजायज फायदा उठाने का प्रयास करें। राजनैतिक प्रतीकों द्वारा किसी विशेष समुदाय क्षेत्र, घटना या आचरण की जानकारी

मिलती है; जैसे भारतीय कहने से भारत के रहने वालों की बहुत सी बातें एक साथ साने आ जाती है। इसी प्रकार 'अशोक चक्र' कहने से भारतीय धर्म, भारतीय इतिहास, उसका नैतिक आधार, उसकी परम्परा, उसका लक्ष्य सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। यह चक्र जो संदेश दे रहा है उसे अन्य राजनैतिक वर्ग ग्रहण करें या न करें पर अपना संदेश तो वह सुनाएगा ही। भारत के राष्ट्रीय झण्डे पर 'अशोक चक्र' अंकित देखकर जिसे भी उसका अर्थ जानने का कौतूहल होगा उसे अनायास हमारे उस संदेश को ग्रहण करना पड़ेगा।

झण्डे पर बने हुए प्रतीक हमारी आंकाक्षाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। पाकिस्तान का मुस्लिम प्रतीकी झण्डा देख कर हिन्दू भयभीत हो जाता है और वह यह सोचने के लिये विवश हो जाता है कि वहाँ पर उसके लिये कोई स्थान नहीं है जबकि भारत के तिरंगे झण्डे को अवलोक कर प्रत्येक धर्म तथा विचार का व्यक्ति यह सोच सकता है कि उसके नीचे उसे शरण अवश्य मिलेगी, बराबर का अधिकार मिलेगा।

कभी-कभी धर्म तथा राजनीति के क्षेत्र में कतिपय ऐसे प्रतीकों का भी उद्भव हो जाता है जो युद्ध के निमित्त वन जाते हैं। यूरोप के इतिहास में धार्मिक तथा राजनैतिक प्रतीकों के मध्य हुए युद्ध की कहानी अति करुण भावनाओं से ओत-प्रोत है। सैकड़ों साल तक धर्मगुरु तथा राजा प्रभुता के लिए संघर्ष निरत रहे। लाखों व्यक्ति वीरगति को प्राप्त हुए। घोर अशान्ति छायी रही। राष्ट्र दो प्रतीकों के बीच पिसता रहा—धर्म प्रतीक (पोप का झण्डा) तथा राष्ट्र प्रतीक। अन्त में राज्यसत्ता ने धर्मसत्ता पर विजय प्राप्त की; राज्य की पताका ऊँची उठी। एक बार राज्य की महत्ता एवं दृढ़ता स्थापित होने के बाद राज्य में झण्डे की गुरुता बढ़ी। बिस्मार्क ने जर्मनी की बिखरी शक्तियों को एक में मिला दिया। गैरिवाल्डी तथा मेजिनी ने इटली को एकछत्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। अस्तु, कहा जा सकता है कि राजनैतिक प्रतीक का मानव के उत्थान एवं पतन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रतीक की महत्ता न समझना गहरी भूल होगी।

प्राकृतिक

जिस प्रकार सूर्य-किरणों के स्पर्श से कमल खिल उठता है अथवा चन्द्र किरणों के सम्पर्क से कुमुदिनी प्रस्फुटित हो जाती है, उसी प्रकार प्राकृतिक वातावरण से कवि हृदय उद्वेलित हो उठता है। मनुष्य व्यक्त प्रकृति के अनेक पदार्थों और दृश्यों के सम्पर्क में आता रहता है, जिनके संस्कार उसके मस्तिष्क पर सतत् बनते रहते हैं। इन संस्कारों की आवृत्ति और पुनरावृत्ति से उनमें गहनता आती जाती है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ इस ज्ञान को स्मृति-कोश में संचित करती जाती हैं और फिर सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिये हम इन्हीं प्राकृतिक उपकरणों का प्रतीक रूप में प्रयोग करते हैं।

रहस्यवादी कवियों के लिए प्रकृति सौन्दर्य की धात्री है, जो स्वयं भी सुन्दर है और साथ ही किसी सुन्दर रहस्यमयी सत्ता की ओर संकेत भी करती है; अतः इस प्रकृति का उपयोग ये कवि प्रतीकात्मक तथा सांकेतिक रूप में करते हैं। शृंगार, रहस्य, वियोग आदि सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति अधिकतर साहित्य में प्रकृति प्रतीकों के माध्यम से ही हुई है। प्राचीन युग के ऋषिगण सृष्टि के मूल तत्त्वों का पूजा में संयोग कर उन्हें प्रतीक-रूप में हमारे सामने रखकर हमें स्वस्थ तथा सुखी जीवन का चिर संदेश देते रहे हैं। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि उदय काल का सूर्य सारे जगत का प्राण है।[1] ऋग्वेद में सूर्य को स्थावर-जंगम-आत्मा कहा गया है। वेद वाक्य ही है कि सूर्य उदय होने के बाद अस्त होने तक अपनी किरणों से रोग पैदा करने वाले क्रिमियों का नाश करता है।[2] इस प्रकार वेदों तथा आयुर्वेद में सूर्य को स्वास्थ्य का प्राण और प्राणिमात्र की रक्षा का प्रतीक माना गया है।

वरुण, वायु, सूर्य-इन देवों का सम्मिलित प्रतीक मंगल कलश है जिसकी हर उपासना में स्थापना होती है। संसार के सभी वैभव, सभी देवी-देवता, सभी प्राकृतिक तत्त्व, पृथ्वी, समुद्र वेद, पुराण सब कुछ कलश में निहित है। कलश का पूजन कर लिया तो मानो समग्र पूजा हो गयी।

परब्रह्म के सौन्दर्य का दिग्दर्शन कराने के लिए भी प्रकृति-प्रतीकों की कल्पना की गयी है। हिन्दी के सूफी कवियों एवम् रहस्यवादी तथा छायावादी कवियों के काव्य में इस प्रकार के प्रतीकों को विशेष रूप से अपनाया गया है। इसके अतिरिक्त जन जीवन की अभिव्यंजना के लिए भी इन प्रतीकों का चयन हुआ है। पंत जी का 'ग्राम्य देवता' ग्रामीण जीवन की रूढ़ियों, रीतियों आदि का प्रतीक है। इसी प्रकार केदार जी का 'गेहूँ' 'पौरुष' के और 'बबूल'श्रम के प्रतीक रूप में आया है। उनकी कली का जरा सी गर्मी में मुरझा जाना आराम तलब लोगों के जीवन को व्यंजित करता है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि प्रतीक का निर्माण ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए होता है जिनकी अभिव्यंजना सामान्य भाषा में सम्भव नहीं होती। प्रतीक निर्माण की इस प्रक्रिया में यद्यपि आध्यात्मिकता का सबसे अधिक हाथ है किन्तु चूंकि हमारे जीवन का कोई भी पहलू इनसे अछूतः नहीं है अतः धर्म, समाज, राजनीति एवं प्रकृति का भी प्रतीक निर्माण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

---

१. 'प्राणः प्रजानामुदयत्वेष सूर्यः' उद्धृत—श्री परिपूर्णानन्द वर्मा 'प्रतीक—शास्त्र' पृ० ८२

२. वही

१·२ प्रतीक का उद्भव, उके प्राचीनतम प्रयोग तथा उनमें विभिन्नताएँ

अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए आदि कालीन मानव ने भाषा को जन्म दिया था; किन्तु जब यह साधारण भाषा उसकी कतिपय विशिष्ट अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करने में पंगु हो गयी तो उसने अपनी इन अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिये प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया। इस प्रकार जब से मानव के अनुभवगत भावों को अभिव्यंजना शक्ति की उपलब्धि हुई तभी से प्रतीकों का उद्भव और उनका इतिहास भी प्रारम्भ हो जाता है। मानव के समक्ष जो-जो वस्तुएँ आयीं उनके रूप गुण और स्वभाव को प्रेषणीय बनाने के लिए उसने उन्हे नाम प्रदान किये। ये नाम उन वस्तुओं के संकेत ही कहे जा सकते हैं और कुछ नहीं। किन्तु कला के इतिहास में प्रतीक-पद्धति का विकास सौंदर्य-भावना से सम्बन्धित है। मोहनजोदड़ो के भग्नावशेष सौन्दर्य-भावना के विकास और प्रतीक प्रयोग के प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण हैं। कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रतीक-पद्धति का प्रथम चित्र हमें मिश्र की प्राचीन चित्र लिपियों में मिलता है।

साहित्यिक प्रतीकों का प्राचीनतम उपलब्ध स्वरूप हमें वेदों में मिलता है। वैदिक देव देवियाँ, उनके रूपाकार वाहनादि में प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यदि कर्मकाण्ड के क्षेत्र में प्रतीक-पद्धति को महत्त्व प्राप्त हुआ है तो उपनिषदों में अध्यात्म क्षेत्र में प्रतीकों को अभिव्यंजना का माध्यम बनाया गया है।

वृक्ष-प्रतीक

कतिपय प्रतीक ऐसे हैं जिनका प्रयोग प्राचीन काल से सभी देशों में किसी-न-किसी रूप में होता आ रहा है; यथा वृक्ष की प्रतीक रूप में पूजा अधिकांशतय: सभी देशों में प्रचलित है। वृक्ष जीवन का प्रतीक है और उसकी शाखाएँ जीवन की समस्याओं की। इसकी उपासना बहुत प्राचीन है वर्डउड ने लिखा है कि यह अति प्राचीन पूजा है। मिश्र, मेसोपोतामिया, यूनान, रोम सर्वत्र इसका प्रचलन था।[1] ईसाई देशों में अब भी यह उपासना प्रचलित है।

वृक्ष मनुष्य के लिये, उसकी रक्षा के लिये, उसके जीवन के लिये, उसकी खेती तथा वर्षा के लिये नितान्त आवश्यक हैं। इनकी पूजा कर मानव इनकी महत्ता को प्रतिपादित करता रहता हैं। तुलसी का पूजन हर हिन्दू घर में यह मानकर होता है कि वे विष्णु की पत्नी हैं; किन्तु तुलसी का विष्णु से विवाह एक प्रतीक मात्र है। वस्तुत: प्राचीन काल में इसकी पूजा का विधान इसीलिए किया गया होगा कि तुलसी का पौधा सैकड़ों रोगों की दवा है तथा घर की गन्दी हवा को दूर करने वाला है।

---

१. प्रतीक-शास्त्र, पृ० १८०

विल्वपत्र तथा विल्ववृक्ष का भी अपना महत्त्व है। विल्व वृक्ष भगवती का प्रतीक माना जाता है। रावण के वध के लिए तथा राम की सहायता के लिये ब्रह्मा ने विल्व वृक्ष में देवी का आवाहन किया था।

सूर्य प्रतीक

पश्चिमी हो या पूर्वी, जिन देशों में भी ईश्वर के प्रति विश्वास उत्पन्न हुआ वहाँ पर ईश्वरीय सत्ता तथा विभूति का सबसे निकटतम प्रतीक सूर्य माना गया और सूर्य की पूजा प्रारम्भ हुई। सूर्य की उपासना को श्रीमती मरे ने प्राचीन अंध-विश्वासों में सबसे प्राचीन माना है। उनके कथनानुसार इस समय वह भारत में ही प्रचलित है।[1] पहले यह उपासना फोयेनीसिया, चाल्डिया, मिस्र, मेक्सिको, पेरु आदि देशों में भी प्रचलित थी।

रोम में दो पहाड़ियों के बीच में १६वीं सदी के अन्त में एक सूर्य मन्दिर का पता चला, जिसमें सूर्य तथा अग्नि दोनों देवता प्रतिष्ठित थे। उनका चेहरा शेर जैसा था। दोनों हाथ छाती से चिपटे हुए थे। यह समूची मूर्ति 'जीवन' का प्रतीक है तथा उनके हाथ में लिपटा हुआ सर्प 'सूर्य के चारों ओर राशिमंडल' का प्रतीक है। हाथों में दो चाभियाँ थीं जो सूर्य लोक से सृष्टि की रचना तथा इहलोक और परलोक पर सूर्य के प्रभुत्व की परिचायक हैं।[2]

साधारण जीवन में सूर्य को तेजस्विता का प्रतीक माना जाता है। सर्वगुण सम्पन्न तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति को सूर्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। फ्रेंच सम्राट लुई चौदहवें को जनता ने 'सूर्यनरेश' की पदवी से विभूषित किया था। जॉन नार्डेन नामक एक पादरी ने ब्रिटिश महारानी एलिजाबेथ को मंत्रिमंडल रूपी ग्रहों में सूर्य के समान सुशोभित होना माना है। हमारे साहित्य में भी वीर पुरुष को सूर्य की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[3]

फ्रेजर ने सूर्य को 'उत्पादन शक्ति के देवता' का प्रतीक माना है। कटनर लिखते हैं "स्वर्ग में गर्भ धारण करने योग्य स्त्रियों" के प्रतीक स्वरूप पृथ्वी के लोग सूर्य का प्रतीक बनाकर पूजा करते थे।[4] किन्तु सूर्य का ठीक से अर्थ न समझने के कारण ही कटनर और फ्रेजर ने सूर्य के इस प्रतीक की कल्पना की है। श्री परिपूर्णानन्द वर्मा ने उनके इस अभिमत का खंडन करते हुए कहा है कि वैदिक शब्दों का अर्थ विना अच्छे ज्ञान के नहीं समझा जा सकता; उदाहरणार्थ 'यज्ञ' शब्द को लिया

१–प्रतीक–शास्त्र, पृ० १८२
२–वही पृ० १८४
३–देखिए, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अध्याय ५ के अन्तर्गत पृष्ठ १८६ पर
४–प्रतीक शास्त्र, पृ० १८८, १८६

जा सकता है। ऋगवेद में ही इस शब्द का प्रयोग 'शासन'[1] के लिए हुआ है। यदि हम इसका अर्थ केवल हवन लें तो यह हमारे ज्ञान का ही दोष है।

चन्द्रमा-प्रतीक

हमारे भारतीय साहित्य में चन्द्रमा को अधिकांशतयः सौन्दर्य का प्रतीक म.ना गया है किन्तु राजस्थान में इसे सौन्दर्य के साथ-साथ सच्चरित्रता का भी प्रतीक माना गया है। रामबहादुर गुप्ते ने अपनी पुस्तक में सती-दाह-प्रथा की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। सती-स्तम्भों पर चन्द्र-सूर्य को साथ-साथ बने देखकर गुप्त जी इस नतीजे पर पहुँचे हैं —"चूँकि बूंदेलखण्ड में हर सती स्तम्भ पर सूर्य-चन्द्र बना हुआ है, इससे प्रकट है कि ये सच्चरित्रता के प्रतीक हैं तथा सती पत्नी का अपने पति के साथ अमर बन्धन प्रकट करते हैं।"[2]

चन्द्रमा को प्रजनन क्रिया के देवता का भी प्रतीक माना गया है। आदिम समाज-व्यवस्था के मानव के लिये जितना महत्त्व चन्द्रमा का था उतना सूर्य का नहीं मनुष्य का जन्म कैसे होता है ? मनुष्य और वनस्पतियों के जीवन का स्रोत क्या हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देने में चन्द्रमा मुख्य सूत्र बना। शुक्ल और कृष्ण पक्षों में चन्द्रमा के घटने-बढ़ने की क्रिया अट्ठाइस दिन में समाप्त होती है। टॉमसन ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि इसी अवधि में स्त्रियों के मासिक धर्म का भी समय आता है। आदिम व्यवस्था का मानव रक्तस्राव को जीवनी शक्ति का चिन्ह मानता था, अतः मासिकधर्म की अवधि से सम्बद्ध होने के कारण चन्द्रमा प्रजनन क्रिया का भी देवता बना।

चन्द्रमा औषधियों का भी स्वामी हैं अतः वह प्राणिजगत में पुनर्जीवन का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा का यौगिक महत्त्व भी है, यह शरीर की इड़ा नाड़ी का प्रतीक है।

कमल प्रतीक

कमल भारत का अति सुन्दर पुष्प है। यह सभी जगह उपलब्ध होता है। प्रत्येक भाषा का साहित्य अत्यन्त प्राचीन काल से इसके वर्णनों से भरा पड़ा है। पौराणिक कथा है कि विष्णु ने अपने नेत्र को ही कमल के स्थान पर शंकर भगवान को अर्पित कर दिया था। इस कथा से ही पुष्पों में कमल की प्रतिष्ठा समझी जा सकती है।

विष्णु हजारों वर्षों से हमारे यहाँ पूजित रहे हैं। उनके नीचे के बाँये हाथ में कमल सुशोभित है। यह कमल यहाँ पर सृष्टि, प्रजा की उत्पत्ति और लक्ष्मी

१—"विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्" अर्थात् सब पर तू सब प्रकार से समर्थ अधिकारी होकर शासन कर। 'प्रतीकशास्त्र' पृ०. १६७

2--Hindu Holidays and cerimonials, P. 108-109

का प्रतीक है। अपने प्राचीन रूप में कमल कल्याण तथा प्रसन्नता का प्रतीक था। कमल के इस प्रतीकत्व का कारण सम्भवतः यह था कि लक्ष्मी का आसन कमल है और लक्ष्मी के द्वारा सांसारिकता एवं प्रसन्नता की प्राप्ति होती है, अस्तु, कमल का खिला हुआ पुष्प प्रसन्नता तथा हर्ष का प्रतीक बन गया। मिस्र में यह राजचिन्ह होने के साथ-साथ प्रसन्नता, कल्याण तथा पवित्रता का भी प्रतीक माना जाता रहा है।

भारत में कमल प्रसन्नता, कल्याण तथा पवित्रता का प्रतीक तो रहा ही है साथ ही यह क्रांति का भी प्रतीक बनकर आया है। भारत के सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में कमल का यही क्रांतिकारी रूप हमारे समक्ष आता है। वृन्दावन लाल वर्मा के निम्नलिखित शब्दों से कमल की महत्ता और उसका प्रतीकत्व स्पष्ट हो जाता है–

"कमल फूलों का राजा है। सरस्वती की महानता, लक्ष्मी की विशालता उसके पराग और केसर में कहीं अदृष्ट रूप से निहित है। वह विष्णु की नाभि से निकला है और अनन्त समय के उपरान्त वहीं वापिस जायेगा। वह हिन्दुस्तान की प्रकृति का, संस्कृति का मृदुल, मंजुल, मांगलिक और पावन प्रतीक है। उसका रंग हल्का लाल है। वह बिल्कुल रक्त नहीं है। हिन्दुस्तान में होने वाली क्रांति खूनी जरूर थी परन्तु उस खूनी क्रान्ति के गर्भ में मंजुलता और पावनता गढ़ी हुई थी, इसीलिये सन् १८५७ की क्रान्ति का यह प्रतिबिम्ब चुना गया। क्रांति करेंगे–मानवीयता की रक्षा के लिये; क्रांति होगी–मानवीयता लिये हुए।"[1]

जब हमारा मन किसी बात पर अत्यधिक प्रसन्न हो उठता है तो हम कहते हैं कि हृदय-कमल विकसित हो गया। आध्यात्मिक क्षेत्र में हृदय-कमल के विकसित होने का अर्थ यह है कि जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल विकसित होता है उसी प्रकार ब्रह्म रूपी सूर्य के ज्ञान से मन रूपी कमल प्रफुल्लित हो उठता है। सूर्य और कमल के इस आध्यात्मिक सम्बन्ध के कारण ही कमल को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है।

कमल का पुष्प कीचड़ में पैदा होने पर भी जल के ऊपर बना रहता है, यह इस बात का प्रतीक है कि जो मानव संसार रूपी कीचड़ में रहकर भी उसकी ममता-माया से ऊपर उठ जाता है, वही मुक्त और सच्चा मानव है।

संसार भर में प्राप्त पुराने मन्दिरों की दीवालों पर अंकित कमल का प्रतीक मिलता है। सुमात्रा, जावा, जापान, चीन आदि देशों में वहाँ के मन्दिरों पर 'कमल' अंकित मिलेगा। अनगिनत शिवालयों तथा बौद्ध-चैत्यों में सबसे ऊपर कमल बना हुआ है पर वह कमल उलटा है। डा० परिपूर्णानन्द वर्मा के अनुसार इसका

१–झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई–पृ० २५१

प्रतीकात्मक अर्थ यह है, "स्वयंभूलिंग मूलाधार में उलटे कमल के समान है जिसे जाग्रत कर उलट देना है। सर्प रूपी कुन्डलिनी, इड़ा, पिंगला तथा सुषम्ना नाड़ियाँ एक दूसरे में गुथी हुई उसे लपेटे हुए 'भौंरे' की तरह गुंजन कर रही हैं। योगी इस कमल को उलट कर स्वयंभूलिंग का मुख ऊपर कर देता है, जिसके छिद्र में कुंडलिनी प्रवेश करती है यानी कमल ऊपर हो जायेगा, नाल नीचे हो जायेगी। योगाभ्यास से ही ऐसा हो सकता है। मूलाधार में (गुदा तथा लिंग के जरा नीचे) स्थित उलटा कमल ही शिवालयों तथा बौद्ध चैत्यों पर बना हुआ है।"[1]

बौद्धलोग शरीर के भीतर महापद्म की रचना मानते थे। उस युग की इमारतों पर कमल का यह प्रतीक चित्रित है। उन्हीं के अनुकरण पर अकबर के शासन काल में मुगल इमारतों पर कमल की रचना होने लगी थी। कमल को सूर्य का प्रतीक भी मानते थे- "सृष्टि की तरङ्गों में कमल के समान प्रवाहित होने वाला सूर्य।"[3] कमल का यह प्रतीक ईरान ने भारत से सीखा तथा अपनाया था। हैवेल लिखते हैं कि कमल पुष्प की भूमि भारतवर्ष है। वैदिक आर्यो का सम्बन्ध यूफ्रेतीज नदी-तट के आर्यो से-असीरिया, मिस्र तथा ईरान के आर्यो से था। वस्तुतः कमल का प्रतीक चारों ओर भारत से ही पहुँचा था किन्तु धीरे-धीरे इसका यौगिक तथा रहस्यमय अर्थ बदलता गया।[4]

स्वस्तिक प्रतीक

भारत का एक अन्य प्रमुख प्रतीक 'स्वस्तिक' है। स्वस्तिक मानव समाज के कल्याण का प्रतीक है। हम हर एक मंगल-कार्य में मन्त्र पढ़ते हैं-'गणानां त्वा गणपति

हवामहे अर्थात् गुणों के गणपति का हम आवाहन करते हैं, नमस्कारकरते हैं।

ग्वं गणपति का पूरक स्वर है। गँ- गणपति का प्रतीक

है। यह गँ गणपति का वीजाक्षर रूप है। गँ से से

१. प्रतीक-शास्त्र, पृष्ठ २४०-४१
२. E. B. Havell-"A Handbook of Indian Art. 'P' 136-37.
३. The Same 'P' 145
४- A Handbook of Indian Art 'P' 41 & 145.

प्रतीक के रूप से बन गया। से से बना। प्रतीक इसी

प्रकार बनते हैं और उसका रूप समूचे मन्त्र का रूप बन गया।[१]

स्वस्तिक प्रतीक यूरोप तथा एशिया में प्रचुर संख्या म पाया जाता है। तिब्बत में लामाओं के निवास स्थान तथा मन्दिरों में स्वस्तिक बना है। हिन्देशिया, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, चीन, जापान तथा मेक्सिको तक में स्वस्तिक वर्तमान है।

जैनी लोग सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ काप्रतीक मानते हैं।

इस प्रकार स्वस्तिक प्रतीक अनेक देशों में प्रचलित था, किन्तु इसका रूप प्रत्येक जगह भिन्न भिन्न था। इंगलैण्ड में इसका सैकड़ो वर्ष पूर्व रूप इस प्रकार का

था। डेन्मार्क, नार्वे, और स्वीडन हर एक देश में प्राप्त स्वस्तिक प्रतीक

का रूप भिन्न होता गया। स्वीडन में उसका रूप यह था। ईसाई गिर-

जाघरों में भी स्वस्तिक का प्रयोग होता था पर उसमें तथा भारतीय, बौद्ध, जैन प्रतीक में एक प्रमुख अन्तर यह है कि भारतीय स्वस्तिक दायें से बायें चलता है और ईसाई स्वस्तिक बायें से दायें। कश्मीर की एक मस्जिद पर जिसका निर्माण जहाँगीर के शासन काल में हुआ था, जो स्वस्तिक का चित्र चित्रित है वह हिन्दू स्वस्तिक के समान है। यारकन्द आदि में जो स्वस्तिक के चित्र प्राप्त हुए हैं वे चीनी स्वस्तिक के समान हैं, जो काफी मोटी पंक्तियों में हैं और भारतीय स्वस्तिक की तरह दायें से

बायें हैं–

स्वीडन में प्राप्त स्वस्तिक क्रास के रूप में हैं, उनके चारो ओर गोलाई बनी

है–

१. 'प्रतीक-शास्त्र', पृ० २०

२. वही, पृ० २६५

श्री परिपूर्णानन्द जी[१] ने स्वस्तिक के दायें से बायें की ओर बनने का आधार बताते हुए लिखा है कि स्वस्तिक नाद ब्रह्म तथा सृष्टि का प्रतीक है। वैखरी वाणी दो भागों में विभक्त है-- स्वर तथा व्यंजन। मुख्य स्वर ६ हैं--अ, आ, इ, ई, उ, ऊ--शेष इनसे ही बनते हैं। ये ६ स्वर ही षड् देवता हैं। सूर्य की ६ मुख्य रश्मियाँ हैं, किरणें हैं। सूर्य की यह ६ रश्मियाँ ही स्वस्तिक हैं। हमारे भारत देश में सूर्य का उदय पूर्व की ओर होता है और वह पूर्व की ओर चलता हुआ पश्चिम में अस्त हो जाता है। अतः प्राचीन आर्य स्वस्तिक भी दायें से बायें की ओर बनता है। अन्य देशों में पहुँचते-पहुँचते उसका रूपान्तर हो गया और वह कहीं-कहीं बायें से दायें बनने लगा।

ऊँकार प्रतीक

भारयीय मनीषियों ने सृष्टि की उत्पत्ति नाद से मानी है और आज सभी ने यह स्वीकार कर लिया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में केवल नाद था, ध्वनि थी। ध्वनि से शब्द बने जिन्हें पाणिनि ने अपने व्याकरण में "अ, इ, उ, ण" आदि नाम दिये हैं। ईसाई मजहब ने भी नाद (शब्द) की सत्ता स्वीकार की है। इसी नाद को हमारे ऋषियों ने परब्रह्म की व्याख्या तथा परिभाषा के रूप में स्वीकार किया था। भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब में नाद की महत्ता मानी गयी। आदि, अनादि, अनन्त में उन्होंने इसी नाद की सत्ता स्वीकार की। इस नाद का, शब्द का प्रतीक "ऊँकार" है। हमारे यहाँ किसी भी कार्य के प्रारम्भ में "ऊँकार" शब्द का उच्चारण होना आवश्यक माना गया है। स्मृति में कहा गया है--

"ओङ्कार पूर्वमुच्चार्य ततो वेदमधीयते"[२]

वस्तुतः संसार में सबसे अधिक पूजित तथा सबसे अधिक गूढ़ अर्थ वाला प्रतीक 'ऊँ' है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश जन्म देने वाले, रक्षा करने वाले तथा संहार करने वाली 'तीनों शक्तियों' के प्रतीक तीन अक्षर ओ३म् (ऊँ) हैं।

मन्दिर प्रतीक

पृथ्वी पर ऐसी एक भी जाति नहीं है जिसने मन्दिर जैसी कोई चीज निर्मित न की हो। वह उसे मस्जिद कहती हो, चर्च कहती हो, गुरुद्वारा कहती हो- इससे बहुत प्रयोजन नहीं है। मन्दिर कोई ऐसी चीज नहीं है जो कल्पना के आधार पर निर्मित हुई हो; वह मनुष्य की चेतना से ही निकली हुई कोई चीज है। मनुष्य कितनी ही दूर, कितने ही एकान्त में-पर्वत में, पहाड़ में, झील पर, कहीं भी बसा हुआ हो,

१. 'प्रतीक-शास्त्र', पृ० २६६--२६७
२. वही पृ० १९

इसने मन्दिर जैसा कुछ जरूर निर्मित किया है। यद्यपि एक मन्दिर और मस्जिद, एक गुरुद्वारा और एक चर्च में बहुत फर्क है; उनकी व्यवस्था में बहुत फर्क है; उनकी योजना में बहुत फर्क हैं, लेकिन आकांक्षा में फर्क नहीं है, अभीप्सा में फर्क नहीं है। मनुष्य कहीं भी हो, कितना ही दूसरों से अपरिचित हो, वह अपनी चेतना में कहीं कोई बीज छिपाये है। सैकड़ों वर्ष पूर्व जो हमारी चेतना थी, उस दिन जो हमने चेतन जाना था, वह आज हजारों परतों के भीतर दबा हुआ 'अचेतन' बन गया है। उस दिन अगर हमने मन्दिर का रहस्य जाना था और उससे हमने किसी द्वार को खुलते देखा था तो आज भी हमारे अचेतन के किसी कोने में वह स्मृति दबी पड़ी है। बुद्धि लाख इन्कार कर दे लेकिन बुद्धि उतनी गहरी नहीं हो पाती, जितनी गहरी वह स्मृति है। इसलिए सब आघातों के बावजूद और सब तरह से व्यर्थ दिखायी पड़ने के बावजूद भी कुछ चीजें हैं जो 'परसिस्ट' करती हैं, हटती नहीं। नये रूप लेती हैं लेकिन जारी रहती हैं। यह तभी सम्भव होता है जब कि अपने अनन्त जन्मों की यात्रा में, अनन्त-अनन्त बार, किसी चीज को हमने जाना है यद्यपि आज भूले हुए हैं; और इनमें से प्रत्येक का बाह्य उपकरण की तरह तो उपयोग हुआ ही है, उनका आन्तरिक अर्थ भी है, अभिप्राय भी है।[1]

परमात्मा के लिये आवास की धारणा उन क्षणों में पैदा हुई होगी जब परमात्मा सिर्फ कल्पना की बात नहीं थी, अनेक लोगों के अनुभव की बात थी। परमात्मा के अवतरण की जो प्रक्रिया थी उसके लिये एक विशेष आवास, एक विशेष स्थान, जहाँ परमात्मा अवतरित हो सके, की आवश्यकता का अनुभव हुआ। प्रत्येक चीज के अवतरण में, आग्रहण में, 'रिसेप्टिव' होने में एक संयोजन है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि मान लीजिये कल महायुद्ध हो जाय, हमारी सारी टेक्नोलोजी अस्त-व्यस्त हो जाय और आपके घर में एक रेडियो रह जाय तो आप उसे फेंकना न चाहेंगे, किन्तु रेडियो स्टेशन के अभाव में अब उसका कोई उपयोग भी नहीं रह जायेगा। हो सकता है दस-पाँच पीढ़ियों के बाद भी आपके घर में वह रेडियो रखा रहे और तब कोई पूछे कि इसका क्या उपयोग है? तो कठिन हो जायेगा बताना। हाँ, इतना जरूर कहा जा सकेगा कि उनके पिता, पितामह इसको बचाने के लिये आग्रहशील थे, अतः वे भी इसको रक्षित किये हुए हैं। रेडियो को तोड़कर भी यदि देखा जायेगा तो भी यह जान पाना मुश्किल होगा कि इससे कभी संगीत बजा करता था; कि कभी इससे आवाज निकला करती थी। रेडियो को तोड़कर देखने से कुछ पता चलने वाला नहीं है। वह तो सिर्फ एक आग्राहक था,

---

१. 'गहरे पानी पैठ' आ. रजनीश द्वारा दिया गया भाषण
संकलनकर्त्ता —'महीपाल' पृ० १५

जहाँ कुछ चीज घटती थी। बल्कि घटती भी कहीं और थी, लेकिन पकड़ी जाती थी। ठीक ऐसे ही मन्दिर आग्राहक थे, 'रिसेप्टिव इन्स्ट्रूमेंट' थे। परमात्मा तो सब तरफ है। आप भी सब जगह मौजूद हैं; परमात्मा भी सब जगह मौजूद है। लेकिन किसी विशेष संयोजन में आप उसकी दिव्यता का अनुभव करने लगते हैं और उसकी सत्ता को ग्रहण कर लेते हैं। तो मन्दिर आग्राहक की तरह उपयोग में आये। वहाँ सारा इंतजाम ही ऐसा था कि जहाँ दिव्य अस्तित्व को, भगवतसत्ता को हम ग्रहण कर पायें। जहाँ हम खुल जायें और उसे ग्रहण कर पायें।

मन्दिर का जो गुम्बज है वह आकाश की आकृति का है। इसका प्रयोजन यह है कि अगर आकाश के नीचे बैठकर मैं 'ओ३म्' का उच्चार करूँ तो मेरा उच्चार खो जायेगा; क्योंकि मेरी शक्ति अत्यल्प है, विराट् आकाश है चारों तरफ। मेरा उच्चार लौटकर मुझ पर नहीं बरस सकेगा। मैं जो पुकार करूँगा, वह मुझ पर नहीं आयेगी, वह अनन्त में खो जायेगी। मेरी पुकार मुझ पर लौट कर आ जाय, इसलिए मन्दिर का गुम्वज निर्मित किया गया। वह आकाश की छोटी प्रतिकृति है। इसके नीचे की गयी पुकार वापस लौट आती है। फिर तो ऐसे पत्थर भी खोज लिये गये जो ध्वनियों को वापस लौटाने में बड़े सक्षम हैं।

क्या प्रयोजन है इन सबका ? प्रयोजन यह है कि जब हम 'ओ३म्' का उच्चार करते हैं और मन्दिर का गुम्बज सारे उच्चार को वापस हम पर फेंक देता है तो एक 'वर्तुल' निर्मित होता है, एक 'सर्किल' निर्मित होता है उच्चार का, ध्वनि का, लौटती ध्वनि का। जब 'वर्तुल' निर्मित होता है तब हम सिर्फ पुकारने वाले नहीं हैं, पाने वाले भी हो जाते हैं। हमारी की हुई ध्वनि तो मनुष्य की है, लेकिन जैसे ही वह लौटती है, वह नये वेग और नयी शक्तियों को समाहित करके वापस लौट आती है; और इस लौटती हुई ध्वनि के साथ दिव्यता की प्रतीति होने लगती है। इस प्रकार मन्दिर को, मन्दिर के गुम्वज को, मन्त्र के द्वारा ध्वनि-वर्तुल निर्मित करने के लिये प्रयोग किया गया था।

मंदिर के द्वार पर लटका हुआ घंटा इसका प्रतीक है कि 'ओ३म्' का उच्चारण करने से जो वर्तुल हुआ था, उस वर्तुल की स्मृति आपको पुनः दिला दे।

"तिव्वती मन्दिर में तो घन्टा नहीं रखते, सर्व धातुओं का बना हुआ एक वर्तन रखते हैं घड़े की भाँति और उसमें लकड़ी का डंडा रखते हैं घुमाने के लिये। उसको सात वार अन्दर घुमाकर जोर से चोट करते हैं। सात बार घुमाने पर और चोट करने पर "मणि पद्मेहुं" इसकी पूरी आवाज निकलती है—पूरा मन्त्र। पूरा घड़ा चिल्लाकर कहता है, "मणि पद्मेहूं" और एक बार नहीं सात बार। आप सात राउण्ड लेकर चोट मारें उस पर और हाथ बाहर कर लें, फिर सात वार सुनें ओ३म् मणि पद्मेहूं —ओ३म् मणि पद्मेहूं, ओ३म् मणि पदमेहूं, ओ३म् मणि पद्मेहूं—

आवाज धीमी होती जायेगी और सात वर्तुल उसके बन जायेंगे। आप भी मन्दिर के भीतर ठीक एक घड़े की तरह जोर से अपने भीतर चोट करेंगे-ओ३म् मणि पद्मे-हूँ। मंदिर भी दोहरायेगा। आपका रोयाँ-रोयाँ उसे ग्रहण करके वापस फेंकेगा। थोड़ी ही देर में न आप रह जायेंगे, न मंदिर रह जायगा, सिर्फ विद्युत के वर्तुल रह जायेंगे।"[१]

जैसे घण्टे की आवाज में तथा ओ३म् की आवाज में आन्तरिक सम्बन्ध है वैसे ही मन्दिर में जितनी चीजों का उपयोग होता है उन सबका ओ३म् की आवाज से अन्तःसम्बन्ध है। मस्जिद में लोबान जलाया जायेगा, मन्दिर में अगरवत्ती जलेगी, धूप जलगी; इन सबका ध्वनियों से सम्बन्ध था। 'अल्लाह' का जो उच्चार है, उसका जो सघन रूप है, उस रूप के साथ लोबान की सुगन्ध का तालमेल है। इसी प्रकार ओ३म् का जो उच्चरित रूप है उसके साथ अगरवत्ती और धूप की सुगन्ध का तालमेल है।

प्रत्येक मन्त्र से भीतर पैदा होने वाले प्रकाश का भी अनुभव है। उस प्रकाश के आधार पर मंदिर में कितना प्रकाश हो, उसका प्रबन्ध किया गया। आज जो बिजली के बल्ब मंदिर में जलने लगे हैं, यह गलत है क्योंकि वहाँ ठीक हृदयाकाश में जितना प्रकाश होता था उतनी ही प्रकाश की व्यवस्था मंदिर में करनी थी; बहुत मद्धिम, अनाक्रमक प्रकाश, इसीलिए घी को चुना गया। मिट्टी के तेल के दिये पर घण्टे भर के बाद आँख जलेगी, दुःख पायेगी और थक जायेगी, किन्तु घी के दिये पर घण्टे भर में आँख की ज्योति और बढ़ेगी तथा आँखे ज्यादा शान्त और स्निग्ध हो जायेंगी। यह हजारों लोगों के अन्तर-अनुभव थे जिनको बाहर व्यवस्था दी गयी। निश्चित ही कोई बाहर ठीक वह दिया नहीं खोज सकते जो भीतर के दिये की बराबरी कर सकता, लेकिन निकटतम जो हो सकता था उस वक्त वह उन्होंने खोज लिया। बाहर हम ठीक वह सुगन्ध नहीं खोज सकते जो भीतर पैदा होगी मंत्र के उच्चार से, लेकिन फिर भी निकटतम अगरवत्ती और धूप की सुगन्ध खोज ली गयी।

चंदन सारे मंदिरों में प्रीतिकर हो गया क्योंकि चंदन आज्ञाचक्र से निकलने वाली सुगन्ध का प्रतीक है। चंदन का टीका हम जहां लगाते हैं वह आज्ञाचक्र है। मंत्र हैं जिनके अनुभव से भीतर चंदन की सुगन्ध पैदा होनी शुरू होती है, लेकिन उस सुगन्ध का स्रोत सदा ही आज्ञाचक्र होता है। जब भी वह अनुभव होता है तो ऐसा ही लगता है कि आज्ञाचक्र से सुगन्ध निकल रही है और चारों तरफ फैल रही है। वही समानान्तर (पैरेलल) प्रतीक। जिन लोगों को आज्ञाचक्र की गति का अनुभव

१– गहरे पानी पैठ, पृ० १८

हुआ और वहाँ उन्होंने शीतलता जानी, उन्होने चंदन को खोज लिया। उसकी सुगन्ध भी ठीक वैसी हैं जैसी भीतर अनुभव हुई। ये सारे–के–सारे उपकरण समानान्तर हैं। जब मंदिर इन सबसे भरा होता है तो आविष्ठ होता है इसीलिए यह नियम था कि मंदिर में कोई स्नान किये बगैर न जाय। हम उसके व्यक्तित्व के, क्षण भर को ही सही पुराने तारतम्य को तोड़ना चाहते हैं। बिना घंटा बजायें न जाय, बासे कपड़े पहन के न जाय। सत्य तो यह है कि मंदिर में कपड़े पहनने के लिए जो व्यवस्था थी, वह रेशम की थी; क्योंकि रेशम शरीर की विद्युत को पैदा करने में बड़ा अद्भुत है और उसको सुरक्षित करने में भी। रेशमी कपड़ा कितना ही पहनें, बासेपन का ख्याल नहीं पकड़ता; किसी गहरे अर्थ में ताजा बना रहता है। इस सारी व्यबस्था से यदि कोई मंदिर चलता है तो वह मंदिर चार्ज्ड,आविष्ठ हो जाता है। उसकी सीमा के भीतर हिंसा नहीं हो सकती। यदि उसके पास से भी कोई गुजरेगा तो पवित्रता का अनुभव करेगा।

किन्तु आज मंदिर पर भारी संदेह है क्योंकि आज का जो बौद्धिक प्राणी है उसे मंदिर के जीवन्त रूप का कोई अनुभव नहीं रहा; उसने केवल शब्द और तर्क सीखे हैं। उसके पास सिर्फ बुद्धि रही और हृदयगत कोई द्वार न रहा; उसे मंदिर के पास जाकर कुछ दिखायी नहीं पड़ा। उसने कहा कुछ भी नहीं है मंदिर में केवल पत्थर की मूर्ति है। धीरे-धीरे मंदिर का अर्थ टूटता चला गया। भारत पुनः कभी भारत नहीं हो सकता जब तक उसके मंदिर जीवन्त न हो जांय।

तीर्थ प्रतीक

तीर्थ पुरानी सभ्यता के खोजे हुए बहुत गहरे, सांकेतिक, प्रतीकात्मक औरब हुत अनूठे आविष्कार हैं। लेकिन हमारी सभ्यता के पास उनको समझने के सब रूप खो गये हैं। सिर्फ एक मुर्दा व्यवस्था रह गयी है। हम उसको ढोये चले जाते हैं बिना यह जाने कि वह क्यों निर्मित हुए? उनकी क्या प्रतीकात्मकता थी? क्या उनका उपयोग किया जाता रहा? किन लोगों ने उन्हें बनाया? क्या प्रयोजन था? जो ऊपर से दिखायी पड़ता है वही सब कुछ नहीं है, भीतर कुछ और भी है जो ऊपर से कभी दिखायी नहीं पड़ता। हमारी सभ्यता ने तीर्थ का अर्थ खो दिया है इसलिये जो आज तीर्थ को जाते हैं वह भी करीब-करीब व्यर्थ आते हैं जो उसका विरोध करते हैं वह भी करीब–करीब व्यर्थ विरोध करते हैं।

तीर्थ शब्द का अर्थ है घाट अर्थात् ऐसा जगह जहाँ से हम उस अनन्त सागर में उतर सकते हैं। जैनों का शब्द तीर्थङ्कर तीर्थ से बना है जिसका अर्थ है तीर्थ को बनाने वाला। असल में उसको ही तीर्थङ्कर कहा जा सकता है जिसने ऐसा तीर्थ निर्मित किया हो जहाँ साधारण जन खड़े हों, पाल खोलें और

यात्रा पर संलग्न हो जायें। जैनों ने उन्हें अवतार न कहकर तीर्थङ्कर कहा। अवतार से बड़ी घटना तीर्थङ्कर है क्योंकि आदमी में परमात्मा अवतरित हो यह एक बात है; लेकिन आदमी परमात्मा में प्रवेश का तीर्थ बना ले, यह और भी बड़ी बात है।

जैनों का तीर्थ है समेतशिखर। जैनों के चौबीस तीर्थङ्कर में बाइस तीर्थङ्करों का समाधि-स्थल है वह। चौबीस में से बाइस तीर्थङ्करों ने समेतशिखर पर शरीर विसर्जन किये हैं। आयोजित थी यह सारी व्यवस्था। अन्यथा एक जगह पर जाकर इतने तीर्थङ्करों का, चौबीस में से बाइस का जीवन अन्त होना बिना आयोजन के आसान मामला नहीं है। एक ही स्थान पर हजारों साल के लम्बे फासले में ऐसी घटना घटे; उनके पहले तीर्थङ्कर में और चौबीसवें तीर्थङ्कर में तो लाखों वर्षों का फासला है। लाखों वर्षों के फासले पर एक ही स्थान पर बाइस तीर्थङ्करों का जाकर अपने शरीर को छोड़ना विचारणीय है। समेतशिखर पर बाइस तीर्थङ्करों का यात्रा करना, समाधि में प्रवेश करना और उसी एक जगह शरीर को छोड़ना; उस जगह पर इतनी घनी चेतना का प्रयोग है कि वह जगह विशेष अर्थों का प्रतीक बन जायेगी। फिर कोई भी व्यक्ति वहाँ बैठे और उन विशेष मन्त्रों का प्रयोग करे, जिन मन्त्रों को उन बाइस लोगों ने दिया है तो तत्काल उसकी चेतना शरीर को छोड़कर यात्रा करना शुरू कर देगी।

इस प्रकार तीर्थों को बनाने का प्रमुख प्रयोजन यही था कि हम इस तरह के ऊर्जा से भरे हुए स्थल पैदा कर ले जहाँ से कोई भी व्यक्ति सुगमता से यात्रा कर सके। जैसे नाव खेने के दो ढंग हैं—(१) हम नाव में पतवार लगाकर नाव खेवें, और (२) हम पतवार को चलायें ही न, सिर्फ नाव के पाल खोल दें उचित समय पर, और उचित हवा की दिशा में नाव को बहने दें। तीर्थ वैसी ही जगह है, जहाँ से चेतना की एक धारा अपने आप प्रवाहित हो रही है, जिसको प्रवाहित करने के लिये सदियों मेहनत की गयी है। आप सिर्फ उस धारा में खड़े हो जायें जहाँ आपकी चेतना का पाल तन जाय और आप एक यात्रा पर निकल जायें।

इस पृथ्वी पर जब भी कोई व्यक्ति परम ज्ञान को उपलब्ध होकर विदा होता है तो उसकी करुणा उसे कुछ चिन्ह छोड़ देने को कहती है; क्योंकि जिनको उसने रास्ता बताया, जो उसकी बात मानकर चले, जिन्होंने संघर्ष किया, जिन्होंने श्रम किया, उनमें से बहुत से ऐसे होंगे जो अभी नहीं पहुँच पाये। उनके पास कुछ ऐसे संकेत तो होने चाहिये जिनसे कभी भी जरूरत पड़ने पर वे पुनः संपर्क साध सकें। इस जगत् में कोई आत्मा कभी खोती नहीं, पर शरीर तो खो जाते हैं। तो उन आत्माओं से संपर्क साधने के लिये सूत्र चाहिये। उन सूत्रों के लिये तीर्थों ने ठीक वैसे ही काम किया जैसे कि आज हमारे राडार काम करते हैं। जहाँ तक आँखें नहीं

पहुँचती हैं वहाँ तक राडार पहुँच जाते हैं जो तारे आँखों से कभी नहीं देखे गये, उन्हें राडार देख लेते हैं। तीर्थ बिल्कुल आध्यात्मिक राडार का इन्तजाम है। जो हमसे छूट गये, जिनसे हम छूट गये, उनसे सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। इसलिये प्रत्येक तीर्थ निर्मित किया गया उन लोगों के द्वारा, जो अपने पीछे कुछ लोग छोड़ गये हैं, जो अभी रास्ते पर हैं।

किन्तु इन तीर्थों की वास्तविकता का पता केवल उन्हीं लोगों को चल सकता है जो आध्यात्मिक चेतना से युक्त हैं। यदि कोई व्यक्ति एकान्त में बैठकर साधना करे तो बहुत कम संभावना है कि उसको अपने आसपास किन्हीं आत्माओं की उपस्थिति का अनुभव हो, लेकिन यदि वह तीर्थ में जाकर ध्यान करे तो अनेक आत्माओं की उपस्थिति का अनुभव होगा। थोड़ी बहुत नहीं, बहुत गहन। कभी इतनी गहन हो जायेगी कि उसे स्वयं की उपस्थिति का अनुभव कम होगा और दूसरे की उपस्थिति का अनुभव ज्यादा। जैसे कि कैलाश–कैलाश हिन्दुओं का भी तीर्थ रहा है और तिब्बती बौद्धों का भी; पर कैलाश बिल्कुल निर्जन है। वहाँ कोई आवास नहीं है; कोई पुजारी नहीं है; लेकिन जो भी कैलाश पर जाकर ध्यान का प्रयोग करेगा वह कैलाश को पूरी तरह बसा हुआ पायेगा। यदि उसमें थोड़ी भी ध्यान की क्षमता है तो कैलाश से कभी भी वह यह खबर लेकर नहीं लौटेगा कि वह निर्जन है वह यह खबर लायेगा कि कैलाश इतना सघन बसा है, इतने लोग हैं और इतने अद्भुत लोग हैं कि वर्णन नहीं किया जा सकता ऐसे कोई बिना ध्यान के कैलाश जायेगा तो कैलाश खाली नजर आयेगा।

तिलक और टीका प्रतीक

दोनों आँखों के बीच में एक बिन्दु हैं जहाँ से यह संसार नीचे छूट जाता है और दूसरा संसार शुरू होता है। वह बिन्दु द्वार है। उसके इस पार वह जगत् है जिस जगत् से हम परिचित हैं; उससे उस पार एक अपरचित और अलौकिक जगत् है। उस अलौकिक जगत् के प्रतीकस्वरूप तिलक खोजा गया है। दोनों आँखों के बीच के इस बिन्दु को तीसरी आँख भी कहा गया है। यह जो तीसरी आँख है यह प्रत्येक व्यक्ति के बिल्कुल एक जगह नहीं होती। अन्दाजन दोनों आँखों के बीच में ऊपर होती है पर फर्क होते हैं। अगर किसी व्यक्ति ने पिछले जन्मों में बहुत साधना की है तो वह बिन्दु साधनानुसार नीचे आता जाता है। यदि इस तरह की कोई साधना नहीं होती है तो वह बिन्दु काफी ऊपर होता है। पिछले जन्मों की साधना के हिसाब से यदि वह बिन्दु दोनों आँखों के बिल्कुल बीच में आ गया हो, तो जरा से इशारे से आप समाधि में प्रवेश कर सकते हैं। इतने छोटे इशारे से कि जिसको हम कह सकते हैं, इशारा बिल्कुल असंगत है। इसलिये बहुत बार जब कुछ लोग बिल्कल ही अकारण समाधि में प्रवेश कर जाते हैं तो हमें बड़ी अजीब सी बात

मालूम पड़ती है; जैसे कि जैन साध्वी के जीवन में हुआ है—वह कुएँ से पानी भरकर लौट रही थी। घड़ा गिर गया और घड़े के गिरने के साथ उसकी समाधि लग गई तथा उसे पूर्ण ज्ञान उपलब्ध हुआ। कैसी फिजूल की बात लगती है, घड़े का गिरना या घड़े का फूट जाना और समाधि का लगना, कोई संगति नहीं है।

अगर ठीक तीसरी आँख पर तिलक लगा दिया जाय, उसी मात्रा, उतने ही अनुपात का तिलक लगा दिया जाय, ठीक जितनी बड़ी तीसरी आँख की स्थिति है, तो आपको पूरे शरीर को छोड़कर उसी का स्मरण चौबीस घण्टे रहने लगेगा। वह स्मरण पहला तो यह काम करेगा कि आपका शरीर-बोध कम होता जायेगा और तिलक-बोध बढ़ता जायेगा। एक क्षण ऐसा आ जाता है जबकि पूरे शरीर में सिर्फ तिलक ही स्मरण रह जाता है, बाकी सारा शरीर भूल जाता है। जिस दिन ऐसा हो जाय उसी दिन आप तीसरी आँख को खोलने में समर्थ हो सकते हैं। तिलक के साथ जुड़ी हुई साधनाएँ थीं कि पूरे शरीर को भूल जाओ, सिर्फ तिलक मात्र की जगह याद रह जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त चेतना सिकुड़कर तीसरी आँख पर केन्द्रित हो जाय। तीसरी आँख के खोलने की जो कुंजी है वह फोकस्ड कांसिसनेस है। उससे चेतना पूरी-की-पूरी इकट्ठी हो जाय और सारे शरीर से सिकुड़कर उस छोटे से स्थान पर लग जाय। जैसे हम सूरज की किरणों को एक छोटे से लेंस के द्वारा एक कागज पर गिरा दें तो इकट्ठी हो गयी किरणें आग पैदा कर देंगी। वे किरणें सिर्फ धूप पैदा कर रही थीं उनसे आग पैदा नहीं होती थी वे ही किरणें आग पैदा कर सकती हैं, संग्रहीत होने पर। चेतना जब पूरे शरीर में विभाजित रहती है तो सिर्फ जीवन का काम चलाऊ उपयोग उससे होता है। चेतना अगर तीसरे नेत्र के पास पूरी इकट्ठी हो जाय तो तीसरे नेत्र की बाधा, जो द्वार है वह टूट जाता है, जल जाता है, राख हो जाता है और हम उस आकाश को देखने में समर्थ हो जाते हैं जो हमारे ऊपर फैला है। तो साधना की दृष्टि से तिलक का ऐसा मूल्य था।

जो हमारी तीसरी आँख का बिन्दु है, वह हमारे संकल्प का भी बिन्दु है; उसको योग में आज्ञाचक्र कहते हैं। आज्ञाचक्र इसीलिए कहते हैं कि हमारे जीवन में जो कुछ भी अनुशासन है वह उसी चक्र से पैदा होता है। हमारे जीवन में जो भी व्यवस्था है, जो भी आर्डर है, जो भी संगति है, वह उसी बिन्दु से पैदा होती है। जिन लोगों के जीवन में आज्ञाचक्र सक्रिय नहीं है, वह गुलामी से मुक्त नहीं हो सकता। राजनैतिक और आर्थिक स्वतन्त्रताएँ वास्तविक नहीं हैं; वास्तविक स्वतंत्रता है इंद्रियों की गुलामी से मुक्त होना। जब तक व्यक्ति का आज्ञाचक्र जाग्रत नहीं है तब तक उसका शरीर और उसकी इंद्रियाँ ही उसको आज्ञा दिये चली जाती हैं।

१. 'गहरे पानी पैठ' पृ० ८२

लेकिन आज्ञाचक्र के जगते ही शरीर आज्ञा देना बन्द कर देता है और आज्ञा लेना शुरू कर देता है।

योग ने इस आज्ञाचक्र को जगाने के बहुत प्रयोग किये हैं, उसमें चंदन का तिलक भी एक प्रयोग है।

तिलक से थोड़ा हटकर टीके का प्रयोग शुरू हुआ, विशेषकर स्त्रियों के लिये। स्त्रियों का आज्ञाचक्र बहुत कमजोर है, असाधारण रूप से कमजोर है इसीलिए स्त्री सदा ही किसी-न-किसी का सहारा चाहती है। अगर स्त्री का आज्ञाचक्र बहुत मजबूत हो तो समर्पण करना मुश्किल हो जायेगा। स्त्री के आज्ञाचक्र को सक्रिय बनाने की कोशिश केवल इस देश में हुई और कहीं भी नहीं हुई। यह कोशिश इसलिये थी कि अगर स्त्री का आज्ञाचक्र सक्रिय नहीं होता तो परलोक में उसकी कोई गति नहीं होती। उसके आज्ञाचक्र को स्थिर रूप से मजबूत करने की जरूरत है, लेकिन अगर यह आज्ञाचक्र साधारण रूप से मजबूत किया जाय, तो उसके स्त्रीत्व में कमी पड़ेगी और उसमें पुरुषत्व के गुण आने शुरू हो जाएँगे। इसलिए इस टीके को अनिवार्य रूप से उसके पति से जोड़ने की चेष्टा की गयी; अर्थात् विवाह के समय से पति को आधार मानकर टीका लगाने की प्रथा चल पड़ी। इस टीके का कार्य उसको उसके पति के साथ जोड़ देना है। एक ही तरफ उसका अनुगत भाव रह जायेगा, एक ही तरफ वह समर्पित हो पायेगी। शेष सारे जगत् के प्रति वह मुक्त और स्वतन्त्र हो जायेगी। अब उसके स्त्रीत्व पर कोई बाधा नहीं पड़ेगी। इसीलिए जैसे ही पति मर जाय टीका हटा देना है, वह इसीलिए हटा देना है कि अब उसका किसी के प्रति भी अनुगत होने का कोई सवाल नहीं रहा। लोगों को इस बात का कतई ख्याल नहीं है, उनका तो ख्याल है कि टीका पोंछ दिया क्योंकि विधवा हो गई। पोंछने का प्रयोजन है, अब उसके अनुगत होने का कोई सवाल नहीं रहा। सच तो यह है कि अब उसको पुरुष की भाँति ही जीना पड़ेगा। अब उसमें जितनी स्वतन्त्रता आ जाय उतनी उसके जीवन के लिये हितकर होगी।

इस प्रकार तृतीय नेत्र की अनूठी संपदा है और इसके अपरिसीम उपयोग हैं। उसका सिर्फ प्रतीकात्मक रूप तिलक और टीका है।

मूर्ति-पूजा प्रतीक

मूर्ति-पूजा का सारा आधार इस बात पर है कि आपके मस्तिष्क में और विराट् परमात्मा के मस्तिष्क में सम्बन्ध हैं। दोनों के सम्बन्ध को जोड़ने वाला बीच में एक सेतु चाहिए। सम्बन्धित हैं आप, सिर्फ एक सेतु चाहिए। वह सेतु निर्मित हो सकता है; उसके निर्माण का प्रयोग ही मूर्ति है और निश्चित ही वह सेतु मूर्ति ही होगी क्योंकि आप अमूर्त से सीधा कोई सम्बन्ध स्थापित न कर पायेंगे। आपको अमूर्त का तो कोई पता ही नहीं है। चाहे कोई कितनी ही बात करता हो

निराकार परमात्मा की, अमूर्त परमात्मा की वह बात ही रह जाती है, आपको कुछ ख्याल में नहीं आता। असल में हमारे मस्तिष्क के पास जितने अनुभव हैं वे सभी मूर्त के अनुभव हैं, आकार के अनुभव हैं। निराकार का हमें एक भी अनुभव नहीं है अगर उस निराकार से कोई सम्बन्ध स्थापित करना हो, तो कोई ऐसी चीज बनानी पड़ेगी जो एक तरफ से आकार वाली और दूसरी तरफ से निराकार वाली हो। यही मूर्ति का रहस्य है; अर्थात् हम जहाँ खड़े हों वहाँ एक छोर उसका (मूर्ति का) मूर्त हो, और जहाँ परमात्मा है उधर दूसरा छोर उसका अमूर्त हो जाय तो सेतु बन सकता है। अगर वह मूर्ति बिल्कुल मूर्ति है तो फिर सेतु नहीं बनेगा। अगर वह मूर्ति बिल्कुल अमूर्त है तो भी सेतु नहीं बनेगा। मूर्ति को दोहरा काम करना पड़ेगा। हम जहाँ खड़े हैं वहाँ उसका छोर दिखायी पड़े और जहाँ परमात्मा है वहाँ निराकार में खो जाय। इसलिए यह मूर्ति–पूजा शब्द अद्भुत है।

'मूर्ति–पूजा' शब्द में हम दो शब्दों का प्रयोग करते हैं– एक पूजा का और दूसरा मूर्ति का। पूजा मूर्ति को मिटाने की कला है। जो मूर्ति है, आकार वाली, उसको मिटाने की कला का नाम पूजा है। उसके मूर्त हिस्से को गिराते जाना है, गिराते जाना है थोड़ी ही देर में वह अमूर्त हो जाता है। थोड़ी ही देर में इस तरफ जो मूर्त हिस्सा था, वहाँ से शुरुआत होती है पूजा की, और जब पूजा पकड़ लेती है साधक को, तो थोड़ी ही देर में वह छोर खो जाता है और अमूर्त प्रगट हो जाता है। पूजा तो दिखायी नहीं पड़ेगी, मूर्ति दिखायी पड़ेगी और हम एक शब्द बनाये हैं मूर्ति–पूजा जो बिल्कुल ही गलत है। पूजा है मूर्ति को मिटाने का ढंग! अब यह बात बड़ी अजीब लगती है, क्योंकि भक्त पहले मूर्ति बनाता है और फिर मिटाता है। मिटाता है बड़े चिन्मय अर्थों में, बनाता है बड़े मृण्मय अर्थों में। बनाता है मिट्टी में और मिटाता है परमसत्ता में।

इस देश में हम मूर्तियाँ बनाते हैं और विसर्जित करते हैं। इस विसर्जन के पीछे एक बड़ा ख्याल है। असल में पूजा का रहस्य ही यह है कि बनाओ और विसर्जित करो। इधर बनाओ मूर्ति आकार में और मिटाओ निराकार में यह तो प्रतीक है सिर्फ। काली की मूर्ति बनाते हैं, पूजते हैं और फिर नदी में डाल आते हैं। आज हमें तकलीफ होती है डाल आने में, क्योंकि बीच में जो असली काम था वह तो हुआ नहीं। अगर बीच में पूजा की घटना घट जाती तो मूर्ति बनी रहती और हमारे हृदय ने उसे विसर्जित कर दिया होता– परमात्मा में! और तब, जब हम उसे डुबाने जाते नदी में तो वह चली हुई कारतूस की तरह होती उसके भीतर कुछ न होता। काम तो उसका हो चुका होता। लेकिन आज जब आप मूर्ति डुबाने जाते हैं तो वह चली हुई कारतूस नहीं होती, भरी हुई कारतूस होती है और इसलिए पीड़ा होना स्वाभाविक है।

आप मन्दिर के पास गुजरेंगे तो मूर्ति दिखायी पड़ेगी क्योंकि पूजा के पास से गुजरना आसान नहीं हैं। आप कहेंगे कि पत्थर की मूर्तियों से क्या होगा ? लेकिन मूर्ति के माध्यम से ही कोई एक मीरा अपनी पूजा में लीन हो गयी है, उसके लिये वहाँ कोई मूर्ति नहीं बची। पूजा घटित होती है, मूर्ति विदा हो जाती है। मूर्ति सिर्फ प्रारम्भ में है। जैसे ही पूजा शुरू होती है, मूर्ति खो जाती है। वह जो हमें दिखायी पड़ती है वह इसीलिए दिखायी पड़ती है कि हमें पूजा का कोई पता नहीं है। दुनियाँ में जैसे-जैसे पूजा कम होती जायेगी, वैसे वैसे मूर्तियाँ बहुत दिखायी पड़ेंगी, और जब बहुत मूर्तियाँ दिखायी पड़ेंगी तो पूजा कम हो जायेगी और मूर्तियों को हटाना पड़ेगा क्योंकि इन पत्थरों को रखकर क्या करेंगे ? उनका कोई प्रयोजन नहीं है। साधारणतः लोग सोचते हैं कि जितना पुराना आदमी होता है, जितना आदिम, उतना मूर्ति पूजक होता है। जितना आदमी बुद्धिमान होता चला जाता है उतना मूर्ति को छोड़ता चला जाता है। सच नहीं है यह बात। असल में पूजा का अपना विज्ञान है, जितना ही हम उससे अपरिचित होते चले जाते हैं उतनी ही कठिनाई होती चली जाती है।

अन्धविश्वास प्रतीक

प्रतीकों के क्षेत्र में अन्धविश्वासों से युक्त प्रतीकों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। अन्धविश्वास में मनुष्य ने अपने लिए ऐसे करोड़ों प्रतीक बना लिये हैं जिनकी गणना या विवेचना करना कठिन है। इन प्रतीकों की एक विशेषता यह भी है कि सर्वत्र इनका एक ही गुण नहीं माना जाता। हमारे देश में भरा घड़ा शुभ माना जाता है किन्तु कई देशों में इसे मृत्यु का प्रतीक मानते हैं। हमारे यहाँ बिल्ली या स्यार चाहे किसी रङ्ग का हो, यदि रास्ता काटे तो अति अशुभ समझा जाता है पर अंग्रेज लोग बिल्ली को विशेष कर काली बिल्ली को बड़ा शुभ मानते हैं। यदि भूल से कोई व्यक्ति उलटी कमीज या उलटा जांघिया पहन ले और फिर उसे सीधा कर ले तो अंग्रेज या फ्रेंच लोग इसे अत्यन्त शुभ समझते हैं पर हमारे यहाँ उलटा वस्त्र पहन लेना अशुभ मानते हैं।

कतिपय अन्धविश्वास सभी देशों में सामान्य रूप से मान्य हैं— यथा अंग्रेज, फ्रेंच, हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी सभी का ऐसा विश्वास है कि छींक यदि सम्मुख हो तो अति अशुभ है और यदि पीठ पीछे होती हैं तो कम। पुरुष के लिए दायें अंग का फड़कना तथा स्त्री के लिये बायें अंग का फड़कना सभी देशों के लोग अधिकांशतयः शुभ मानते हैं। घर पर यदि रात को उल्लू बोले तो मृत्यु का संकेत हैं। कौवे का बोलना मेहमान के आने का प्रतीक है। इस प्रकार के अन्धविश्वास युक्त न जाने कितने प्रतीक हैं जिनकी गणना कर सकना असम्भव सा है।

अंक प्रतीक

विश्व में अंक प्रतीकों का भी अपना महत्त्व है। जिस दिन से मनुष्य ने संसार में पदार्पण किया उसी दिन से उसके मस्तिष्क में संख्यावृद्धि की उत्पत्ति हुई। उसका अपना अहं भाव एवं उसके शरीर के अंग ही अंकों के प्रतीक बनें। संसार के समस्त प्राणियों में '१' की कल्पना अवश्य ही विद्यमान है, और रही है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक प्राणी में 'अहम्' अर्थात् अपनेपन का भाव मौजूद है। प्रत्येक प्राणी समस्त विश्व को दो भागों में बाँटता है–एक तो 'अपने आप' अर्थात् मैं और दूसरा सारा विश्व। प्रत्येक प्राणी 'मैं की अर्थात् अपने स्वार्थ की पहले रक्षा करता है, इस प्रकार मनुष्य की 'अहम्' भावना से एक (१) की संख्या का उद्‌भव हुआ।

दो की संख्या की उत्पत्ति जोड़े से हुई है। हमारे शरीर में दो हाथ, दो पैर दो आँखे, दो कान इत्यादि हैं। अन्यन्त्र भी संसार में जिधर देखिये उधर जोड़े ही जोड़े दृष्टिगत होते हैं। कैंची को अंग्रेजी में कहते हैं (Pair of Scissors), ऐनक को कहते हैं (Pair of Spectacles); चीमटे को कहते हैं (Pair of tongs) परन्तु इन वस्तुओं में तो जोड़े की कल्पना परोक्ष रूप में है; कतिपय वस्तुओं में तो जोड़े की कल्पना प्रत्यक्ष रूप में है–मुगदर की जोड़ी, गुलदस्ते की जोड़ी और युगल जोड़ी। इस प्रकार दो की संख्या हमारे शरीर के जोड़े वाले अंगों का प्रतीक है।

तीन की संख्या का जन्म हमारे हाथ की अंगुलियों के पोरों (जोड़ के स्थानों) से हुआ है क्योंकि अँगुलियों में तीन–तीन जोड़ होते हैं। इस तीन की संख्या का हमारे जीवन में विशेष स्थान है। प्रतियोगिताओं में पहले तीन स्थानों के पात्रों को ही पारितोषिक मिलता है। परीक्षा में भी उत्तीर्ण होने के तीन स्थान हैं। राजा बलि तीन चरण भूमि-दान में राजा से रंक हो गये। सुदामा की तीन मुट्ठी तन्दुल में तीनों लोकों का वारा-न्यारा हो गया।

आदिम मानव ने देखा कि जानवर के चार पैर हैं जिनसे वह चलने का कार्य लेता है; और मनुष्य के भी दो हाथ तथा दो पैर हैं जिनसे वह कार्य करता है तथा चलता है। दो हाथों और दो पैरों का योग होता है चार (४) इस प्रकार उसे ४ की संख्या का भान हुआ। हमारे यहाँ चार देवता प्रमुख माने गये हैं–इन्द्र ब्रह्मा, विष्णु और महेश। इनके साथ क्रमशः चार लोकों की कल्पना की गयी है–स्वर्ग, कैलाश, वैकुण्ठ और सत्य लोक (ब्रह्मलोक)। इन चारों लोकों में ब्रह्मलोक सर्वोच्च है, वह सत्य का धाम है; उपर्युक्त तीनों लोक उस भूमिका को प्रस्तुत करते हैं जो आत्मा को सत्य का साक्षात्कार कराता है।

एक हाथ या एक पैर में पांच अँगुलियाँ होती है अतः आदिम मानव को पाँच की संख्या का ज्ञान कराने का श्रेय इन्हीं अँगुलियों को रहा होगा। इसके अतिरिक्त पाँच (५) की संख्या के उद्‌भव में सम्भवतः शरीर की पञ्चेन्द्रियों का भी

योग रहा होगा; ये इन्द्रियाँ हैं--आँख, कान, नाक, रसना और त्वचा। हमारे शरीर का निर्माण भी पाँच तत्त्वों–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश–से माना गया है।

हमारे शरीर में छः चक्र हैं–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र। कुण्डलिनी-शक्ति इन चक्रों का भेदन कर सहस्रार में पहुँचती है। छः (६) की संख्या का उद्भव सम्भवतः इन्हीं चक्रों के आधार पर हुआ होगा।

सप्त की धारणा का रहस्य प्राण-विज्ञान है। प्राण की संख्या सात मानी गयी है–दो कान+दो नेत्र+दो नासिका के छिद्र+एक रसना – सात (७)। हिन्दू दार्शनिक विचारधारा में सभी सप्तक धारणाओं का आधार सम्भवतः यही रहा है; ये धारणाएँ हैं– सप्तर्षि मन्डल, सप्त स्वर, सप्त पाताल, सप्त दिवस, सप्त सरोवर आदि।

इसी सप्तक धारणा का पर्याय हमें सूफ़ी-साधना के सात मुकामतों में मिलता है। यही नहीं, पाश्चात्य–विचार धारा में भी इस सप्त की कल्पना का अपरोक्ष रूप मिलता है। दाँते के "Divine Comedy" में इसका उस स्थान पर संकेत मिलता है जब महाकवि दाँते मार्जान प्रदेश (Purgatory) के सात स्वरों का सविस्तार वर्णन करता है, जिससे होकर कवि तथा वर्जिल स्वर्ग की ओर बढ़ते हैं; तब स्पष्ट रूप से उपनिषदोक्त सप्त लोकों की समानता दृष्टिगोचर होती है।"[1]

हमारे शरीर में अष्ट अंगों की प्रधानता है–जानु, पद, हाथ, उर, शिर, वचन, दृष्टि और बुद्धि। इन्हीं अष्ट अंगों के आधार पर आठ (८) की संख्या का उद्भव हुआ है। हमारे यहाँ प्राचीनकाल में साष्टांग प्रणाम इन्हीं अष्ट अंगों से किया जाता था।

नव (६) की संख्या के उद्भव का आधार हमारे शरीर में स्थित नव-द्वार हैं जिन्हें नव-रन्ध्र भी कहा जाता है। ये नव द्वार हैं—दोआँख,दो कान, दो नासा-पुट, मुख, गुदा और लिंग।

मनुष्य के एक हाथ में ५ अँगुलियाँ हैं, अतः दोनों हाथ की अँगुलियों को मिलाकर उसने १० (दस) की संख्या निश्चित की। संसार की अधिकांश भाषाओं में संख्यात्मक शब्दों का पैमाना इसी दस की संख्या को माना गया है। संस्कृत भाषा में भी १० के पैमाने का ही उपयोग किया गया है; उदाहरणार्थ कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं:–

एकादस १०+१

१–डा० वीरेन्द्रसिंह 'आयाम' पृ० २२६.

द्वादश १०+२
अष्टादश १०+८

अंग्रेजी में भी अधिकांशतयः दस का पैमाना ही काम में लाया गया है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि आदिम मनुष्य ने अपने शरीर के आधार पर ही अंक-प्रतीकों की कल्पना की। चूंकि मानव को वाह्य संसार का ज्ञान तो बाद में धीरे-धीरे हुआ अतः उसने अंक-प्रतीकों के लिए अपने शरीर के अंगों को ही आधार बनाया।

१.३ प्रतीक विषयक विभिन्न मान्यताएँ और निष्कर्ष

'प्रतीक' के सम्बन्ध में विद्वानों की क्या मान्यताएँ हैं ? इस प्रश्न पर विचार करने पर हम पाते हैं कि प्रतीक शब्द अति प्राचीन है और हमारे भारतीय साहित्य ऋग्वेद में भी प्रयुक्त हुआ है। 'दधाते ये अमृते सुप्रतीके'[1] मन्त्र के भाष्य में सायण ने इसका अर्थ 'रूप' किया है। 'अमरकोश' में इसका अर्थ एक देश उपलब्ध होता है।[2] परमात्मा के एक देश सूर्य, चन्द्र अथवा प्रतिमा आदि की उपासना को प्रतीकोपासना कहते ही हैं। स्पष्ट है कि 'प्रतीक' शब्द पर हमारे प्राचीन भारतीय कवियों ने विचार अवश्य किया है किन्तु प्रतीक की कोई सुनिश्चित परिभाषा उन्होंने प्रस्तुत नहीं की। इसके स्वरूप एवं सीमाओं की स्पष्ट व्याख्या करने का प्रयास आधुनिक युग के पाश्चात्य एवं पौर्वात्य साहित्यकारों ने ही किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत की गयी प्रतीक विषयक मान्यताएँ इस प्रकार हैं–

'Encyclopaedia Britanica' में प्रतीक का प्रमुख लक्षण अमूर्त का मूर्त द्वारा प्रस्तुतीकरण माना गया है। इसके अनुसार प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य वस्तु के लिए होता है जो मस्तिष्क के सम्मुख किसी अप्रस्तुत वस्तु की सादृश्यता को अपने सम्बन्ध सूत्रों द्वारा प्रस्तुत करती है।[3] यहाँ प्रतीक की अप्रस्तुत के प्रस्तुतीकरण की प्रवृत्ति और उसके सम्बन्ध सूत्रों व मूलभूत सादृश्यता को प्रमुख स्थान दिया गया है।

रहस्यवादी कवि कॉलिरिज ने अपनी परिभाषा में प्रतीक के रहस्यवादी स्वरूप को प्रस्तुत किया है। उनका अभिमत है– "प्रतीक का यह प्रमुख लक्षण है

---

१. ऋग्वेद (१।१८५।६)
२. 'प्रतिकूले प्रतीक स्त्रिष्वेकदेशेतु पुंस्ययम्'–अमर कोष (२३।७)
३. The term (symbol) given to a visible object representing to the mind the semblance of something which is not shown but realized by associatation with it.' Encyclopaedia Britanica, volume 21, Page 7001.

कि उसका रूप एक पारदर्शी सत्ता का रूप होता है। अस्तु, वह व्यष्टि में किसी विशेष सत्ता का, अथवा विशेष में किसी साधारण सत्ता का, अथवा साधारण में किसी सम्पूर्ण (विश्वव्यापी) सत्ता का आभास देता है और सबसे ऊपर नश्वर में अनश्वर की झलक उत्पन्न करता है।"[१]

कॉलरिज की यह परिभाषा अपूर्ण है क्योंकि इसमें प्रतीक के तात्विक स्वरूप का अधिक चित्रण न होकर उसके रहस्यवादी स्वरूप का विवेचन ही अधिक है। यद्यपि Encyclopaedia Britanica की भाँति इसमें कॉलरिज ने प्रतीक के अमूर्त को मूर्त रूप में प्रस्तुत करने के गुण को स्वीकार किया है किन्तु साथ ही उसने प्रतीक का प्रमुख लक्षण 'सांत' या 'अनन्त' का आभास देने वाला, अनश्वर की झलक उत्पन्न करने वाला माना है जो पूर्णतः उपयुक्त नहीं है। यद्यपि रहस्यवादी कवियों जायसी कबीर, प्रसाद, महादेवी आदि की रचनाओं में ऐसी अतीन्द्रिय सत्ता का आभास देने वाली प्रतीक-योजना उपलब्ध हो सकती है किन्तु समस्त प्रतीकों का सम्बन्ध किसी अनश्वर सत्ता से ही हो, यह युक्ति संगत नहीं, क्योंकि काव्य में प्रयुक्त अधिकांश प्रतीक लाक्षणिक होते हैं और वह अतीन्द्रिय सत्ता के साथ-साथ ऐन्द्रिय सत्ता एवं भौतिक वस्तुओं की भी अभिव्यक्ति करते हैं।

वेबेस्टर का प्रतीक के विषय में कहना है, "प्रतीक वह है जो अपने सम्बन्ध साहचर्य, परम्परा या संयोग से किसी अन्य वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है अथवा उसकी ओर संकेत करता है, परन्तु उसका उद्देश्य समानता अथवा सादृश्यता करना नहीं है अपितु वह मुख्यतः भाव, लक्षण या एक सम्पूर्ण वस्तु जैसे एक राज्य या एक गिरजा घर जैसी अदृश्य वस्तुओं का एक दृश्य सांकेतिक रूप प्रस्तुत करता है।"[२]

स्पष्ट है कि वेबेस्टर ने भी प्रतीक को अदृश्य का दृश्य संकेत कहकर उसके

---

1. A symbol is characterised by a translucence of the special in the individual or of the general in the special or of the Universal in the general, above all by the translucence of the eternal through and in the temporal'.
—S. T. Coleridge. quoted by George Whalley 'Poetic Process'—P. 172.

2. A symbol is 'that which stands for or suggests something else by reason of relationship, association, convention or accident but not intentional resemblance, especially, a visible sign for something invisible, as an idea, a quality or a totality such as a State or a Church'.
-Webester, quoted by William Tinall 'The Literary symbol. P. 6

अमूर्त के द्वारा मूर्त के प्रस्तुतीकरण के गुण को स्वीकार किया है। यद्यपि प्रतीक का मूल तत्व सादृश्य है किन्तु उसका उद्देश्य समानता अथवा सादृश्यता करना नहीं है क्योंकि उसे भाव-व्यंजना का भी ध्यान रखना पड़ता है; यही कारण है कि अधिकांश प्रतीक सादृश्य या साधर्म्य पर निर्मित न होकर प्रभाव-साम्य की भूमिका पर स्थापित होते हैं; उदाहरणार्थ—अति प्रचलित प्रतीक शूल व फूल को प्रस्तुत किया जा सकता है। ये सामान्यतः दुःख—सुख एवं रुदन—प्रसन्नता के प्रतीक हैं। यहाँ इन भावों और वस्तुओं में अन्य किसी प्रकार का सादृश्य न होकर प्रभाव का साम्य ही है। यद्यपि रूप और धर्म का साम्य भी प्रतीकों में होता है; यथा सुन्दरी नायिका के लिए चन्द्र, कमल आदि प्रतीक रूप में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु अधिकांश प्रतीक रूप या धर्म के साम्य पर निर्मित न होकर प्रभाव-साम्य के आधार पर ही प्रणीत होते हैं। अस्तु, कहा जा सकता है कि वेबस्टर का यह मत कि प्रतीक का उद्देश्य सादृश्य न होकर भाव का सांकेतिक रूप प्रस्तुत करना है पूर्णतः उपयुक्त है।

W.H. Auden ने प्रतीक और उसके अर्थ-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"प्रतीक का अर्थ उसकी (कवि की) अपनी अनुभूति के आधार पर स्पष्ट होता है। ...... प्रतीक का अर्थ कभी निश्चित नहीं होता है अपितु इसके अनेक अर्थ होते हैं। यही कारण है कि कोई भी दो भिन्न व्यक्ति एक ही प्रतीक के पृथक्-पृथक् अर्थ समझ सकते हैं।"

Auden जी का उपरोक्त कथन किसी सीमा तक संगत प्रतीत होता है। यद्यपि प्रतीकात्मक अर्थों में पूर्ण भिन्नता संभव नहीं है पर परस्पर सम्बन्ध रखने वाली अनेक भावनाएं उसमें अवश्य ध्वनित हो सकती हैं, क्योंकि वह अपने अर्थों में उतना निश्चयात्मक नहीं है जितना चिह्न आदि। इसी कारण एक ही प्रतीक दो भिन्न कवियों के काव्य में पृथक्-पृथक् अर्थों से सम्पृक्त हो जाता है; उदाहरणार्थ—वेदना दुःख, निराशा, पीड़ा, व्यथा, दरिद्रता आदि भावों के प्रतीक कभी इनमें से एक, कभी दो और कभी सब भावनाओं को व्यक्त करते हैं। यीट्स ने उत्कृष्ट कला के विषय में बताते हुए इसी तथ्य की पुष्टि की है। उनका कथन है—"सच्ची कला स्पष्ट व्यक्त करने वाली एवं प्रतीकात्मक होती है। उसका प्रत्येक आकार, प्रत्येक शब्द, प्रत्येक

---

*. A symbol is felt to be such before any possible meaning in consciously recognized, i. e. an object or even which felt to be more important than the reason can immidiately explain .....A symbolic correspondence is never one to one but always multiple and different persons percieve different meanings.

—'Symbols and Society 'P. 65.

वर्ण, प्रत्येक भाव किसी अवर्णनीय तत्त्व का संकेत होता है पर उसके प्रतीकों की निश्चयात्मकता में गणित की निश्चयात्मकता और स्थिरता नहीं होती है।

जार्ज वैली की प्रतीक विषयक मान्यता है—"प्रतीक किसी अदृश्य अथवा अगोचर वस्तु या विषय का आन्तरिक प्रतिविधान करने वाला कोई दृश्य या गोचर चिह्न या संकेत है।..... प्रतीक कदाचित उन कविता सम्बन्धी वृत्तान्तों के लिये प्रयुक्त होता है जो काव्य में प्रमुख और विशेष अर्थवान होती हैं और इस रूप में प्रतीकात्मक विशेषण काव्य की पूर्ण परिपक्वता को प्रकट करता है।[2]

इसी प्रकार आरनाल्ड हाउसर (Arnold houser) ने भी प्रतीकात्मकता के विषय में अपना अभिमत देते हुए लिखा है, "प्रतीकात्मक भाषा वह भाषा है जिसमें बाह्य जगत् अन्तर्जगत् का प्रतीक होता है, इसके अतिरिक्त वह हमारी आत्मा और मन का भी प्रतीक होता है।[3] प्रतीकात्मक भाषा अथवा प्रतीक का स्वरूप भी रहस्यवादी है अतः साहित्यक प्रतीक के विवेचन का इसमें अभाव ही है।

पाश्चात्य विद्वानों की भाँति हिन्दी के विद्वानों ने भी प्रतीक विषयक अपनी विभिन्न मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। लोकमान्य तिलक ने इस शब्द का सम्बन्ध संस्कृत के प्रति उपसर्ग से माना है और इसकी व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है– 'प्रतीक प्रति=अपनी ओर, इक–– झुका हुआ, जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर होता है और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं।[4]

---

1. True art is expressive and symbolic and makes every form, every sound, every colour, every gesture, a signature of some unanalysable essence ...The permanence which symbol ensures however is not the permanence or certainty of Mathematic.'
–Yeats, quoted by George Whalley–Poetic Process' P. 165

2. "........ the term symbol may conveniently be reserved for those Poetic events which we recognize to be specially valuable, those postic entities which bring value most sharply into focus. The adjective symbolic then refers to the fullest develpment in poetic".
–'Poetic process' P. 166

3. 'Symbolic Language is the language in which the world outside is a symbol of the world inside, a symbol for our soul and mind.,
—'Symbols and values' P.231.

४–श्रीमद् भगवद्गीता-रहस्य', पृ० ४१८.

प्रो० क्षेम ने प्रतीक की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए इसके अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है, "प्रतीक शब्द प्रति-पूर्वक 'इण' धातु से बना है। 'गतिः गमनम् गति प्राप्तिः गतिर्ज्ञानम्' के अनुसार इसका अर्थ चलना, प्राप्ति या पहुँचना और ज्ञान होना है। 'प्रति'+'इण' (गतौ) में 'इण' का 'इ' ही शेष रहेगा। इसमें 'क्विप' प्रत्यय और दीर्घीकरण से 'प्रती' बन जाता है और फिर स्वार्थे 'कप' प्रत्यय के योग से प्रतीक शब्द सिद्ध हो सकता है। इस सिद्धि के अनुसार प्रतीक का अर्थ हुआ—वह वस्तु जो अपनी मूलवस्तु में पहुँच सके अथवा वह मुख्य चिह्न जो मूल का परिचायक है।"[1]

'हिन्दी साहित्य' कोश में इसकी परिभाषा इस प्रकार निरूपित की गई है—"प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा गोचर वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है; अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतिविधान प्रतीक मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है; जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है।"[2]

उपरोक्त मत का अवलोकन करते हुए साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि प्रस्तुत के माध्यम से किसी अप्रस्तुत विषय का प्रतिविधान करना प्रतीक है। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए डॉ० सुधीन्द्र ने भी लिखा है, "प्रतीक वस्तुतः अप्रस्तुत की समस्त आत्मा, धर्म या गुण का समन्वित रूप लेकर आने वाले प्रस्तुत का नाम है.........प्रतीक तो अप्रस्तुत का प्रस्तुत रूप में अवतार ही है।"[3]

इसी प्रकार डॉ० सुधा सक्सेना ने भी प्रतीक विषयक अपनी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए लिखा है,-"प्रतीक किसी अदृश्य या अमूर्त अर्थ का मूर्तीकरण है जो अपने सम्बन्ध या परम्परा द्वारा आकार ग्रहण करता है। प्रतीक अंश्य मानवीय अनुभूतियों को व्यक्त करने का एक मूर्त माध्यम है जो धीरे-धीरे व्यापक प्रयोगों में आवृत्ति के द्वारा निश्चित अर्थ ग्रहण करता है।"[4]

उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं का अनुशीलन करने के पश्चात् कहा जा सकता है कि पाश्चात्यविद्वानों द्वारा प्रस्तुत प्रतीक के इन लक्षणों में कालरिज,

---

१—'छायावाद के गौरव-चिह्न', पृ० २२६.
२—सम्पादक—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा— 'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम भाग) पृ० ४७१.
३—'हिन्दी कविता में युगान्तर,' पृ० ३६४.
४—'जायसी की बिम्ब-योजना' पृ० १०१.

आरनाल्ड हाउसर आदि की परिभाषाएँ मुख्यतः रहस्यवादी हैं और रहस्यवादी रचनाओं में प्रयुक्त प्रतीक के स्वरूप को ही केवल स्पष्ट कर पाती हैं। उनमें प्रतीक में अन्तर्निहित पूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्तीकरण का अभाव है। अन्य समस्त पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों की परिभाषाएँ उसके प्रतिस्थापन या मूर्त द्वारा अमूर्त के संकेत स्वरूप को व्यंजित करती हैं और यह लक्षण अपने आप में पूर्ण है। अस्तु,

निष्कर्ष रूप में, हम कह सकते हैं कि 'प्रतीक' वह शब्द है जो किसी भाव की दुरूहता एवं क्लिष्टता को कम करके उसे पाठक के समक्ष सरस एवं सरल रूप में प्रस्तुत करता है। वस्तुतः प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य, गोचर, प्रस्तुत एवं मूर्त वस्तु के लिए होता है जो किसी अदृश्य, अगोचर अप्रस्तुत एवं अमूर्त वस्तु का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। इस प्रकार अमूर्त, अप्रस्तुत, अदृश्य का मूर्त, प्रस्तुत और दृश्य वस्तु द्वारा प्रस्तुतीकरण प्रतीक है।

१.४. प्रतीक तथा प्रतीकवाद

वैसे तो शब्द ही प्रतीक है क्योंकि प्रत्येक शब्द प्रयुक्त होते ही पूर्वपरता, परम्परा, विशिष्ट भाव संवेदना और नवीन उद्बोधनों का एक वृहद् संसार सामने लाता है। पूर्व संदर्भों या पूर्वानुभूत संवेदनाओं को उभार कर तात्कालिक अनुभूतियों या संवेदनाओं को अपरिसीम गंभीरता और मार्मिकता प्रदान करता है। इस चिन्तन-भूमि से देखने पर स्पष्ट है कि प्रतीक सदैव ही काव्य और साहित्य के अंग रहे हैं। हमारे आदिकालीन ग्रंथ ऋग्वेद में इनका अतिशय प्रयोग हुआ है।

भारत में ही नहीं अपितु अन्यान्य देशों में भी प्रतीक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। फ्रांस और वेल्जियम में उन्नीसवीं शताब्दी में यथार्थवाद के प्रति विद्रोहात्मक भावनाएँ जाग्रत हो उठीं और प्रतीकविधान को साहित्य एवं संगीत में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ। सन् १८८६ में "फिगारो" नामक पत्र में "सिम्बालिज्म" एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में स्वीकृत हुआ। इसके प्रतिनिधि थे—वोदलेयर, वर्लेन और मैलार्मे। वोदलेयर ने प्रतीकों के महत्त्व की स्थापना की, वर्लेन ने उन्हें काव्यात्मक रूप दिया एवं मैलार्मे ने गहन पारिभौतिक व्याख्या की। इस सम्प्रदाय के ये लेखक प्रतीकों द्वारा अपनी विभिन्न मानसिक स्थितियों को व्यक्त किया करते थे।

आधुनिक हिन्दी- काव्य में अंग्रेजी के इस 'सिम्वालिज्म' (Symbolism) के अर्थ में जिस 'प्रतीकवाद' का प्रचलन हो गया है उस 'प्रतीकवाद' और हमारे भारतीय साहित्य में प्रत्युक्त प्रतीकों में अन्तर है।

शिवदान सिंह चौहान[1] ने नये कवियों और विशेषकर अज्ञेय पर दो

१-आलोचना, त्रैमासिक अंक २, शिवदान सिंह लिखित सम्पादकीय लेख।

आरोप लगाये हैं—

१. अज्ञेय की कविता प्रतीकवादी है, और

२. प्रतीकवाद प्रयोगवाद के छद्मवेश में आ रहा है।

किन्तु चौहान जी के ये आरोप युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होते। मनोविज्ञान में फ्रायडिन सिद्धान्त का जो स्वप्न प्रतीक है उससे इस प्रतीकवादी धारा का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। जो कवि यौन कुण्ठाओं से आक्रान्त होता है उसकी रचनाओं में प्रतीकों के माध्यम से उसकी छाया का आभास मिल जाता है; परन्तु इन प्रतीकों के आधार पर ही उसे साहित्य की विशिष्ट प्रतीकवादी धारा का कवि नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से अज्ञेय जी को भी प्रतीकवादी धारा का कवि न मानना ही उचित होगा। "तार सप्तक" के प्रथम भाग में उन्होंने अपने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं—

"आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इनसे आक्रांत है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं। प्रतीक द्वारा कभी-कभी वास्तविक अभिप्राय अनावृत्ति हो जाता है—तब वह उस स्पष्ट इंगित से घबराकर भागता है जैसे बिजली के प्रकाश में व्यक्ति चौंक जाय। डी. एच. लारेंस की एक कविता में प्रेम-प्रसंग में एकाएक बिजली चमकने पर पुरुष अपना प्रेमालाप छोड़कर छिटककर अलग हो जाता है, क्योंकि 'The lightening had made it too plain.' अर्थात् बिजली ने उस व्यापार को उघाड़ दिया है।"[१]

निश्चय ही अज्ञेय जी की इन पंक्तियों में फ्रायड का स्वर है। अपने सिद्धांत की पुष्टि में उन्होंने 'सावन मेघ' शीर्षक कविता का उदाहरण दिया है जो यौन-प्रतीकों से परिपूर्ण है। अज्ञेय जी ने अपने उपर्युक्त कथन में जिन यौन-प्रतीकों के सम्बन्ध में कहा है वे मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं प्रतीकवादी धारा से नहीं। स्वप्न-प्रतीक और अंग्रेजी की प्रतीकवादी धारा के अन्तर को समझे बिना शिवदान सिंह चौहान ने अज्ञेय जी को जो प्रतीकवादी कवि कहा है वह उचित नहीं है। वस्तुतः अज्ञेय जी प्रतीकवादी न हो कर फ्रायडवादी हैं।

यौन प्रतीक प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त अज्ञेय जी की अन्य रचनाएँ भी प्रतीकवादी नहीं हैं क्योंकि विषय-वस्तु के दृष्टि कोण से अज्ञेय जी टी० एस० इलियट के अधिक निकट है, बोदलेयर या मैलार्मे के नहीं। डा० देवराज ने भी प्रयोगवाद पर इलियट का ही प्रभाव माना है। इस प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—

१—तारसप्तक, पृष्ठ ७६.

"हिन्दी प्रयोगवाद भी केवल युग से प्रभावित नहीं है– वह बहुत हद तक इलियट पाउण्ड आदि की शैली के अनुकरण में उपस्थित हुआ है ।"[१]

फ्रेञ्च-कवियों जैसी रहस्यवृत्ति, धार्मिकता, संगीतात्मकता, रोमांच का मोह और अलौकिक सौन्दर्य-सृष्टि का आग्रह अज्ञेय जी में नहीं है । बोदलेयर और मैलार्मे दोनों ने ही बुद्धि का तिरस्कार किया था, इसके विपरीत इलियट के बिम्ब-विधान में बौद्धिकता का स्वर प्रमुख है; और यही बात हमें अज्ञेय जी के काव्य में भी मिलती है।

प्रतीकवादी कवियों और अज्ञेय जी में यदि कोई साम्य है तो यही, कि दोनों ने नवीन प्रतीक-योजना पर बल दिया है; नये उपमा ढूढ़ने की बात कही है । फ्रेञ्च-कवियों के प्रतीक-सिद्धान्त रहस्यों, अन्तर्विरोधों और अस्पष्टताओं से भरे हैं पर अज्ञेय जी में यह बात नहीं है । "कलगी बाजरे की" शीर्षक कविता में निश्चय ही 'बिछली घास' तथा 'छरहरी कलगी' जैसे प्रतीक अज्ञेय को उनकी कविताओं की शुष्कता, बौद्धिकता, लय-गतिहीनता और कहीं-कहीं यौन विकारों की प्रमुखता के बावजूद भी कविता के नये प्रयोगों का दिशा निर्देशक बना देते हैं ।

चौहान जी का दूसरा आरोप यह है कि प्रतीकवाद प्रयोगवाद के छद्मवेश में आ रहा है । वस्तुतः रूप-साहित्य की जिस प्रवृत्ति को प्रतीकवाद नाम दिया गया था उसमें प्रतीक-विधान रूप-शिल्प का एक उपकरण अवश्य था परन्तु वह अनेकानेक प्रमुखतर वृत्तियों के आगे महत्त्वपूर्ण न था; अतः प्रतीकवादी धारा से प्रतीक-विधान का आशय कम सौंदर्यवाद, आदर्शवाद, स्वप्निल अस्पष्टवाद और अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की अखण्ड प्रक्रिया सम्बन्धी मान्यताओं का तात्पर्य अधिक लिया जाता है । इसीलिए अंग्रेजी के आलोचक न तो ब्लेक (Blake) जैसे प्रतीक-विधाता को प्रतीकवादी धारा का कवि मानते हैं और न प्रतीकवाद की प्रतीक-योजना से प्रभावित बिम्बवादी इलियट को ही प्रतीकवादी कवि की संज्ञा देते हैं; परन्तु हिन्दी के समीक्षक प्रतीक-योजना पर बल देने वाले हर कवि को प्रतीकवादी कवि की संज्ञा देने लगते हैं । यह उनका दुराग्रह नहीं ,तो क्या है ?

वस्तुतः शब्द मूलरूप से प्रतीक ही है और प्रतीकवादियों को यदि श्रेय दिया जा सकता है तो वह यह–कि उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित किया और कविता को हृदय-मन की गम्भीरतम अभिव्यक्ति बना दिया। किन्तु केवल इसके आधार पर प्रतीक-विधान को काव्य का उपजीव्य बनाने वाले सभी कवियों को प्रतीकवादी कवि की संज्ञा नहीं दी जा सकती ।

१–प्रयोगवादी कवि–एक चेतावनी –डॉ० देवराज, नयी कविता, प्रथम अङ्क ।

१·५ प्रतीत, अलंकार और बिंब

'अलंकृति अलंकार;'[1] अर्थात् जिसके द्वारा अलकृत किया जाय वह अलंकार है। 'अलंकार' में 'अलम्' और 'कार' दो शब्द हैं। 'अलम्' का अर्थ है भूषण– जो अलंकृत या भूषित करे वह अलंकार है।[2] 'संस्कृत हिन्दी' कोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है—अलम्+कृ+घञ्।[3] वस्तुतः अलंकार काव्य के विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रेषणीयता, अर्थ में रमणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है। 'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते'[4] अर्थात् काव्य के बाह्य–सौन्दर्य को बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं। स्पष्ट है कि काव्य की रमणीयता को बढ़ाने वाले उपादान ही अलंकार कहे जाते हैं। जिस प्रकार सुन्दर वस्त्राभूषणों से किसी सुन्दर स्त्री की शोभा में अधिक वृद्धि हो जाती है उसी प्रकार काव्य में अलंकारों की योजना से रमणीयता आ जाती है, उसके सौन्दर्य में वृद्धि हो जाती है। किन्तु जिस प्रकार किसी सुन्दरी को यदि बहुत अधिक आभूषणों से लाद दिका जाय तो उसकी सुन्दरता बढ़ने के बजाय और घट जायेगी, उसी प्रकार काव्य में भी अलंकारों का आधिक्य उसकी स्वाभाविक कोमलता एवं सौन्दर्य को विनष्ट कर देता है क्योंकि काव्य की आत्मा तो रस और भाव होते हैं, अलंकार उसके बहिरंग से ही सम्बंध रखते हैं; अतएव उनको प्रमुख स्थान देना काव्य की आत्मा का हनन करना है। इसी कारण साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—

"शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः,
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽगंदादिवत् ॥"[5]

अर्थात् काव्य शोभा की वृद्धि करने वाले, रस भाव आदि की उत्कृष्टता को चरम-सीमा पर पहुँचाने वाले शब्द और उसके अस्थिर धर्म को अलंकार कहते हैं।

भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से ही न्यूनाधिक मात्रा में अलंकारों का प्रयोग होता आया है। प्रस्तुत को अधिक स्पष्ट, बोधगम्य, चमत्कारिक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अप्रस्तुत का अलंकार रूप में प्रयोग किया जाता है; ये अप्रस्तुत ही काव्य में उपमान कहलाते हैं। चूँकि अप्रस्तुत-योजना का सीधा सम्बन्ध

१– वामन-वृत्तिः (१/१/२)।
२– संपादक डा० धीरेन्द्र वर्मा–'हिन्दी–साहित्य-कोश' (प्रथम भाग) पृ० ६०
३– ले०–वामन शिवराम आप्टे, पृ० १०२
४– आ० रामचन्द्र मिश्र–'काव्यादर्श' द्वितीय–परिच्छेद, पृ० ७४
५– व्याख्याकार–डा० सत्यव्रत सिंह 'साहित्य–दर्पण'-पृ० ६६५.

अलंकारों से है अतः कहा जा सकता है कि प्रतीक अलंकारों में प्रयुक्त उपमान ही है; किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है, प्रतीक और उपमान में अत्यधिक अन्तर है। प्रतीक अलंकार--प्रणाली के अन्तर्गत तो हैं किन्तु अलंकारों में प्रयुक्त उपमान नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अभिमत है, "प्रतीकों का व्यवहार हमारे यहाँ के काव्य में बहुत कुछ अलंकार प्रणाली के भीतर ही हुआ है, पर उसका मतलब यह नहीं कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के उपमान और प्रतीक एक ही वस्तु हैं। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, वल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है; पर अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं माना जाता है; अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते, पर जो प्रतीक होते हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं।"[१]

इस कथन से स्पष्ट है कि प्रतीक में सादृश्य की अपेक्षा भावाद्‌बोधन की शक्ति का रहना आवश्यक है जवकि उपमान में सादृश्य के आधार का रहना अपरिहार्य माना गया है। "वस्तुतः प्रतीक और उपमान में सवसे वड़ा अन्तर यही है कि प्रतीक के लिये सादृश्य के आधार की आवश्यकता नहीं केवल भावोद्‌वोधन की शक्ति रहनी चाहिये; पर उपमान में सादृश्य के आधार का रहना आवश्यक है।[२]

यद्यपि प्रतीक तथा अलंकार दोनों में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का विधान रहता है किन्तु दोनों में अन्तर है। 'उपमा में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की पृथकता दिखलायी जाती है और रूपक में वे एकरूपता को प्राप्त कर लेते हैं, पर प्रतोक दोनों का स्थान ग्रहण कर लेता है।[३] उदाहरणार्थ यदि यह कहा जाय कि 'काँटों ने भी पहना मोती' तो इससे यह दृश्य उपस्थित हो जाता है कि कठोर हृदय वाले की आँखों में भी आँसू आ गये। यहाँ काँटा 'कठोरता और कुटिलता' का प्रतीक है, और मोती 'अश्रु-विन्दु का'; क्योंकि मोती उज्ज्वल और गोल होते हैं अतः आँसू से उनका साम्य हो जाता है। इसमें काँटा और कठोर हृदय—अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों का स्थान एक ही ने ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार मोती भी जल-विन्दु अपने में समेटे हुए है। ऐसे प्रतीकस्वरूप उपमान काव्य के प्राण हैं। वस्तुतः जो उपमान प्रतीकस्वरूप होते हैं वे काव्य का वड़ा मार्मिक विधान करते हैं। प्रतीक की मार्मिकता का सम्वन्ध उसकी अभिव्यन्जना से है जिसका क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है और जिसके अन्तर्गत कलापक्ष की समस्त सामग्री आ जाती है।

रूपक और प्रतीक दो भिन्न वस्तुएँ हैं। रूपक में किसी वस्तु का गुण, कर्म अथवा

१– चिन्तामणि' (भाग २) पृ० १२१.

२– ले० पं० लक्ष्मीनारायण सुधांशु—'काव्य में अभिव्यंजनावाद,' पृ० ११८

३– ले० पं० रामदहिन मिश्र–'काव्य में अप्रस्तुत-योजना'-पृ० १२०

धर्म के सादृश्य से किसी अन्य वस्तु का आरोप होता है। यहाँ उपमेय और उपमान का एक होना दिखाया जाता है अर्थात् उपमेय में उपमान का आरोप कर दिया जाता है ; किन्तु सादृश्य पर आधारित होते हुए भी प्रतीक में उपमेय पर उपमान के आरोप की क्रिया नहीं होती और न चमत्कार की ही प्रधानता होती है। प्रतीक उस भाव या वस्तु के स्थानापन्न होते हैं जिनके द्वारा मूलवस्तु का स्वरूप सरलता-पूर्वक स्पष्ट हो जाता है। रूपक में वर्णित दोनों पक्ष प्रधान रहते हैं जबकि प्रतीक द्वारा व्यञ्जित सत्य ही प्रधान होता है। प्रतीक रूपक की भाँति वस्तुगत अथवा भावगत प्रयोग नहीं है ; यह वस्तुओं के सम्बन्धों के निरूपण करने का एक केन्द्र है जिसको हम सर्वोच्च महत्ता देते हैं।[१]

प्रतीक और रूपक के भेद को बतलाने का प्रयास डब्लू० बी० यीट्स ने भी किया है।[२] इन्होंने रूपक की तुलना में प्रतीक की अनन्वय श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। इनका अभिमत है कि प्रतीक के द्वारा अभीप्सित वस्तु की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है वैसी अन्य किसी प्रकार से संम्भव नही है, किन्तु रूपक के द्वारा वैसी अभिव्यक्ति होती है जिनके समान या जिससे बढ़ कर सुन्दर अभिव्यक्ति दूसरे प्रकार से भी संभव है।

सम्भवतः यीट्स से प्रभावित होकर W. Y. Tindall ने भी प्रतीक और रूपक के विषय में ऐसी ही धारणा व्यक्त की है–

"The symbol is the only possible embodiment of what it presents, whereas an allegorical image, one of several possibilities is a substitute for what it presents."[३]

अस्तु, कहा जा सकता है कि प्रतीक उपमा, रूपक आदि अलंकारों से भिन्न हैं उपमान की दृष्टि से केवल रूपकातिशयोक्ति ही एक ऐसा अलंकार और है जो प्रतीक के अत्यन्त निकट है और जिसे डा० जगदीश नारायण त्रिपाठी जैसे विद्वानों ने प्रतीक का दूसरा रूप ही मान लिया है।[४] किन्तु वस्तुतः इन दोनों (प्रतीक और

---

1. 'A Symbol, like a metaphor, does not stand for a thing or for an idea, it is a focus of relationships which we judge to be of highest value.'

George Whalley "Poetic Process' P. 166.

2. William Blake and his Illustrations to the Divine comedy' collected in 'Essays and Introduction' P. 116
3. 'The Literary symbol' P. 31.
४– 'प्रतीक' उपमा या रूपक के संक्षिप्त संस्करण हैं, अथवा उन्हें रूपकातिशयोक्ति भी कह सकते हैं।' 'आधुनिक हिन्दी-कविता में अलंकार–विधान' पृ० १६६.

रूपकातिशयोक्ति) में अन्तर है। रूपकातिशयोक्ति में जिन उपमानों का प्रयोग होता है वे अधिक रूढ़ होते हैं, जबकि बहुत से प्रतीक ऐसे भी हैं जिन्हें कवि रूढ़ होते हुए भी नवीन अर्थ से आवृत्त कर लेता है। इस प्रकार सभी रूढ़ उपमान प्रतीक तो होते हैं किन्तु सभी प्रतीक रूढ़ उपमान नहीं होते; पर रूपकातिशयोक्ति में रूढ़ उपमानों का प्रयोग रूढ़ अर्थ में ही किया जाता है।

संस्कृत–काव्यशास्त्र के प्रेमी विद्वान प्रतीक-विधान को अन्योक्ति-पद्धति के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं और प्रतीक-विधान को उपचार वक्रता का एक प्रकार मानते हैं; जैसे डा० संसारचन्द का अभिमत है– 'हमारे यहाँ प्रतीकवाद अथवा संकेत वाद अन्योक्ति–पद्धति के अन्तर्गत आता है। जब प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेदारोप हो और प्रस्तुत स्वयं निगीर्ण रहे तब अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बनकर प्रतीक का काम देता है। काव्य परिभाषा में इसे उपचार वक्रता कहते हैं।' किन्तु अन्योक्ति को विस्तृत अर्थ में लेने पर भी अर्थात् अन्योक्ति अलंकार, अन्योक्ति पद्धति और अन्योक्ति–ध्वनि को ध्यान में रखने पर भी प्रतीक की अपेक्षा अन्योक्ति का क्षेत्र भिन्न और सीमित है। अन्योक्ति का प्रमुख क्षेत्र काव्य है और गौण क्षेत्र श्रव्य-कला। दृश्य कलाओं में अन्योक्ति का प्रयोग प्रायः नहीं होता है। अस्तु, शब्द-प्रतीकों का साम्य अन्योक्ति के साथ हो सकता है। काव्य के प्रतीकों में निश्चित-रूपेण अन्योक्ति तत्त्व रहता है किन्तु वस्तु प्रतीक या वर्ण–प्रतीक जो दृश्य कलाओं के सार्वभौम साधन और अंगी तत्त्व भूत हैं, अन्योक्ति के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रखते है। इस तरह प्रतीक जहाँ समस्त ललित कलाओं से संपृक्त है वहाँ अन्योक्ति प्रधानतः काव्य–कला तक सीमित है। दूसरे, अन्योक्ति में किसी एक वस्तु का आधार लेकर जो उक्ति कही जाती है उसका सम्बन्ध किसी अन्य वस्तु से होता है। इसमें (अन्योक्ति में) चमत्कार की प्रधानता होती है किन्तु प्रतीक में उक्ति–वैचित्य की प्रधानता नहीं होती वरन् कथन ही प्रतिनिधि रूप में उपस्थित हो जाता है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि प्रतीक अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत होते हुए भी उनसे भिन्न है।

प्रतीक और बिम्ब

प्रतीक की भाँति बिंब भी काव्य का एक प्रमुख अंग है। पं० रामचन्द्र शुक्ल "काव्य में केवल अर्थ गहण को ही नहीं अपितु बिम्ब ग्रहण को भी अपेक्षित मानते है।"[२] काव्य–कला के संदर्भ में बिंब अँग्रेजी शब्द 'इमेज' (Image) का पर्याय है।

१– 'हिन्दी–काव्य में अन्योक्ति' पृ० ६९

२– 'चिन्तामणि' (कविता क्या है ?) प्रथम भाग, पृ० १४५.

अतः बिंब का अर्थ स्पष्ट करने के लिये पहले 'इमेज' शब्द की व्याख्या सापेक्ष है। अंग्रेजी के प्रामाणिक कोशों के अनुसार 'इमेज' के अर्थ हैं- 'कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति, जिसका चाक्षुप होना अनिवार्य नहीं है।'[1] किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ की प्रतिकृति अथवा एक मानसिक चित्र'[2] बिंब साधारणतयः किसी अन्य वस्तु का प्रतिनिधि, प्रतिरूप या सहायक अंग होता है, अतः दर्पण में पड़ती हुई किसी व्यक्ति की प्रतिच्छाया बिंब कही जा सकती है।[3] एक पदार्थ के लिये किसी ऐसे मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे व्यंजित करता हो; जैसे 'मृत्यु' के लिये 'निद्रा' का प्रयोग।[4]

'मनोविज्ञान' में 'इमेज' से अभिप्राय किसी ऐसे प्रत्यक्ष अथवा अनुभव की स्मृति से है, जिसका परवर्ती अनुभव के कारण रूपान्तर हो जाता है और जिसमें अन्तर्मनोवैज्ञानिक तथा बहिर्मनोवैज्ञानिक उद्दीपन द्वारा उद्बुद्ध बौद्धिक एवं रागात्मक तत्त्व अन्तर्मुक्त रहते हैं। वह संग्राहक यंत्र पर अंकित उद्दीपक पदार्थ की प्रतिच्छवि का पर्याय हैं।[5]

'इमेज' का हिन्दी-संस्कृत रूपान्तर है 'बिम्ब' जिसका शब्दार्थ है- सूर्य-चन्द्र-मंडल प्रतिच्छवि, प्रतिच्छाया, प्रतिबिम्बित अथवा प्रत्यंकित रूप चित्र।[6]

---

1. 'A picture or representation (not necessarily visual) is the imagination or memory.'
   Chamber's Twentieth Century Dictionary' Edited by William Geddie. P. 527.
2. 'A representation of a person or thing, a mental picture.'
   'Webester's Third New International Dictionary' P. 1128
3. 'Image, in general, a copy, representation, exact counterpart of something else. Thus the reflection of a person in a mirror is called an image.'
   'Encyclopaedia Britannica' Volume 12. P, 108.
4. 'Something concrete or abstract introduced to represent something else which it strikingly resembles or suggests (as the use of sleep for death).'
   'Webester' Third New International Dictionary' P. 1128
5. 'The memory of a perception in psychology that is modified by subsequent experience and that contain both intellectual and emotional elements elicited by intrapsychic and extrapsychic stimulate; also the representation of a stimulus object on a receptor mechanism '—The Same
6. Sir Monier Williams. 'Sanskrit- English Dictionary' P. 731.

पाश्यात्य आलोचकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार बिम्ब की परिभाषाएँ की हैं, जिनमें से कतिपय इस प्रकार हैं—

१– काव्य-बिम्ब एक प्रकार का शब्द-चित्र है ।[1]

२– बिम्ब वस्तुओं के आन्तरिक सादृश्य का प्रत्यक्षीकरण है ।[2]

३– बिम्ब ऐन्द्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा तार्किक सत्यों तक पहुँचने का एक मार्ग है ।[3]

४– बिम्ब एक अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनर्रचना है ।[4]

५– बिम्ब दो बिरोधी संवेदनाओं अथवा अनुभूतियों का एक आन्तरिक तनाव (Tension) है ।[5]

'हिन्दी साहित्य कोश' में बिम्ब की व्याख्या इस प्रकार की गयी है-"प्रस्तुत परिवेश के संवेदनों और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त उसके मानस में अतीत की तथा कभी अस्तित्व न रखने, न घटने वाली वस्तुओं और घटनाओं की असंख्य प्रतिमाएँ भी रहती है । बिम्ब शब्द इसी मानस-प्रतिमा का पर्याय है ।'[६]

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात् बिंब का स्वरूप कुछ स्पष्ट हो जाता है । बिंब पदार्थ न होकर उसकी प्रतिच्छवि है । बिंब एक प्रकार का चित्र है जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इन्द्रियों के सन्निकर्ष से प्रमाता के हृदय में उद्‌बुद्ध हो जाता है । यह सन्नकर्ष प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों रूपों में होता है । प्रथम में इन्द्रिय-व्यापार मुख्य रहता है तथा द्वितीय में कल्पना का प्राधान्य होता है जिसके द्वारा कवि बिंब निर्माण में सक्षम होता है । बिंब पुर्वानुभूतियों एवं भावनाओं का ऐसा पूर्वाकरण है जिसमें ऐन्द्रियता अपेक्षित है । आवेग, संवेदना एवं भावना इसकी मूल आवश्यकताएँ हैं ।

अस्तु, स्पष्ट है कि बिंब के ४ मुख्य आधारभूत तत्त्व हैं, जो बिम्ब को सफलता प्रदान करते हैं , ये हैं–

१– अनुभूति (Feeling)

२– भाव (Emotion)

३– आवेग (Passion)

---

1. 'A poetic-image is a word picture'
   C. D. Lewis 'The Poetic Image P. 19.
2. T. E. Hulme 'Speculations' P. 281.
3. Susanne K. Langer. 'Problems of Arts' P. 132.
4. George Whalley. 'Poetic Process' P. 145.
5. Allen Tale. 'Selected Essays' P. 83.

६. सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा–'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम भाग) पृ० ५१४

४– ऐन्द्रियता (Sensousness)

अनुभूति

बिम्ब हमारे दृष्ट, श्रुत या अनुभूतिपरक जीवन की भावपूरित व्याख्या है। अनुभूतियाँ स्मृति में समाहित होकर जब अभिव्यक्ति के लिये आकार माँगती हैं तब बिम्ब का निर्माण होता है। बिम्ब का अनुभूति से इतना गहरा सम्बन्ध है कि आलोचक व्हैली ने तो बिम्ब की निर्माण-प्रक्रिया को स्मृति के संदर्भ में अनुभूतियों की व्याख्या करना कहा है।[1] काव्य में अनुभूति और स्मृति एकतार में अनुस्यूत होकर बिम्ब द्वारा प्रगट होती है। बिम्ब मात्र काव्य की भाषा नहीं है वरन् कवि का मुखर स्वरूप है।

भाव

भाव बिम्ब की आधार शिला है। भाव के संस्पर्श बिना बिम्ब का निर्माण असंभव है। बिम्ब के सृजन में भाव की इस महत्ता को स्पष्ट करते हुये यीट्स ने लिखा है-"बिंब से भाव को पृथक करना सम्भव नहीं है। भाव ही इसे अभिव्यक्ति का रूप देता है।"[2] काव्य–बिम्ब स्वभावतः सामान्य बिम्ब की अपेक्षा अधिक रंगमय और समृद्ध होता है और उसे यह रंग या समृद्धि भाव से ही प्राप्त होती है।[3] लीविस के अनुसार बिम्ब और भाव का कुछ ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध होता है कि एक ओर बिम्ब भाव-वस्तु के मार्ग को प्रकाशित करता चलता है और दूसरी ओर भाव–वस्तु जैसे–जैसे कविता आगे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे बिम्बों के सामूहिक विकास को नियन्त्रित करती जाती है।[4]

आवेग

बिम्ब का यह तीसरा तत्व ही वह प्रमुख तत्व है जो उसे इतिहासकारों

---

1. "It is the energetic charge of feeling upon the contents of momory, the feelings stamped upon images in direct perceptual experience, which distinguish the poet's images from the images of the ordinary man."
   George Whalley.'Poetic Process' P.76.
2. 'It is not possible to separate an emotion from the image that calls it up and gives it expression.'
   —Yeats, quoted by George Whalley 'Poetic Process' P. 76.
३. ले० डा० नगेन्द्र 'काव्य–बिंब : स्वरूप प्रकार' पृ० ६
4. " .... - the image is a concord between image and theme, the images lighting the way for the theme and helping to reveal it, step by step, to the writer, the image as it thus grows up controlling more andm ore the development of the images." -'The Poetic Image.' P. 88.

अथवा पत्रकारों के विवरण आदि से पृथक कर देता है यद्यपि इतिहास आदि में भी कभी-कभी अनुभूतिमय भाव का ऐसा चित्रण मिलता है जो काव्यगत बिम्ब के अति निकट आ जाता है परन्तु आवेग के अभाव के कारण इसे साहित्यिक बिम्ब नहीं कहा जा सकता । इसके विपरीत कवि काव्य में अपने आप को प्रस्तुत करने मे आवेगपूर्ण होता है, अतः उसके बिम्ब भी आवेगपूर्ण होते हैं । आवेगयुक्त होने के कारण ही यह साहित्यिक बिम्बों की कोटि में आते हैं । इसी कारण कॉलरिज ने कहा था,-"बिम्ब कितना भी सुन्दर क्यों न हो किन्तु जब तक वह कवि की शक्तिशाली वासना या आवेग से सम्पृक्त नहीं हो जाता तब तक कवि की विशिष्टता (व्यक्तित्व, को प्रतिपादित नहीं कर सकता ।"[१] अस्तु, स्पष्ट है कि काव्यगत बिंब जो कवि के व्यक्तित्व का प्रकाशक होता है, का आवेग संयुक्त होना अपरिहार्य है ।

ऐन्द्रियता—

ऐन्द्रियता बिंब की प्रथम और अन्तिम कसौटी है । ऐन्द्रियता ही सर्जनात्मक कल्पना को साधारण वर्णन से विशिष्ट बनाकर बिम्ब की संज्ञा देती है ।[2] यह आवश्यक नहीं है कि बिंब दृश्य ही हो, वह किसी भी ऐन्द्रिय अनुभव की अनुकृति हो सकता है । यद्यपि दृश्य बिंबों की संख्या सर्वाधिक होती है परन्तु वह घ्राणपरक श्रवणपरक आदि भी हो सकते हैं ।

स्पष्ट है कि अनुभूति, भाव, आवेग व ऐन्द्रियता काव्यात्मक बिम्ब के प्रमुख तत्त्व हैं । इन्हीं के द्वारा बिम्ब जीवन्त बनता है और काव्य में विशिष्ट महत्त्व का अधिकारी होता है ।

बिंब और प्रतीक दोनों ही कल्पना के दो रूप हैं, इस कारण उनमें अनेक समानताएँ हैं पर दोनों एक नहीं हैं, दोनों की अपनी भिन्न-भिन्न सीमायें हैं । प्रतीक मूल में बिंब होता है; काव्य में निरन्तर प्रयुक्त होते-होते वह प्रतीक का स्वरूप धारण कर लेता है । Theory of Literature के लेखक 'वेलेक और वारेन' ने इस तथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है- बिम्ब सर्वप्रथम एक रूपक के रूप में प्रयुक्त होता है; किन्तु जब वह निरन्तर उन्हीं निश्चित अर्थों में रूप व प्रतिरूप बनकर

---

1. 'Images, however, beautiful ·········do not of themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by a predominant passion, or by associated thoughts or images awakened by that passion.'

—Coleridge,quoted by C. D. Lewis 'The Poetic Image' P. 19.

२. लेखिका-डा० सुधा सक्सेना-'जायसी की बिम्ब-योजना' पृ० ४१.

उपस्थित होता है तब वह प्रतीक बन जाता है।[1] इसके उदाहरणस्वरूप जायसी के 'पदमावत' को उद्धृत किया जा सकता है। 'पदमावत' में सामान्यतः भ्रमर, कमल आदि शब्द रत्नसेन व पद्मावती के प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुए हैं पर उनका मूल बिंब है। 'पदमावत' में प्रथम बार जहाँ कवि रत्नसेन के लिये भ्रमर शब्द का उल्लेख करता है वहाँ उसका रूप बिंब का ही है। यहाँ भ्रमर के कमल या मालती से प्रेम करने के धर्म को रत्नसेन पर आरोपित किया गया है।[2] आगे चलकर कवि द्वितीय बार भ्रमर व कमल का बिंबवत प्रयोग उस स्थल पर करता है जहाँ पर कि रत्नसेन पद्मावती का रूप वर्णन सुनकर उस पर मोहित हो जाता है।[3] यही कमल, भ्रमर व मालती जो कथा के प्रारम्भ में उपमान के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, कथा के मध्यान्तर धीरे-धीरे प्रतीक का रूप धारण कर लेते हैं। कथा के मध्य भाग से कवि उनका प्रतीकात्मक प्रयोग करने लगता है–

'कँवल उदास जो देखा भँवरा, थिर न रहै अब मालति सँवरा।'[4]

इसमें प्रयुक्त कँवल, भँवरा व मालति क्रमशः पद्मावती रत्नसेन व नागमती के प्रतीक हैं।

इसी प्रकार महाकवि जयशंकर प्रसाद की आरंभिक रचनाओं (आँसू आदि) में भी ऐसे बिंबों का प्रयोग हुआ है जिन्होंने कालान्तर में प्रतीक का रूप धारण कर लिया है; उदाहरणार्थ उपमान 'बसन्त' को लिया जा सकता है-'बसन्त' प्रारम्भ में (आँसू आदि में) 'यौवन का उपमान बनकर प्रयुक्त हुआ है पर परवर्ती रचनाओं

---

1. 'Primarily, we think, in the recurrence and persistence of the 'symbol'. An 'image' may be invoked-once as a metaphor, but if it persistently recurs, both as presentation and representation it becomes a symbol.'

—'Theory of Literature' P. 189,

२. जस मालति कहँ भौंर बियोगी, तस ओहि लागि होइ यह जोगी।
सिंघलदीप जाइ यह पावै, सिद्ध होइ चितउर लै आवै॥
सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल–'जायसी ग्रंथावली' (पदमावत) पृ० २९.

३. हीरामन जो कँवल बखाना, सुनि राजा होइ भँवर भुलाना।
आगे आव पंखि उजिआरा, कहँ सो दीप पतंग कै मारा।
सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल-'जायसी ग्रंथावली' (पदमावत) राजा-सुआ-संवाद-खण्ड, पृ० ३८.-कवित सं० ३.

४. वही, नागमती–संदेश-खण्ड, पृ० १६४, कवित सं० १५.

(कामायनी आदि) में 'यौवन' का प्रतीक बनकर आया है।[1]

हिन्दी-साहित्य की भाँति अंग्रेजी साहित्य में भी प्रतीक और बिंब का यह सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। प्रतीकवादी कवि यीट्स ने शैली (Shelly) के प्रतीक-विधान के सम्बन्ध में बताया है,-"यद्यपि उसकी कविता के असंख्य बिंबों में प्रतीक जैसी कोई निश्चयात्मकता नहीं है परन्तु कतिपय बिम्ब ऐसे अवश्य हैं जो निस्सन्देह प्रतीक हैं और जिन्हें कालान्तर में उसने जानबूझकर अधिकाधिक प्रतीकात्मक अर्थों में प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर दिया है; ऐसे उदाहरणों में उसके गुफाओं और गुम्बदों के बिंबों को प्रस्तुत किया जा सकता है।"[2]

आलोचक T. H. Wickstead ने भी Blake के प्राथमिक गीतों (The songs of Innocence & of Experience) के लिये कहा है—"उसमें यथार्थ प्रतीकात्मकता बहुत कम है पर एक निश्चित अर्थों में निरन्तर प्रतीकात्मक रूपकों का प्रयोग अवश्य है।"[3]

अस्तु, कहा जा सकता है कि किसी भाव या विचार अथवा वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिये कवि का मानस जिस उपमान का चयन करता है, प्रारम्भ में वह उपमान कवि की रचना में बिम्ब—रूप में प्रयुक्त होता है; अर्थ निश्चित हो जाने के कारण कालान्तर में वही उपमान प्रतीक रूप में प्रयुक्त होने लगता है। स्पष्ट है कि काव्य में प्रतीक व बिम्ब अन्योन्याश्रित हैं। दोनों की सामंजस्यमयी अभिव्यक्ति ही काव्य को उत्कृष्टता प्रदान करती है।

---

१. 'मधुमय वसंत जीवन-वन के,
वह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से,
रजनी के पिछले प्रहरों में।' -(कामायनी) पृ० ६३.

2. 'One finds in his poetry besides innumerable images that have not the definiteness (Fixity) of symbols, many images that are certainly symbols and as the years went by, he began to use these with more and more deliberately symbolic purpose such images as caves and towers.'
-Yeats, quoted by Rene Wellek & Austin Warren, 'Theory of Literature' P. 189

3. 'There is comparatively little actual symbolism, but there is constant and abundant use of symbolic metaphor.'
-J. H. Wickstead, Quoted by Rene Wellek & Austin Warren. 'Theory of Literature' P. 189.

यद्यपि प्रतीक मूल रूप में बिम्ब है तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति में भी उनका स्वरूप मिश्रित सा रहता है परन्तु फिर भी दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। दोनों में अनेक समानताएँ होने के साथ-साथ अनेक विभिन्नताएँ भी हैं। बिम्ब प्रतीकात्मक अर्थों में प्रयुक्त अवश्य हो सकते हैं पर वे प्रतीक नहीं हैं;[1] उनमें कुछ मौलिक अन्तर है।

प्रतीक अधिकांशतया जातीय चेतना के आधार पर निर्मित होते हैं जबकि बिम्ब के निर्माण में अपनी चेतना क्रियाशील रहती है; अतः कहा जा सकता है कि बिम्ब जातीय चेतना से उतने सम्पृक्त नहीं हैं जितने व्यक्तिगत चेतना से। यद्यपि बिम्ब के उपकरणों का भी जातीय चेतना से परिचित होना अपरिहार्य है परन्तु वह जातीय चेतना से जीवन प्राप्त नहीं करता। इसके विपरीत प्रतीक जातीय चेतना से जीवन्त बनता है। फूल-शूल, प्रातः-सायं आदि प्रतीकों ने जीवन के प्रवाह में स्नात होकर ही अर्थ प्राप्त किया है। बिम्बों के रूप में यही उपकरण कवि की चेतना एवं वैयक्तिक कल्पना द्वारा अभिनव रूप में प्रस्तुत होकर भी सफल और उत्कृष्ट बन सकते हैं। यद्यपि प्रतीक भी यदा-कदा वैयक्तिक कल्पना के आधार पर निर्मित होते हैं जैसे नये कवियों में, परन्तु इनकी सफलता संदिग्ध ही रहती है; क्योंकि जन-साधारण के मानस में उनका कोई निश्चित अर्थ नहीं होता; इस कारण काव्य में वह विचित्रता का आभास तो अवश्य करा देते हैं पर भाव की अनुभूति उनके द्वारा यथोचित रूप में नहीं हो पाती। इसी कारण काव्य में सामान्यतः उन्हीं प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है जो परम्परा से हमारे जीवन में प्रयुक्त होते आ रहे हैं, साधारण जन-मानस में जिनका रूप निर्मित हो चुका है; कवि को केवल उन्हें ढूँढ़ने की आवश्यकता होती है। डा० हरिद्वारी लाल शर्मा ने एक स्थान पर लिखा है, " ...सच तो यह है कि प्रतीक की सर्जना सम्भव नहीं, इसका आविष्कार होता है, अर्थात् जो पदार्थ है उसी को खोज निकाला जाता है। यह युग-मानस में जन्मता और पलता है। कोई भी पदार्थ प्रतीकात्मकता तभी ग्रहण करता है जब युग-मन अनजाने ही उसे स्वीकार कर ले और प्रतीक का सारा अर्थ या अभिप्राय समझना न पड़े। जब कोई पदार्थ प्रतीक बन जाता है तब वह साधारण होते हुए भी असाधारण अर्थ-ज्योति का विस्तार करने लगता है।"[2]

स्पष्ट है कि प्रतीक यद्यपि बिम्ब के अति निकट है परन्तु दोनों के उद्गम स्थलों में अत्यधिक अन्तर है; एक का उद्गम यदि समाज की चेतना पर निर्भर रहता है तो दूसरे का कवि (व्यक्ति) की चेतना पर।

---

1. 'Images are used symbolically but they are not symbol'.
—Joseph Chiary—'Realism and Imagination P. 111

२—'काव्य और कला' पृ० ७२.

प्रतीक व बिम्ब में दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि प्रतीक सदैव एक भाव या वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है जब कि बिम्ब केवल एक वस्तु की अभिव्यक्त न करके पूरे चित्र, पूरे दृश्य को मूर्तित करता है। इस सम्बन्ध में आलोचक सिसिल डे लुइस का अभिमत है, "एक उत्कृष्ट बिब एक प्रतीक का ठीक उल्टा होता हैं। प्रतीक सांकेतिक होता है और यह केवल एक वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है जैसे एक अंक एक संख्या को प्रदर्शित करता है। काव्य में बिम्ब केवल कभी–कभी ही प्रतीकात्मक अर्थ देते हैं क्योंकि वे अपने संदर्भ के कारण भावनात्मकता से सम्पन्न होते हैं, जिससे प्रत्येक पाठक की भावनाएँ उसके अपने अनुभवों के आधार पर जाग्रत होती हैं।"[१] स्पष्ट है कि प्रतीक में समग्रता का वह गुण नहीं होता जो बिम्ब का एक विशिष्ट गुण है। प्रतीक की सांकेतिकता कविता में तीव्रता तो अवश्य ला देती है पर बिम्ब के अभाव में उसमें समग्रता अथवा भाव या विचार की पूर्णता नहीं आ पाती। इसी कारण उत्कृष्ट रचनाओं में प्रतीक व बिम्ब दोनों का साथ-साथ प्रयोग किया जाता है। प्रतीक यदि काव्य में तीव्रता अथवा भावात्मक गहरायी लाता है तो बिम्ब समग्रता। प्रतीक केवल एक भाव या विचार को प्रस्तुत करता है जबकि बिम्ब भाव और विचार को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करता है।

इस स्वरूपगत भिन्नता के अतिरिक्त बिम्ब और प्रतीक में उद्देश्यगत अन्तर भी परिलक्षित होता है। प्रतीक का उद्देश्य है भाव या विचार का प्रतिनिधित्व करना अथवा संकेत देना जब कि बिम्ब का उद्देश्य है भाव या विचार को मूर्त रूप देकर प्रेषणीय बनाना। प्रतीक में सूक्ष्म अर्थ और प्रभाव की नियोजना रहती है तथा उसके सम्पूर्ण अभिप्राय की व्याख्या अन्य शब्दों में नहीं की जा सकती। प्रतीक में जो अस्पष्टता होती है वही उसके चमत्कार का कारण भी बन जाती है। बिम्ब का सीधा सम्बन्ध अभिव्यक्ति और मानसपटल पर उभरने वाले चित्रों से है।[२] प्रतीक का उपयोग भावों या अर्थों को मूर्तता देने के उद्देश्य से नहीं किया जाता, अपितु स्थूल व साधारण वस्तु को मानसिक एवं आध्यात्मिक गुणों के आधार पर अमूर्त विचारों या भावों का संकेतवाहक मानकर प्रस्तुत किया जाता है। प्रतीक स्थूल विचारों को

---

1. An intense image is the opposite of a symbol. A.symbol is denotative, it stands for one thing only, as the figure represents one unit. Images in poetry are seldom purely symbolic, for they are affected by the emotional vibrations of their context, so that each reader's response to them is apt to be modified by his personal experience.'

C.D. Lewis. Poetic Image P. 40-41.

२–ले०–डा० रामअवध द्विवेदी–'साहित्य-सिद्धान्त' पृ० १५०.

सूक्ष्मता प्रदान करना है। इस रूप में भी प्रतीक और बिम्ब एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं। बिम्ब सूक्ष्म को स्थूल रूप देता है और प्रतीक द्वारा स्थूल को सूक्ष्म बनाया जाता है। प्रतीक में भाव के मानसिक और आध्यात्मिक अर्थों का संकेत रहता है जबकि बिम्ब में भाव को दृश्य बनाने का प्रयास किया जाता है। प्रतीक काव्य में गहरायी और तीव्रता लाने के लिये सांकेतिकता लाता है, स्थूल को सूक्ष्म रूप देता है किन्तु बिम्ब काव्य में प्रेषणीयता व आस्वादनीयता लाने के लिए सूक्ष्म और अरूप भावों को स्थूल और रूपयुक्त बनाता है; यथा–

(क) बिम्ब या समूर्तन चित्र–

'देह में पुलक उरों में भार,
भुवों में भंग, दृगों में बान।

\+ \+ \+

तरुण विटपों से लिपट सुजान,
सिहरती लतिका मुकुलित गात ॥' (पन्त)

(ख) प्रतीक चित्र–

'टूट गया वह दर्पण निर्मम।

\+ \+ \+

खेल रहे थे आँख मिचौनी
प्रिय जिसके पर्दे में 'मैं' 'तुम'।'[१]

इस प्रकार इन उपरोक्त बिम्ब व प्रतीक चित्रों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीक बिम्ब के विपरीत सूक्ष्म स्तर पर प्रभाव सम्पन्न करता है। प्रथम में यौवन–सम्पन्न लतिका का स्वाभाविक चित्र है और द्वितीय में मध्यस्थ दर्पण (मोह) की ओर संकेत, प्रिय से एकात्मकता का रहस्य। इस प्रकार रहस्यात्मक काव्यों में प्रतीकों की आवश्यकता होती है और इस प्रकार के समस्त आलोक काव्यों (Visionary-Poetry) में प्रतीकों का सबसे अधिक और स्वाभाविक प्रयोग होता भी है। "उच्चतम एवं आह्लादपूर्ण तीव्र आध्यात्मिक अनुभव, दिव्य सत्ता से प्रत्यक्ष साक्षात्कार की अनुभूति, रहस्य-भावना इत्यादि की अभिव्यक्ति में प्रतीकों का सहारा अनिवार्य रूप से लेना पड़ता है। उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता साधारण शब्दों तथा रूपकों में नहीं होती। असाधारण भावना एवं अनुभूति का प्रकाशन प्रतीकों के असाधारण माध्यम के द्वारा ही सम्भव है।"[२]

१– लेखिका–श्रीमती महादेवी वर्मा–'नीरजा' पृ० ६४
१– डॉ० रामअवध द्विवेदी–'काव्य में प्रतीक-योजना', लेख; आलोचना, अंक जुलाई' १९५८.

प्रतीक व विम्ब के अन्तर पर विचार करते हुए डॉ० कुमार विमल ने लिखा है, "प्रतीक-सृष्टि जहाँ एक प्रकार का अभिव्यक्ति लाघव है वहाँ विम्ब-विधान प्रायः इन्द्रियग्राह्य होता है और श्रवण तथा स्पर्श की अपेक्षा सामान्यतः दृष्टि से अधिक सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों में विम्ब-विधान एक प्रकार का सफल सम्मूर्तन है जिसमें चित्रोपमा रहती है किन्तु प्रतीक में ऐसी चित्रोपमता अथवा सम्मूर्तन की कोई आवश्यकता नहीं रहती है; इसमें प्रभाव-साम्य या प्रभाविष्णुता को महत्त्व दिया जाता है क्योंकि प्रतीक-विधान में पदार्थ या दृश्य सत्य का चित्र नहीं, उसकी व्यंग्यविशिष्टता अथवा सूक्ष्म प्रभाव का संकेत अभीष्ट रहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विम्ब का अधिक सम्बन्ध शिल्प तथा वास्तु कला से है और प्रतीक का संगीत तथा काव्य से। इसके अलावा विम्ब प्रायः प्रकृति से संश्लिष्ट होते हैं फलस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द तथा नानार्थ व्यंजक होते हैं किन्तु प्रतीक निश्चित अर्थ देते हैं और गतानुगतिक या सामाजिक स्वीकृति-सापेक्ष हुआ करते हैं।"[१]

समग्र रूप में, कहा जा सकता है कि प्रतीक व विम्ब दोनों ही कल्पना के दो रूप हैं और काव्य की उत्कृष्टता के परिचायक हैं परन्तु उनमें अनेक समानताएँ एवं विभिन्नताएँ हैं। यद्यपि प्रतीक मूल रूप में विम्ब ही है पर मूलरूप की समानता होते हुए भी उनमें अनेक रूपगत और उद्देश्यगत अन्तर हैं। प्रतीक यदि जातीय चेतना से अधिक सम्पृक्त है तो विम्ब व्यक्तिगत चेतना से; इस प्रकार इन दोनों के उद्गम स्थलों में भिन्नता है। अस्तु, स्पष्ट है कि प्रतीक व विम्ब कल्पना के दो भिन्न स्वरूप हैं जिनकी सीमा रेखाएँ एक दूसरे को स्पर्श अवश्य करती हैं पर उनके क्षेत्र पृथक-पृथक ही हैं।

१·६ अनुभूति, संकेत और प्रतीक

अंग्रेजी में अनुभूति शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। कभी इसे चेतना (Consciousness) के अर्थ में ग्रहण किया गया है और कभी अनुभव के।[२] संस्कृत, हिन्दी कोशों में भी अनुभूति शब्द का प्रयोग सामान्यतः अनुभव के अर्थ में ही हुआ है।[३] 'Encyclopaedia Britanica' में इसे मानस अनुभव के रूप में स्वीकार किया गया है– "अनुभूति किसी भी मानसिक व्यापार के सम्बन्ध में अनुभव की जा सकती।

१– 'सौंदर्य-शास्त्र के तत्त्व' पृ० २६४

2. Experience (अनुभूति) 'Bhargava's Standard Illustrated Dictionary' (Hindi–English Edition) page 47.

३. ले० वामन शिवराम आप्टे–'संस्कृत-हिन्दी-कोश'-पृ० ४०.
सं. कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव-वृहत्-हिन्दी-कोश-पृ० ५६

है ।[1]मनोविज्ञान के अनुसार यह एक आन्तरिक क्रिया है जो बाह्य परिणाम उत्पन्न नहीं करती । Dictionary of Psychology में अनुभूति की व्याख्या करते हुए कहा गया है, 'अनुभूति वह प्रारम्भिक मानसिक प्रवृत्ति है जो इन्द्रियजनित ज्ञान से भिन्न होती है और जिसके आयाम में सुख–दुख दोनों निहित होते हैं।'[2]

स्पष्ट है कि अनुभूति एक वह प्रवृत्ति है जिसका अनुभव इन्द्रियों के माध्यम से न होकर मानव द्वारा होता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई अनुभूति प्रेषणीयता की आज्ञा से आकार धारण करती है क्योंकि प्रेषणीयता से मानव-मस्तिष्क का सम्बन्ध चिरन्तन है ।[3] अनुभूति की प्राची पर ही कला का उदय होता है, "प्रतीक-योजना का उद्भव भी अनुभूति की सबल और अधिक व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति के लिये ही हुआ ।[4] चूँकि काव्य मानव-जीवन की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का सबसे अधिक सम्पन्न माध्यम है अतः काव्य में प्रतीकों के माध्यम से मानव जीवन की अनुभूतियों का सुन्दर चित्रण हुआ है ।

अनुभूतियाँ कई प्रकार की होती है—साधारण, संयोगजन्य, वियोगजन्य, आध्यात्मिक आदि । इनमें से किस प्रकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है ? यह प्रश्न विचारणीय है । साधारण, संयोगजन्य, वियोगजन्य आदि अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तो साधारण भाषा में ही हो जाती है किन्तु प्रायः साधारण भाषा आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ रहती है । ईश्वर विराट् है अतः उसकी अनुभूति और सौन्दर्य-रूप को साधारण शब्दों के द्वारा सरलता पूर्वक अभिव्यंजित नहीं किया जा सकता । उस अनिवर्चनीय आध्यात्मिक अनुभव को कवियों ने इसी कारण गूंगे का स्वाद बतलाया है । जिस

---

1. 'Feeling may be experienced in connection with any kind of mental process.'

'Encyclopaedia Britanica volume 9, P. 144

2. '......An elementary mental process which differs from sensation and which has the dimension of pleasantness-unpleasantness'.

—'Dictionary of Psychology' P. 137.

3. 'An experience has to be formed, no doubt, before it is communicated, but it takes the form it does largely because it may have to be communicated'.

I. A. Richards. 'Principles of Literary Criticism' P. 25.

४. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक 'हिन्दी अनुशीलन' पृ० ३८८

प्रकार गूंगा मनुष्य केवल संकेतमात्र कर सकता है उसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति को प्राप्त करने वाला व्यक्ति कबीर के शब्दों में "उस अगम्य, असीम एवं अनुपम तत्त्व को देखता है किन्तु प्रयत्न करने पर भी अपने उस अनुभव को प्रकट नहीं कर सकता । मिठाई खा चुके हुए व्यक्ति की भाँति वह मन-ही-मन प्रसन्न होता है और संकेतमात्र किया करता है "[1] वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण करने वाले सभी कवियों को सांकेतिक भाषा का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। 'कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर' तथा पाश्चात्य कवि 'यीट्स' ने भी इसी भाषा का प्रयोग किया है । किसी मरणासन्न महिला का वर्णन करते हुए 'यीट्स' कहते हैं, "जब उस रमणी की आत्मा अपने निर्दिष्ट नृत्य-प्रदेश को उड़ चलती है, मेरे वाणी नहीं, किन्तु युवाकाल के स्वप्नों के बीच बनी असंस्कृत भाषा या एक संकेत है जिसके द्वारा मैं प्रकट करता हूँ कि उसे प्रत्यक्ष होने दो।"[2]

यद्यपि "प्रतीक द्वारा अभिव्यंजित अनुभूतियों में एक अछूती तीव्रता होती है, उसमें कोरा चमत्कार अथवा उचित-वैचित्र्य नहीं होता, बल्कि प्रतीक वस्तु की दुर्बोधता को सुबोधता प्रदान करता है।"[3] किन्तु फिर भी प्रतीकों द्वारा अभिव्यंजित अनुभूतियाँ प्रायः जनसाधारण के लिये दुरूह हो जाती हैं । चूंकि रहस्यवादी कवि अपनी अनुभूति को जनसाधारण तक प्रेषित करना चाहता है अतः वह अपनी अनुभूति को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त कर जनसाधारण को भी उसकी (ब्रह्म की) अनुभूति करा देना चाहता है किन्तु उससे उसके काव्य में दुरुहता आ जाती है ; उदाहरणार्थ रहस्यवादी कवि कबीर की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

'समँदर लागी आगि, नदिया जल कोइला भई ।
देखि कबीरा जागि, मछी रुषा चढ़ि गई ॥'[4]

यहाँ पर समंदर 'हृदय रूपी सागर' का, आगि 'ज्ञान' का, नदिया 'कामना' का, जल कर कोयला होना 'विनष्टता' का, मछी 'कुण्डलिनी' का और रूषा

१—'अविगत सकल अनूपम देख्या कहता कह्या न जाई ।
सैंन करै मन-ही-मन रहसे गूंगे जानि मिठाई ॥'
सं० डा० श्यामसुन्दरदास—'कबीर—ग्रंथावली' पृ० ९०, पद सं० ६.

२—यीट्स अपान ए डइंग लेडी' सेक्सन ६ ।
उद्धृत 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' पृ० ३७६.

३—'साहित्य-संदेश,' लेख- 'प्रतीकवाद'- श्री नारायण लाल परमार-जून, १९६५, भाग २६, अंक-१२.

४—'कबीर—ग्रंथावली,—'ग्यान-बिरह-कौ-अंग, पृ० १२, साखी सं० १०

'ब्रह्माण्ड' का प्रतीक है। इस प्रकार इस साखी का प्रतीकात्मक अर्थ यह हुआ कि हृदय रूपी सागर में ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित हो गयी, जिससे हृदय की समस्त कामनाओं का नाश हो गया और कुण्डलिनी जाग्रत होकर ब्रह्माण्ड में पहुँच गयी; किन्तु जनसाधारण ने इन प्रतीकों को न समझ पाने के कारण इसका सीधा अर्थ ग्रहण किया।

अस्तु, निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जब शब्दों की शक्ति या हमारी भाषा पंगु और अशक्त-सी बनकर उसकी विलक्षणता और अनुभूति को अभिव्यंजित करने में समर्थ नहीं हो पाती तो उसकी अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य सा हो जाता है। प्रतीकों में अभिव्यंजना शक्ति अधिक होती है। इसे प्रयोग में लाने वाला इसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त कर देता है। इससे गुह्यविद्या की मर्यादा बनी रहती है और लोगों को सुगमता से परमात्मतत्त्व का बोध हो जाता है। फारिज के शब्दों में -'इनके (प्रतीकों) के उपयोग से उन बातों की अभिव्यंजना भी पूर्णतः हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी असमर्थ अथवा मूक होती है।'[1] वाणी एवं भाषा की इस असमर्थता के कारण रहस्यवादी कवियों ने अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का विपुल प्रयोग किया है।

संकेत और प्रतीक

संकेत शब्द संस्कृत के सम्+कित् (जानें) धातु से बना है और 'ज्ञापक' अर्थ का प्रतिपादक है। वैसे तो 'संकेत' शब्द का साधारण अर्थ इशारा होता है किन्तु काव्य-शास्त्र में यह शब्द अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध के लिये रूढ़ है।[2] 'साहित्यदर्पण' में संकेत की व्याख्या इस प्रकार की गयी है- 'संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च।'[3]

काव्य-क्षेत्र में संकेत अंग्रेजी भाषा के 'Sign' शब्द के पर्याय रूप में स्वीकार किया गया है। अंग्रेजी के प्रमाणिक कोशों के अनुसार Sign के अर्थ हैं- चिह्न, लक्षण, प्रतीक, एक ऐसी वस्तु जो किसी वस्तु के प्रतिनिधि-रूप में प्रयुक्त

१–R.A Nicholson 'Studies in Islamic Mysticism' P. 25.
२–ले० डा० संसारचन्द्र- 'हिन्दी-कविता में अन्योक्ति-काव्य' पृ० ८६.
३–व्याख्याकार-डा० सत्यव्रत सिंह- 'साहित्यदर्पण' (द्वितीय परिच्छेद, कारिक–४) पृ० ४३

की गयी हो।[1] हिन्दी-भाषा में भी इसका प्रयोग 'चिह्न' आदि के अर्थ में उपलब्ध होता है।

संकेत की भाँति प्रतीक का भी शाब्दिक अर्थ है-अवयव या चिह्न। यह प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत की ओर संकेत करता है अतः यह भ्रान्ति हो जाती है कि प्रतीक और संकेत एक ही है, उनमें कोई अन्तर नहीं है वास्तव में ऐसा नहीं है। यद्यपि सभी प्रतीक एक प्रकार के संकेत या चिह्न ही हैं किन्तु अपने विशिष्ट अर्थ में प्रतीक केवल चिह्न ही नहीं, चिह्न से भी कुछ अधिक है।[2] William-Tindall ने प्रतीक और चिह्न के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है-'चिह्न किसी निश्चित वस्तु का द्योतक होता है जब कि प्रतीक किसी अनिश्चित वस्तु का'[3]

डा० सुधीन्द्र की मान्यता है कि दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रतीक अतीन्द्रिय होने के कारण संकेत भी कहे जा सकते हैं। किन्तु यह मान्यता गलत है क्योंकि सूक्ष्म और रहस्यमय वस्तु का ज्ञान कराने के लिये साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत संकेत समासोक्ति का निर्माण करते हैं क्योंकि इसमें स्थूल, प्राकृतिक अथवा मानसिक आधार वाच्य बनकर किसी अप्रस्तुत परोक्षवस्तु की अभिव्यंजना करता है, फलतः यहाँ वाच्य-प्रस्तुत प्रधान रहता है और अविभाज्यमान वस्तु गौण। प्रतीक और संकेत के इस भेद को डा० जुंग के अनुसार स्पष्ट करते हुए डा० शम्भूनाथ सिंह ने लिखा है, "जब परोक्ष या

---

1. Sign– a symbol, an emblem, a token, mark.
   –Chamber's Twentieth Century Dictionary'P. 1228.
   Edited by William Geddie.
   Symbol, a thing used as representation of something, token, mark.
   Edited by H.W. Fowler & F.G. Fowler. 'The Concise Oxford Dictionary' P0 1185.
2- 'A symbol is always a sign, but it is much more than a sign'. Urban. 'Language & Reality' P. 403.
3- 'The difference is that a sign is an exact reference to something definite and a symbol is an exact reference to something indefinite'.
   –William Tindall 'The Literary Symbol' (Symbol & Society) P.350.

अज्ञात वस्तु का चित्रण किया जाता है वहाँ उस चित्र को प्रतीक कहा जाता है और जब किसी प्रत्यक्ष किन्तु सूक्ष्म और भावात्मक सत्ता की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सामान्य और स्थूल वस्तु के चित्रण द्वारा होती है तो उसे संकेत कहते हैं।"[1] स्पष्ट है कि प्रतीक को संकेत की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर भी प्रतीक और संकेत में अन्तर परिलक्षित होता है। प्रतीक संकेतित वस्तु के तात्त्विक स्वरूप को उपस्थित कर देता है। प्रतीक–पद्धति का सम्बन्ध सान्निध्य से नहीं प्रत्युत सारूप्य और प्रभाव-साम्य से है किन्तु संकेत में किसी भी तात्त्विक सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। वह संकेतित वस्तु के तात्त्विक स्वरूप को उपस्थित नहीं करता, केवल उसका आभास और संकेत ही देता है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि यद्यपि आजकल साधारणतः लोग प्रतीक और संकेत को पर्याय मानने लगे हैं किन्तु वस्तुतः ऐसी धारणा भ्रान्तिमय है। प्रतीक में मूलतः आरोप्य-वस्तु का प्राधान्य रहता है जबकि संकेत में आरोप्य-विषय का; अथवा शब्दान्तर में यों कहा जा सकता है कि प्रतीक प्रस्तुत का स्थानापन्न होता है किन्तु संकेत प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत की ओर इंगितमात्र होता है। विल के अनुसार "किसी अन्य वस्तु का जो हमारे सामने नहीं है, व्यक्त करने वाली वस्तु 'प्रतीक' है केवल संकेत नहीं है, उसका रूप प्रदर्शित करने वाली या उसका बोध कराने वाली वस्तु 'प्रतीक' है।"[2] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने प्रतीक को संकेत से भिन्न मानते हुए लिखा है, "प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेत मात्र है और न उनका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही है। यह उसका जीता-जागता एवं पूर्णतः क्रियाशील प्रतिनिधि है, जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का अवसर मिल जाया करता है"[3]

१.७ प्रतीकों के भेद–विभेद

चूंकि प्रतीक मानव–जीवन के समग्र क्षेत्रों और परिपार्श्वों में परिव्याप्त है अतः मानव अपनी अनेकानेक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से

१. 'छायावाद–युग' पृ० १२७.
२–डा० पद्मा अग्रवाल द्वारा 'प्रतीकवाद' में पृष्ठ २०६ पर उद्धृत
३–श्री परशुराम चतुर्वेदी :
'कबीर साहब की प्रतीक–योजना 'अवंतिका'–
काव्यालोचनांक, वर्ष २, अंक–१, जनवरी, १९५४.

करता हैं। विभिन्न अनुभूतियों के सदृश प्रतीक भी अनेक हैं। यद्यपि इस अनेकमुखी विविध प्रतीकों के भेदों को बता पाना कोई सरल कार्य नहीं है· फिर भी अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने प्रतीकों के भेदों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है, जिनमें से कुछ वर्गीकरण इस प्रकार हैं–

पाश्चात्य विद्वान अरबन ने प्रतीकों को तीन भागों में विभक्त किया है

१. बाह्यस्थ प्रतीक　　(Extrinsic symbols)
२. अन्तस्थ प्रतीक　　(Intrinsic symbols)
३ अन्तर्दृष्टियुक्त प्रतीक (Insight symbols)[1]

परन्तु जैसा कि अरबन ने स्वयं ही संकेत किया है कि अन्तर्दृष्टियुक्त प्रतीक सदैव अन्तस्थ ही होते हैं। अन्तस्थ प्रतीकों से उनका केवल मात्रा का भेद है; अतः मूलतः प्रतीक प्रथम दो ही है। बाह्यस्थ प्रतीक वे हैं जिनका उनके शाब्दिक अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वे अधिकांशतः संकेत मात्र होते हैं। अन्तस्थ प्रतीक वे हैं जिनका उन वस्तुओं के आन्तरिक गुणों से सीधा सम्बंध होता है जिनके वे प्रतीक बन कर प्रयुक्त हुए हैं। धर्म और कला के क्षेत्र में प्रायः इसी प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग होता है। किन्तु यह वर्गीकरण स्थूल दृष्टि से किया गया है। विभिन्न प्रतीकों की प्रवृत्ति का विवेचन करने के लिये इन्हें अधिक सूक्ष्म दृष्टि से विभाजित करने की आवश्यकता हैं।

श्री सी० एम० वारवा ने आकार की दृष्टि से प्रतीकों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है–

१. शब्द प्रतीक ··　शब्द मात्र; यथा-उषा, निशा, संध्या, पतझड़, अमृत आदि
२. वाक्य प्रतीक · ·　मुहावरें एवं लोकोक्तियाँ–जैसे 'चार दिन की चाँदनी फिर अँधियारा पाख' 'आस्तीन का साँप' आदि।
३. प्रबन्ध प्रतीक ······· समासोक्ति, अध्यवसित रूपक।[3]

भारतीय विद्वान आ० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीकों को दो भागों में विभाजित किया है–

१- मनोविकार या भावों को जगाने वाले प्रतीक (Emotional Symbols)

1- 'Language and Reality' P. 414

२- डा० चन्द्रकला द्वारा 'प्रतीक तथा प्रतीकवाद' में पृ० ३३ पर उदधृत।

३- अंग्रेजी में स्पेन्सर का 'फेयरीक्वीन' और ब्राउनिंग का 'आइडिल्स ऑफ दि किंग,' इसी प्रकार के रूपकथात्मक प्रबन्ध प्रतीक महाकाव्य माने जाते हैं। हिन्दी के मध्यकालीन प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रायः सभी रूपकथात्मक काव्य हैं जिनमें सर्वप्रथम जायसी का 'पदमावत' है। आधुनिक कवियों में प्रसाद की 'कामायनी' भी इसी के अन्तर्गत आती है। –'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम भाग) पृ० ६७१.

२- विचारों को जाग्रत करने वाले प्रतीक (Intellectual Symbols)[2]

दूसरे शब्दों में इन्हें भावोद्बोधक और विचारोद्बोधक प्रतीक कहा जा सकता है। प्रतीकों का यह विभाजन अपने आप में विवादमुक्त नहीं है। शब्द के भावोद्बोधक, विचारोद्बोधक दोनों गुण अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि अच्छी कविता में जहाँ विचारोद्बोधन होगा वहाँ भाव-ऊर्मि का उठना भी स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार जिस काव्य में भावोद्बोधन कराने की शक्ति होगी उसमें विचारोद्बोधन की सामग्री अवश्य होगी। विचार रहित काव्य मनोरंजन की वस्तुमात्र होगा और विचारप्रधान भावहीन कविता-दर्शन। किन्तु पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव को ध्यान में रखते हुए शुक्ल जी द्वारा किये गये इस विभाजन में तथ्य है। वस्तुतः कुछ प्रतीक ऐसे होते हैं जिनसे पाठक के हृदय में भावोद्बोधन होता है और कतिपय ऐसे भी है जिनसे भावोद्बोधन नहीं होता। इस तथ्य की पुष्टि कबीर के निम्नलिखित दो उदाहरणों से की जा सकती है-

आँगणि बेलि अकास फल, अण ब्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बांझ का पूत ॥

दुलहिनी गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करहूँ पंचतत्त बराती।
रामदेव मेरे पाहुने आये मैं जोबन में माती।
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ ब्रह्मबेद उचारि।
रामदेव संग भाँवरि लैहूँ, धनि धनि भाग हमार।
सुर तेतीसू कौतिक आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥[3]

'प्रथम उदाहरण में आँगणि' 'संसार' का, बेलि 'माया' का, अकास 'स्वर्ग' का और 'फल' 'ब्रह्म' की प्राप्ति का प्रतीक है। ये प्रतीक विचारोद्बोधक प्रतीक कहे जायेंगे। बिना ब्याई हुई गाय से दूध की आशा रखना, खरगोश के सींग से बाजा बनाना और बन्ध्या स्त्री के पुत्र का खेलना ये कल्पनाएँ किसी भी सहृदय पाठक के हृदय में भावोर्मि नहीं उठायेंगी। प्रस्तुत पंक्तियों को समझने के लिये कबीर के साधनापक्ष को जानना अपरिहार्य है।

१- आ० रामचन्द्र शुक्ल 'चिन्तामणि' (द्वितीय भाग) पृ० १०८
२- सं० बाबू श्यामसुन्दरदास-'कबीर ग्रंथावली' 'बेली कौ अंग' पृ० ८६, साखी सं.४
३- वही, पृ० ८६, पद सं०१.

यह साधनापक्ष के शुष्क विचारों से सम्बन्धित है अतः इसे पढ़कर पाठक के विचारों में ही उद्वेलन होगा, हृदय को स्पर्श करने की सामग्री इसमें नहीं है ।

इसके विपरीत द्वितीय उदाहरण में दुलहिनी (आत्माएँ) भावोद्बोधक प्रतीक है। इसमें परमात्मा और आत्मा में पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित करते हुए मंगलाचार आदि गाने के लिये किया गया अनुरोध विवाह का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है। यह विवाह आध्यात्मिक विवाह है। जैसे-जैसे पाठक पद की अंतिम पंक्ति तक पहुँचता जाता है, उसकी कोमल भावनाएँ तंरगायित होती जाती हैं। यह दूसरी बात है कि पद के मध्य में विचारोद्बोधक प्रतीकों का भी आश्रय ग्रहण किया गया है।

डा० सुधा सक्सेना ने प्रयोगों के आधार पर प्रतीकों के दो प्रमुख भेद किये हैं–१- रूढ़, और २–स्वच्छन्द, और फिर इन दोनों को भी दो-दो भागों में विभाजित किया है–

रूढ़ (१) परम्परागत प्रतीक (२) साम्प्रदायिक प्रतीक
स्वच्छन्द (१) प्राकृतिक प्रतीक (२) आध्यात्मिक या रहस्यवादी प्रतीक।[1]

डा० प्रेम नारायण शुक्ल ने प्रतीकों के चार भेद किये हैं--

१- परम्परागत
२- देशगत
३- व्यक्तिगत और
४- युगगत।[2]

उक्त वर्गीकरण किसी सीमा तक समीचीन कहा जा सकता है पर इन चारों प्रकार के प्रतीकों के भी वर्गीकरण किये जा सकते हैं; अतः यह वर्गीकरण भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों द्वारा किये गये वर्गीकरण में कोई भी वर्गीकरण ऐसा नहीं है जिसे पूर्णतः स्वीकार किये जा सके। भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से प्रतीक के भिन्न-भिन्न वर्ग हो सकते हैं; किन्तु साहित्य में प्रतीक प्रचलन के आधार पर समस्त वर्गीकरणों को ध्यान में रखते हुए हम इस प्रकार का विभाजन कर सकते हैं–

१- सार्वभौम प्रतीक,
२- देशपरक प्रतीक,
३- साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक,

१- 'जायसी की विम्ब-योजना' पृ० १०३-१०४.
२- 'हिन्दी-साहित्य में विविधवाद'-पृ० ४७२.

४- रहस्यात्मक संकेतसूचक,

५- परम्परागत प्रतीक

६- रूपकात्मक प्रतीक और

७- लक्षणामूलक प्रतीक ।

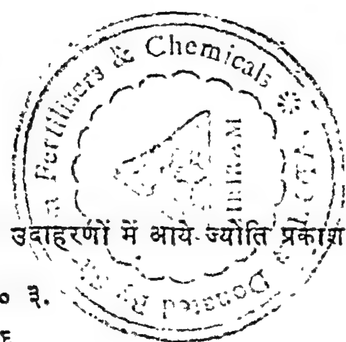
सार्वभौम प्रतीक

कतिपय प्रतीक ऐसे होते हैं जिनके प्रति सभी देशों में, सभी काल एवं युगों में एक धारणा बनी रहती है। वे सर्वत्र समान भाव को ही जाग्रत करते हैं; यथा समस्त देशों में सिंह वीरता का, श्वेत रंग पवित्रता का, उषा सुख, आनन्द और उत्साह का, कांटा दुख, विघ्न एवं बाधा का, फूल आनन्द एवं उत्साह का प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार राष्ट्रीय ध्वजा का अर्द्धोत्तोलित फहराना राष्ट्रीय शोक का प्रतीक है। चूंकि सभी देशों में यह इसी रूप में मान्य है अतः यह सभार्वम प्रतीक के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार ज्योति ज्ञान का और अंधकार अज्ञान का प्रतीक है। सभी देशों, धर्मों एवं भाषाओं में इनका इसी रूप में प्रयोग हुआ है यथा;

"काट अंध-उर के बंधन–स्तर
वहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर
कलुष–भेद–तम हर, प्रकाश भर ....
जगमग जग कर दे।"[1]

इसी प्रकार बंगला-भाषा के कवि टैगोर की निम्नलिखित पंक्तियों में इन प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है–

"ए असीम जगत-जनता
ए निविड़ आलो-अंधकार,
कोटि छायापथ, मायापथ
दुर्गम उदय-अस्ताचल
ए माझे पथ करि
पारिवि कि निये येते
चिर सहचरे
चिर रात्रि दिन
एका असहाय।"[2]



हिन्दी और बंगला-भाषा के उपरोक्त दोनों उदाहरणों में आये ज्योति प्रकाश,

१– ले० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'-'गीतिका' पृ० ३.
२- अनु० श्री रामपूजन तिवारी'एकोत्तरशती' पृ० ६.

आलोक 'ज्ञान' के तथा अन्ध-उर, तम, अन्धकार 'अज्ञान' के प्रतीक हैं। इन प्रतीकों पर देशकाल की जलवायु, परम्परा एवं संस्कृति से कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अस्तु ऐसे प्रतीक सार्वभौम प्रतीक कहलाते हैं। ये प्रतीक संख्या में कम ही होते हैं।

देशपरक प्रतीक

इसके अन्तर्गत वे प्रतीक आते हैं जो देश-काल, वहाँ की सभ्यता, संस्कृति मान्यताओं एवं जलवायु से बाधित होते हैं। भारत में गधा 'मूर्खता एवं मतिमन्दता' का प्रतीक माना जाता है किन्तु अमेरिका में यह 'श्रमशीलता एवं कार्यपरता' का प्रतीक माना गया है।

इसी प्रकार हमारे यहाँ उल्लू को गधे का भाई कहते हैं अर्थात् वह भी 'मूर्खता' का प्रतीक है पर अंग्रेजी साहित्य में वह 'ज्ञान' का प्रतीक है और वह 'ज्ञान-विहंगम' (Wisdom-Bird) कहलता है। राष्ट्र की ध्वजा राष्ट्र का प्रतीक है, यथा-यदि तिरंगा झंडा भारत का प्रतीक है तो लाल झंडा चीन का। कभी-कभी कोई फूल, पशु या अन्य वस्तुएँ भी राष्ट्र की प्रतीक बन जाती हैं, जैसे कमल भारत का, गुलदाउदी चीन-जापान का, कंगारू आस्ट्रेलिया का प्रतीक हो गया है। कल्पवृक्ष चिन्तामणि कामधेनु आदि प्रतीक देशगत ही हैं अर्थात् ये भारत के प्रतीक हैं। इसी प्रकार सिंदूर और चूड़ी 'सौभाग्य' की तथा राखी 'भाई-बहिन के पवित्र संबंध' की प्रतीक है। ये प्रतीक भारत के और विशेषकर हिन्दू-समाज के प्रतीक हैं।

साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक

ये प्रतीक रूढ़ होते हैं। साधना एवं कर्मकाण्डों तथा धार्मिक सम्प्रदायों आदि में स्वीकृत हो जाने के कारण इनके स्वरूप को एक निश्चितता प्राप्त हो जाती है। निश्चयात्मकता होने के कारण उनमें व्यंजनात्मत्कता का अभाव रहता है जिससे वे काव्य में विशेष प्रभावोत्पादक नहीं बन पाते। साम्प्रदायिक-कवियों के काव्य में अधिकांशतया ऐसी ही प्रतीक-योजना हुई है। हिन्दी में नाथों, सिद्धों अदि का सहित्य इस प्रकार के प्रतीकों मे भरा पड़ा है। कबीर, जायसी आदि में भी इसी प्रकार की प्रतीक-योजना उपलब्ध होती है; उदाहरणार्थ कबीर का निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है–

"आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पाणी को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि॥"[१]

इसमें 'अकास' ब्रह्माण्ड का, औधा कुआँ 'सहस्रदल कमल' कोर पनिहारि 'कुण्डलिनी शक्ति' का प्रतीक है। ये प्रतीक हठयोग–साधना के प्रतीक हैं

१– 'कबीर–ग्रन्थावली' परचा को अंग पृ० १६, साखी संख्या ४५.

और समस्त साम्प्रदायिक कवियों (नाथ-सिद्ध, सन्त, सूफी आदि) के काव्यों में इन प्रतीकों का इसी रूप में प्रयोग हुआ है।

रहस्यात्मक संकेतसूचक प्रतीक–

यद्यपि रहस्यात्मक प्रतीक साम्प्रदायिक प्रतीकों के अति निकट हैं परन्तु दोनों में पर्याप्त भिन्नता भी है। साम्प्रदायिक प्रतीक रूढ़ होते हैं, उनमें कवि की अपनी अनुभूति अथवा कवि के अपने चिन्तन और कल्पना का कोई योगदान नहीं रहता; जबकि रहस्यात्मक प्रतीक कवि के अपने चिन्तन और कल्पना से उत्पन्न अनुभूतियों के द्वारा आध्यात्मिक अर्थों और अलौकिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि दोनों ही अलौकिक और अतीन्द्रिय की ओर संकेत करते हैं परन्तु दोनों की निर्माण-प्रक्रिया और रूप में पर्याप्त अन्तर है। निराला जी की कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में रहस्यात्मक संकेतसूचक प्रतीकों की अभिव्यक्ति उल्लेखनीय है–

"अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात।
मचलते हुए निकल आते हो॥
उज्जवल घन-वन अन्धकार के साथ
खेलते हो क्यों ? क्या पाते हो।"[1]

यहाँ प्रपात (झरने) को मानवीय रूप देकर संकेत द्वारा कवि ने प्रच्छन्न रूप से जीव की ओर संकेत किया है। अचल (पहाड़) परोक्ष सत्ता का प्रतीक है। अन्धकार और वन क्रमशः माया और मायोपाधिक जीव को संकेतित करते हैं; अर्थात् प्रतीक द्वारा यहाँ यह बताया गया है कि ब्रह्म से निकलकर उज्ज्वल जीव मायावृत्त होकर संसार में किस तरह मचलता और नाना खेल खेलता है।

परम्परागत प्रतीक

जो प्रतीक आदिकाल से प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं उन्हें परम्परागत प्रतीक कहते हैं। हिन्दी के प्राचीन और मध्यकालीन कवियों की प्रतीक-योजना इसी के अंतर्गत आती है। कबीर ने हंस आदि को मुक्तात्मा के रूप में प्रयुक्त किया है जो परम्परागत है। आधुनिक कवियों में भी यत्र-तत्र ऐसी प्रतीक-योजना उपलब्ध हो जाती है; उदाहरणस्वरूप पन्त जी की कतिपय पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं–

"देखूँ जग के उर की लाली,
किसने रे क्या-क्या चुने फूल
जग के छवि उपवन के अकूल
इसमें कलि किसलय, कुसुम, शूल।"[2]

---

१. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' 'परिमल' (प्रपात के प्रति) पृ० १४१
२. श्री सुमित्रानन्दन पन्त–'गुंजन' पृ० १६

यहाँ प्रयुक्त कलि, किसलय, कुसुम और शूल क्रमशः प्रसन्नता, आनन्द, उल्लास पीड़ा, व्यथा' आदि के चिर परिचित प्रतीक हैं। पन्त जी के ये प्रतीक परम्परागत प्रतीकों की श्रेणी में ही आयेंगे।

रूपकात्मक प्रतीक

भाव-सौंदर्य और भावोन्माद को साधारण शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता; अतः जब कवियों के विचार साधारण भाषा में प्रस्फुटित नहीं हो पाते तब अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें रूपकात्मक प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इन प्रतीकों में स्वतन्त्र प्रतीकों के समान अर्थ की व्यापकता नहीं होती, प्रत्युत ये प्रतीक प्रसंगाश्रित होते हैं। प्रसंग के भिन्न हो जाने पर प्रतीकेय भी भिन्न हो जाते हैं; यथा–

"कै विधि हो नैया लागे पार।
नहि पतवार धार विच भरमत मदमत्त खेवार ॥
झंझा पवन झकोरत जात माच्यो हाहाकार।
वदरीनारायण नारायण करत कृपा करो पार ॥"[1]

प्रस्तुत पंक्तियों में नैया 'जीवन' का प्रतीक है और पतवार 'साधन एवं भक्ति' आदि का; पर निम्नलिखित छन्द में–

"भाग है फूटे सबै विधि सर्वसु लेति है लूटे विलायत सातौं।
ताप रहा परताप जू मानत वैदिक जैनन भात ज्यो नातौ ॥
भारत आरत बूड़त हाय ! दिखाय न कोऊ जो पार लगातौ।
झांझरी नाव चढ़ो नदिया परचण्ड ववन्डर केवट मातौ ॥"[2]

यहाँ नाव भारत के 'दुर्भाग्य' की प्रतीक है, नदी 'अँग्रेजी शासन' काप्रतीक है, ववन्डर 'शोषण एवं विषम परिस्थितियों' का प्रतीक है और केवट, 'अंग्रेज शासकों' का प्रतीक है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रूपकात्मक प्रतीकों में अर्थ की व्यापकता नहीं होती अपितु वे प्रसंग के अनुकूल बदलते रहते हैं।

लाक्षणिक प्रतीक

लाक्षणिकता के आधार पर कविताओं में कतिपय ऐसे उपमान भी रखे जाते हैं जिनमें उपमान के गुण तो पूरे नहीं रहते किन्तु प्रतीकत्व रहता है। ऐसे उपमानों के विषय में प्रायः लाक्षणिक चमत्कार दिखाने के लिए धर्म के स्थान में धर्मी का उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार के प्रयोग शुद्ध प्रतीक नहीं वल्कि लाक्षणिक-प्रतीक

१. 'प्रेमघन-सर्वस्व' पृ० ४२७
२. 'ब्राह्मण-पत्र' सं० १, पृ० ४४

है; यथा–

"उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों की साँस।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में गुण या धर्म का उल्लेख न करके वस्तुओं का ही उल्लेख कर दिया गया हैं जो तुल्य गुण व धर्म के कारण लाक्षणिक प्रतीक का काम करते हैं। हृदय में उल्लास था, यह न कहकर ऊषा का आवास ही बता दिया गया है। मुख से वाणी के उद्‌गार निकलते थे, वे रमणीय होते थे, यह न कहकर अधखिली कली का मृदुल विकास ही उसमें दिखाया गया है। कवि की प्रेयसी का स्वभाव अत्यन्त ही स्निग्ध तथा आह्लादक था, यह बताने के लिए उसने चँदनी की शरण ली। विचारों के भोलेपन के लिए बच्चों की साँस की उपमा गृहीत की गयी है। इनमें उषा शुद्ध प्रतीक है पर शैशव का संसार, मुकुल का मृदुल विकास, चाँदनी का भास तथा बच्चों की साँस के प्रतीकत्व लक्षणा के सहारे व्यक्त हुए हैं।

निष्कर्ष रूप में, हम कह सकते हैं कि यद्यपि अनेकानेक प्रकार के प्रतीकों को वर्गीकृत करने का कार्य अत्यन्त कठिन है फिर भी साहित्य में प्रचलित प्रतीकों के आधार पर हम इन्हें ७ वर्गों-सार्वभौम प्रतीक, देशपरक प्रतीक, साधनात्मक साम्प्रदाकिय प्रतीक, रहस्यात्मक संकेतसूचक प्रतीक, परम्परागत प्रतीक, रूपकात्मक प्रतीक और लक्षणामूलक प्रतीक-में विभाजित कर सकते हैं। हिन्दी के सूफ़ीकाव्य में इन समस्त प्रतीकों का प्रयोग उपलब्ध होता है जिनका विवेचन यथास्थान किया जायेगा।

---

१. श्री सुमित्रा नन्दन 'पन्त'-रश्मिबन्ध' पृ० ३३

२ | प्रतीक-परम्परा का इतिहास

प्राणी अपने भावातिरेक की अभिव्यक्ति के लिये सदैव लालायित रहता है। उसकी इसी लालसा ने भाषा को जन्म दिया है। जब वह अन्य साधनों से अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ हो जाता है तब वह प्रतीकों का आश्रय लेता है। यही कारण है कि विद्वानों ने प्रतीकात्मक भाषाओं को आदि भाषा का एक रूप माना है; यथा'-स्वीट' ने आदि भाषा के तीन भेद किये हैं–

(१) अनुकरणात्मक. (२) मनोभावाभिव्यंजक अथवा (विस्मयादि बोधक,) और (३) प्रतीकात्मक। स्वीट का कथन है कि ये प्रतीकात्मक शब्द अति मनोहर और महत्त्वपूर्ण होते हैं; जैसे लैटिन की 'विवेरे' संस्कृत की 'पिवति' हिन्दी की 'पीना' जैसी क्रियाएँ इस बात की प्रतीक हैं कि आदिम मनुष्य पीने में किस प्रकार भीतर साँस खीचता था।[१] अतः कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रतीकों की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी की मानव-संस्कृति। वस्तुतः प्रतीकवाद की उत्पत्ति उस समय हुई जब आदि मानव ने जीवित वस्तु के नामकरण के लिये प्रथम शब्द का प्रथम बार उच्चारण किया, या उससे भी पहले जब ईश्वर ने जगत् को रूप और नाम दिया। वस्तु के साथ भाव और विचारों का संयोग होता है। अन्तर्जगत् और वाह्यजगत् का पारस्परिक सम्बंध सार्वकालिक और सार्व भौमिक रूप से स्वीकृत है। वास्तव में यही प्रतीकों का मूल स्रोत हैं।[3]

१- (स्वीट का समन्वितवाद) उद्धृत्–डा० श्यामसुन्दर दास -भाषा-विज्ञान, पृ० ३४ ३५, ३६.

2. 'Symbolism began with the first words uttered by the first man, as he named every living thing or before them in heaven, when God named the world into being.'

Anthur Symons 'Symbolist Movement in Literature (Introduction)

3. H. C. Barlaw. 'Essay on Symbolism'. P. 2.

२·१ हिन्दी पूर्व प्रतीक–परम्परा

कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रतीकपद्धति का प्रथम निदर्शन हमें मिश्र की प्राचीन चित्रलिपियों (Hieroglyphics) में मिलता है। काव्य-क्षेत्र के रूप में प्रतीकों का प्रयोग सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य में प्राप्त न होकर वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है।

२·१·१ वैदिक तथा लौकिक संस्कृत काव्य में प्रतीक–योजना

भारतीय प्रतीकों की परम्परा को समीक्षकों ने ऋग्वेद से सम्बन्धित किया है; यथा-मदन वात्स्यायन का कथन है—

'न सूखने वाले जल की उपमा वैदिक ऋषि ने 'जीभ के जल'[१] से दी थी। आग की लपटों की 'सींग घुमाते हुए पशु'[२] से और एक-एक दिन ह्रास करने वाली उषा को 'व्याध-स्त्री[३]' से।[४]

वर्तमान युग में अपनी यौगिक अनुभूतियों के आधार पर वेदार्थ को एक नया आलोक देने वाले योगिराज अरविन्द घोष तो समस्त वैदिक वाङ्मय को ही संध्या-भाषा (प्रतीक-भाषा) में प्रणीत रहस्यात्मक रचनाएँ मानते हैं। उनके अनुसार इस [वेद] की भाषा को ऐसे शब्दों और अलंकारों में आवृत्त कर दिया गया है जो कि एक ही साथ विशिष्ट लोगों के लिये आध्यात्मिक अर्थ तथा साधारण पूजार्थियों के लिये एक स्थूल अर्थ प्रगट करती है।[५] वेद के प्रतीकवाद का आधार यह है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है, एक यात्रा है, एक युद्ध-क्षेत्र है। योगिराज जी ने वेदगत इन्द्र, अग्नि, सोम आदि प्रतीकों के पीछे प्रतीयमान अन्तर्जगत के आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का अपने 'वेद -रहस्य' (The secret of the Vedas) में अतिविस्तृत और विश्वसनीय ढंग से स्पष्टीकरण कर रखा है। वेद व्याख्यानभूत ब्राह्मण ग्रंथों, पुराणों तथा काव्यों में हमें इन्हीं प्रतीयमान अर्थों की विस्तृत व्याख्याएं मिलती हैं; उदाहरणार्थ वर्तमानकाल की सर्वश्रेष्ठ कृति 'कामायनी' के मूल प्रेरक तत्व 'ऋग्वेद' और 'शत–पथ ब्राह्मण' के मंत्र और संदर्भ हैं, वस्तुतः मनु के आख्यान के आवरण में आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं के विश्लेषण की मूलभावना कवि को वेदों से उपलब्ध हुई है।

अतः स्पष्ट है कि आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीक

१- १।८।७, (२) १।१४०।६, (३) १।९२।१०-ऋग्वेद.

४- सपादक-अज्ञेय-'तीसरा सप्तक' पृ० १३५.

५- अनु०-आचार्य अभयदेव विद्यालंकार 'वेद-रहस्य,' पृ० ११, १४, १५,

का श्रीगणेश वैदिक साहित्य से हुआ है। आत्मा और परमात्मा का परस्पर भेद प्रकट करता हुआ 'ऋग्वेद' का यह प्रतीकात्मक चित्र द्रष्टव्य है–

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य–
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।"[1]

यहाँ श्लेष के द्वारा दो सुपर्णो विहगों के प्रतीक में जीव और परमात्मा विवक्षित हैं। विहगों की तरह वे भी सुपर्ण हैं, सुपतनशील शरीर में रहते हैं। सयुज-समान योग वाले हैं। योग सम्बन्ध को कहते हैं। जीवात्मा से माया का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। परमात्मा का अपनारूप ही जीवात्मा है। इस तरह दोनों का अभेद सम्बन्ध है।

दोनों एक वृक्ष (संसार) में रहते हैं पर इनमें से एक (जीवात्मा) तो फलों (कर्मफलों) को भोगता है किन्तु दूसरा (परमात्मा) कोई फल नहीं खाता क्योंकि वह तो आप्तकाम है, साक्षी मात्र बनकर संसार को देखता है। प्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पंत ने उपरोक्त पद के प्रतीकात्मक अर्थ का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है–

'दो पक्षी हैं सहज सखा संयुक्त निरन्तर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर।
एक ले रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण,
बिना अशन, दूसरा देखता अन्तर्लोचन।
दो सुहृदों से मर्त्य अमर्त्य सयोनिज होकर,
भोगेच्छा से ग्रसित भटकते नीचे-ऊपर।
सदा साथ रह, लोक–लोक में करते विचरण,
ज्ञात मर्त्य सबको, अमर्त्य अज्ञात चिरन्तन।
कहीं नहीं क्या पक्षी ? जो चखता जीवन–फल,

१. ऋग्वेद–१।१६४।२०.
हिन्दी रूपान्तर–
'दो विहगों का एक रूप, एक नाम
एक वृक्ष पर दोनों का नित निवास
एक चखता रहता मधुर फलों को,
अन्य देखता रहता बैठा पास।'
रूपान्तरकर्ता–डा० संसार चन्द्र 'हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति, पृ० ८३.

विश्व-वृक्ष पर नीड़ देखता भी है निश्चल।
परम अहम् औ दृष्टा भोक्ता जिसके संग-संग,
पंखों में बहिरंतर के सब रजत स्वर्ण रंग।
ऐसा पक्षी जिसमें हो सम्पूर्ण सन्तुलन,
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु-जीवन।
मानवीय संस्कृति रचभू पर शाश्वत शोभन,
बहिरंतर जीवन विकास का, जीवित दर्पण,
भीतर-बाहर एक सत्य के रे सुपर्ण द्वय,
जीवन सफल उड़ान, पक्ष संतुलन में जो, विजय।"[1]

इसी प्रकार निम्नलिखित पद में शरीर और आत्मा के प्रतीक द्रष्टव्य हैं—

"नव द्वारे पुरे देही हंसोऽलेलायते बहिः.
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥"

इसमें नौ द्वार वाला पुर 'शरीर' का तथा 'हंस' 'चेतन आत्मा' का प्रतीक है।

वेद की जिन ऋचाओं का सीधा सम्बन्ध प्रतीकों से होता है उनका शब्दार्थ यद्यपि गंदा और कुत्सित प्रतीत होता है किन्तु उनका प्रतीकात्मक अर्थ लेने पर उनका यथार्थ रूप हीरे के समान जगमगा उठता है; यथा—

"द्यौर्मे पिता जनिता नाभि रत्र बंधुर्मेमाता पृथिवीमहीयाम।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता-दुहित्तुर्गर्भामाधातो ॥"[2]

अर्थात् मेरे जन्मदाता पिता द्यो हैं, बंधु नाभि है, यह विस्तृत पृथ्वी माता है। यहाँ सीधे पड़े हुए दो चमू (सोमपत्र) के भीतर मध्यभाग में पिता ने पुत्री में गर्भाधान किया।

यहाँ द्यो (पृथ्वी) का विस्तार चिदाकाश का विस्तार है। नाभि और दो सीधे चमूपात्र तीन बिन्दुओं के प्रतीक हैं। नाभि बिन्दु है और दोनों गोल चमू नाद के दो बिन्दु हैं। ये तीनों बिन्दु त्रिशक्ति हैं जो शिव, जिन और बुद्ध के हाथ का त्रिशूल है। अन्य देव विग्रहों के रूप-रंग तथा आयुध शक्ति के रूप में वर्तमान हैं। पिता ने पुत्री में गर्भाधान किया, इसका प्रतीकात्मक अर्थ है कि जिस त्रिशक्ति को विभु ने उत्पन्न किया, उससे ही सृष्टि की रचना की। यहाँ त्रिबिन्दु का बना हुआ त्रिकोण योनि है।

वैदिक साहित्य की भाँति लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी प्रतीकात्मकाता

---

१. ले०—सुमित्रानन्दन पंत-'स्वर्ण किरण' (द्वा सुपर्णा) पृ० ६५
२— 'श्वेताश्वेतर उपनिषद' ३।१८
३— 'ऋग्वेद'—१।२२

उपलब्ध होती है। लौकिक काव्यों में सर्वश्रेष्ठ आदि ऐतिहासिक महाकाव्य (Epic) वाल्मीकि रचित 'रामायण' है। इसमें असुर 'हिंस्र स्वभाव एवं कुत्सित कर्मी मनुष्यों के'[1] एवं वानर 'कन्दराओं में रहने वाले नरों' के प्रतीक हैं। राम-रावण युद्ध 'देव-दानव संघर्ष' का अर्थात् असत् पर सत् की विजय का प्रतीक है। पंत जी ने 'स्वर्ण-किरण' के अन्तर्गत अपनी 'अशोक-वन' नामक गीतात्मक रचना में राम के जीवन के पीछे छिपे हुए इस प्रतीकयुक्त आध्यात्मिक अर्थ का अति सुन्दर ढंग से स्पष्टीकरण किया है।[2] उन्होंने सीता को 'विश्व-चेतना' और राम को 'सत्य' का प्रतीक माना है। रावण 'माया-जड़ भौतिकवाद या भोगवाद' का प्रतीक माना गया है।[3] सीता के रूप में भोगवाद जब सत्य के पास से चेतना का हरण कर लेता है तो चेतना और सत्य दोनों कराह उठते हैं। 'लंका दहन' के रूप में भौतिकवाद का पाप-पंक 'पावक-वाहन' भस्म कर देता है और बाद को भौतिकवाद रावण के निष्प्राण किये जाने प विश्व-चेतना और सत्य का पुनर्मिलन हो जाता है और सर्वत्र सुख-शांति छार जाती है।

इसके पश्चात् द्वितीय ऐतिहासिक पुराण-काव्य 'महाभारत' को लिया जा सकता है। इसमें भी यत्र-तत्र ऐसे प्रतीक उपलब्ध होते हैं जिनसे ऐतिहासिक तथ्यों के साथ घुला-मिला दूसरा अर्थ भी झलक उठता है। ऐतिहासिक कुरुक्षेत्र की भूमि पर हुआ कौरव-पाण्डवों का युद्ध वास्तव में मानव-जीवन में नित्य प्रति होने वाले संघर्ष-अन्तर्द्वन्द का प्रतीक है। महात्मा गांधी के शब्दों में "कुरुक्षेत्र का यह युद्ध तो निमित्त मात्र है। सच्चा कुरुक्षेत्र शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और धर्म-क्षेत्र भी। यदि इसे हम ईश्वर का निवास स्थान समझें और बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्र में कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य ही चलती रहती है और ऐसी अधिकांश लड़ाइयाँ मेरा-तेरा को लेकर अपने-पराये के भेद-भाव से होती हैं। इसीलिए आगे चलकर भगवान कृष्ण अर्जुन से कहेंगे कि 'राग-द्वेष' सारे अधर्म की जड़ है।"[4] 'महाभारत' के प्रतीयमान आध्यात्मिक युद्ध के पात्र दुर्योधन, दुःशासन आदि कौरव मानव-जीवन की आसुरी वृत्तियों के और युधिष्ठिर, अर्जुन आदि पाण्डव दैवी वृत्तियों के प्रतीक हैं। डॉ० फतह सिंह के कथनानुसार "भीष्म का शर-शैय्या-शयन कर्णान्वध या जय-

---

१– निरुक्तकार ने 'असुरा, असुरताः' जो अच्छे कार्यों से विरत, वह असुर' कहा है। उद्धृत डॉ० संसार चन्द्र, 'हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति' पृ० १५६

२– लेखक –सुमित्रानन्दन पन्त 'स्वर्ण किरण' (अशोक-वन) पृ० १५३–१५४)

"गत जीवन ममता ही धर तन,
जन-जन में थी माया रावण।" हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति' पृ० १५८

४– 'गीता-माता' (प्रथम अध्याय, गीता-बोध) पृ० ६–७

द्रथ-वध आदि घटनाएँ तथा हिमालय के लिए महाप्रस्थान आदि ऐसी बातें हैं जो किन्हीं आध्यात्मिक तथ्यों की प्रतीक हैं और जिनमें से कइयों का आधार तो स्पष्टतः ऋग्वेद है।"[१] कृष्ण स्वयं तो अन्तर्यामी भगवान् परब्रह्म के प्रतीक हैं [२] जिनका साक्षात्कार हो जाने पर जीवात्मा का मोह नष्ट हो जाता है।

इसके अतिरिक्त 'महाभारत' में ऐसे भी अनेक आख्यान हैं जो केवल जन्तु-जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें हम श्येन, कपोत, गृद्ध श्रृगाल, मत्स्य आदि जीव-जन्तुओं को मानवों जैसा व्यवहार करते पाते हैं। जन्तुओं का यह मानवीकरण बाद में संस्कृत और हिन्दी जन्तु कथा-साहित्य का आधार बना, जिसमें जन्तुओं के प्रतीकों से मानव को नैतिक शिक्षा दी गयी है।

वेदों एवं काव्यों की भाँति पुराणों में भी बहुत सी बातें प्रतीक-पद्धति में कही गयी हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति प्रतीकात्मक ढंग से वर्णित हुई है। पुराणों में सर्व-श्रेष्ठ माने जाने वाले ग्रंथ श्रीमद्भागवत में भी प्रतीक-योजना उपलब्ध होती है। ग्रंथ के प्रारम्भ में ही माहात्म्य के भीतर छायावाद की तरह प्रतीक-पद्धति से ज्ञान, भक्ति और वैराग्य इन अमूर्त भावों को मूर्त-चेतन रूप में चित्रित करके इन्हें मानवी रूप दिया गया है। वास्तव में 'महाभारत' का 'गीता धर्म प्रकाश'; भागवत धर्म में परिणत होकर भक्ति प्रधान बना हुआ है! 'भागवत' में श्री कृष्ण को महाभारत-युद्ध के एक क्षत्रिय योद्धा के रूप में न दिखाकर पूर्ण परमेश्वर परब्रह्म के रूप में चित्रित किया गया है।

तिलक के शब्दों में "भागवत धर्म में वासुदेव को प्रधान मानकर यह वर्णन किया गया है कि पहले वासुदेव से संकर्षण (जीव) हुआ, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) उत्पन्न हुआ।"[३] इनमें वासुदेव तो स्वयं श्रीकृष्ण का ही नाम है। संकर्षण उनके ज्येष्ठ भ्राता बलराम का नाम है तथा प्रद्युम्न और अनिरुद्ध श्रीकृष्ण के पुत्र और पौत्र के नाम हैं। इस प्रकार यहाँ प्रतीक-पद्धति से चतुर्व्यूह रूपी सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है। वासुदेव रूपी परमेश्वर से अपना ही रूपान्तर संकर्पण रूपी जीव उत्पन्न होता है। फिर संकर्पण से प्रद्युम्न अर्थात् मन; और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार। इस संकेतात्मक सृष्टि प्रक्रिया के अति-

---

२– 'कामायनी–सौन्दर्य पृ० ५६

२– कृषिर्भू वाचकः शब्दः नश्च निवृत्तिवाचकः
तयोरैक्यात् परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।
उद्धृत–'हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति' पृ० १६०

३– 'श्रीमद्भगवद्गीता–रहस्य' अनु० श्री माधव राव जी सप्रे पृ० १९६

रिक्त भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन के गार्हस्थ-अध्याय अपने पृष्ठ-पृष्ठ को परब्रह्म की माया रूपी लीलास्थली बनाये हुए हैं। 'भागवत' में वर्णित रास में पीछे भगवान की दिव्य लीला का रहस्य छिपा हुआ है। लौकिक शृंगार का परिधान पहनकर दाम्पत्य-प्रणयलीन राधिका और गोपियाँ उन मुक्त जीवात्माओं के प्रतीक हैं जो ब्रह्म में मिलने (ब्रह्मैकात्म्य) के लिए आतुर हैं।

पुराण-साहित्य में विभिन्न आख्यान हैं जिनमें अनेक पात्रों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये आख्यान तथा पात्र दोनों प्रतीकात्मक शैली में ही अभिव्यक्त हुए हैं। 'विष्णु पुराण' में भगवान विष्णु के एक ऐसे चित्र का वर्णन उपलब्ध होता है जिसमें उन्हें क्षीरसागर में शेषनाग की शैय्या पर महानिद्रा में शयन करते हुए चित्रित किया गया है। विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर तत्त्व-ज्ञानी ब्रह्मा को विचारमग्न स्थिति में आसीन दिखाया गया है। यह चित्र अत्यधिक प्रतीकात्मक है। इसमें आध्यात्मिक संकेत द्वारा दिव्य रहस्यमयता व्यंजित होती है जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—

अन्धकार	प्रलय का प्रतीक है।
जल	अनन्त देश का प्रतीक है।
शेषनाग	काल का प्रतीक है।
विष्णु	देशकाल के ऊपर सर्वव्यापकत्व का प्रतीक है।
ब्रह्मा	अखिल ज्ञान का प्रतीक है।
कमल	सृष्टि का प्रतीक है।

यहाँ विष्णु से कमल की उत्पत्ति और कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति जड़ और चेतन के पारस्परिक ओतःप्रोत भाव को भी व्यंजित करता है।

पुराण-साहित्य में उल्लिखित ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन त्रिदेवों का वर्णन प्रतीकात्मक रूप से ही किया गया है। विष्णु 'व्यापकत्व' के प्रतीक हैं, ब्रह्मा 'प्रचुर ज्ञान' और 'चार वेदों' के तथा महेश 'शिवत्व' के प्रतीक हैं।

इन त्रिदेवों के सम्पर्क की समस्त वस्तुओं-वाहन, शक्ति, शस्त्र आदि में भी प्रतीकात्मकता विद्यमान है। सम्भवतः आध्यात्मिक रहस्य के सर्वसाधारण में प्रचार और प्रसार हेतु पुराणकारों ने उन्हें प्रतीकात्मकता प्रदान की है। विष्णु का वाहन गरुड़ 'तीव्रगति' का प्रतीक है ब्रह्मा का वाहन 'हंस' 'विवेक और ज्ञान का प्रतीक' है तथा शिव का वाहन नन्दी 'कृपा' का प्रतीक है।

इसी प्रकार इनकी शक्तियाँ भी प्रतीकात्मक हैं— विष्णु की शक्ति लक्ष्मी 'वैभव और विभूति' की प्रतीक हैं। ब्रह्म की शक्ति सरस्वती 'कला एवं ज्ञान' की प्रतीक हैं। शिव की शक्ति पार्वती, दुर्गा, काली 'सुन्दरता, शक्ति एवं भयंकरता' की

प्रतीक हैं।

पुराणों में वर्णित गणेश के स्वरूप-वर्णन में भी प्रतीकात्मकता परिलक्षित होती है। वे सिद्धि देने एवं विघ्नों के विनाश करने के प्रतीक हैं। यही कारण है कि प्रत्येक कर्म के आरम्भ में उनकी वन्दना एव अर्चना की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'विनय-पत्रिका' में जो गणेश वन्दनाकी है उससे उनके स्वरूप की सुस्पष्ट झाँकी का ज्ञान मिल जाता है। यही नहीं, गणेश के आकार-प्रकार से यह भी सिद्ध होता है कि 'गजवदन' वस्तुतः प्रणव (ॐ) है जो सकल स्थावर–जंगमात्मक सृष्टि का मूल है।[1] यही कारण है कि वैदिक साहित्य के 'ॐ' की भाँति लौकिक साहित्य में भी सर्वत्र सर्वप्रथम 'गणेश जी' की ही वन्दना की गयी है।

इन पात्रों के स्वरूप एवं चरित्र वर्णन में उपलब्ध प्रतीकात्मकता के अतिरिक्त पुराणों में वर्णित आख्यान भी प्रतीक-शैली में ही रचित हुए हैं। संभवतः आख्यानों के सारतत्व को गोपनीय रखने के उद्देश्य से प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया गया है। त्रिपुरासुर की कथा में त्रिपुर मानव के 'अहम्' का प्रतीक है। चन्द्रमा के द्वारा अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के अपहरण की कथा में भी प्रतीकात्मकता है। इसके प्रतीक इस प्रकार हैं–

गुरु बृहस्पति	विद्यादाता गुरु के प्रतीक हैं।
चन्द्रमा	योग्य शिष्य का प्रतीक है।
तारा	विद्या की प्रतीक है।
बुध	बोध का प्रतीक है।

इन प्रतीकों के माध्यम से इस आख्यान में बताया गया है कि योग्य शिष्य गुरु से विद्या ग्रहण कर इसे अपने बोध का विषय बनाता है।

१- देखिये केशवदास कृत रसिकप्रिया १।१

'एक रदन गजवदन'·········की सरदार कवि कृत टीका-'इहां जो केशव गज वदन कह्यो है तामें यह जनावत कि प्रणवरूप गजानन है। जो दोई कुम्भ तेई हैं तीन के अंक की रीत ते। तीन को अंक मध्य में हीन होई है जानो। कुम्भ जो उठे हैं सोई तीन के अंकवत्। अरु शुण्ड जो है सोई है प्रणव को दण्ड। आशय यह कि प्रथम प्रणव उच्चारण कियो।' –रसिक प्रिया सटीक, खेमराज श्रीकृष्णदास

"गाइए गणपति जगवन्दन, संकर सुवन भवानीनन्दन।
सिद्धि सदन गजवदन विनायक, कृपा–सिन्धु सुन्दर सब लायक।
मोदक प्रिय मुद मंगलदाता, विद्या-वारिधि बुद्धि-विधाता।
माँगत तुलसीदास कर जोरे, बसहु राम सिय मानस मोरे॥"
—विनय-पत्रिका (प्रथम पद) पृ० ३ –टीकाकार—वियोगीहरि

इसी प्रकार श्रीकृष्ण से सम्बन्धित चीरहरण, रासलीला आदि कथाएँ भी प्रतीकात्मकता लिए हुए हैं। इन कथाओं का यदि प्रतीकार्थ ग्रहण न किया जाय तो ये केवल अश्लील कहानियाँ मात्र रह जायेंगी। महाकाव्यों तथा पुराणों के पश्चात् लौकिक संस्कृत में लिखित गद्य-पद्य काव्य आता है। इस क्षेत्र में कला के पुजारी महाकवि कालिदास अग्रगण्य हैं। इनका 'कुमार-सम्भव' एक रूपक काव्य है। प्रारंभ में ही कवि ने हिमालय पर्वत को देवात्मा बतलाकर उसका चेतनीकरण कर रखा है। डॉ० फतहसिंह के विचारानुसार पर्वत का अर्थ है 'पर्ववान्' पहाड़ में अनेक पर्व होते हैं इसीलिये उसे पर्वत[1] कहा गया है। पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में भी अनेक पर्व हैं अतः वैदिक-साहित्य की भाँति 'कुमार संभव' में भी पर्वत इन दोनों के प्रतीक रूप में आया है। इस पर्वत की कन्या पार्वती वही शक्ति है जो पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में एक सी व्याप्त है और जिसको वैदिक साहित्य में 'हेमवती उमा' या केवल 'उमा' कहा गया है। यह पर्वत बड़ा भारी प्रजापति है जिसके राज्य में यज्ञ अनेक देवकर्मों द्वारा विस्तार पाता है परन्तु असुरत्व के प्रतीक तारक आदि से आक्रान्त होकर इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इस तारक का वध उक्त 'उमा' तथा 'अजरामर' शिव ब्रह्म के संयोग से उत्पन्न 'कुमार' ही कर सकता है; अतः इस दिव्य संयोग तथा कुमार-जन्म को लक्ष्य करके ही 'कुमार-संभव' लिखा गया है।[2]

गद्य-काव्यों के अतिरिक्त लौकिक-संस्कृत में रचित नाटकों में भी प्रतीक-योजना के दर्शन होते हैं। कुछ समय हुआ प्रो० ल्यूडर्स के प्रयत्न से तुरफन (मध्य-एशिया) में ताड़ पत्रों पर लिखित प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष (प्रथम शती ई०) के शारिपुत्र-प्रकरण के कतिपय खण्डित पृष्ठ उपलब्ध हुए हैं। प्रतीक-पद्धति में लिखा हुआ संस्कृत का यह प्रथम प्रतीकात्मक नाटक (Allegorical Drama) है। इसमें बुद्धि, कीर्ति, धृति आदि अमूर्त मनोवृत्तियाँ मानवी-चोला पहनकर परस्पर बातें करती हुई दृष्टिगत होती हैं।

इस बौद्ध नाटक के पश्चात् महाकवि कालिदास के नाटकों में प्रतीक-योजना परिलक्षित होती है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय[3] अपने 'कालिदास' शीर्षक ग्रंथ में कालि-दास को राजा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समसामयिक सिद्ध करते हुए उनके 'विक्रमो-र्वशीय' को प्रतीकात्मक नाटकों में गिनते हैं। इस विषय में उनके प्रमाण और तर्क पुष्ट हैं। उनके विचारानुसार साहसिक चन्द्रगुप्त का दूसरा विरुद है और जिस साहस का कार्य उसने किया है उसी का प्रतीकात्मक विवरण कालिदास का 'विक्रमो-

---

१—'पर्ववान् पर्वतः पर्वतपुनः प्रणाते' —निरुक्त-१।६।२०.

२—'कामायनी-सौन्दर्य—पृ० ५६

३—ले० श्री चन्द्रबली पाण्डेय- 'कालिदास' पृ० १४-१५.

वंशीयं' है। नाटक के नामकरण में उर्वशी के साथ पुरुरवा नाम न देकर श्लिष्ट विक्रम शब्द देना विक्रमादित्य की ओर स्पष्ट संकेत है। पाण्डेय जी का विचार है कि 'विक्रमोर्वंशीय' का विक्रम 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' का और उनकी प्रेयसी उर्वशी 'ध्रुवदेवी' का प्रतीक है। महासेन के सैन्यपत्य की संगति 'कुमार गुप्त' से बैठ जाती है 'ज्येष्ठ माता' प्रभावती गुप्त की माता 'कुबेर नागा' का प्रतीक है। इसी प्रकार नाटक का 'महेन्द्र' चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ भ्राता 'रामगुप्त' का प्रतीक है जो इतना कायर रहा कि शकाधिपति से पराजित होकर उसकी माँग पर अपनी परम सुन्दरी पत्नी ध्रुवदेवी को उसे देने को कटिबद्ध हो गया था। शकाधिपति का प्रतीक दानवकेशी है जो उर्वशी को भगा रहा था।

'विक्रमोर्वशीय' के पश्चात् प्रतीकात्मक नाटकों में कृष्णमिश्र के 'प्रबोध चन्द्रोदय' शीर्षक नाटक का स्थान स्तुत्य है। इसके पश्चात् तो संस्कृत नाट्य-साहित्य में प्रतीकात्मक नाटकों की बाढ़ सी आ गयी। यशपाल (१२वीं शती ई०) का 'मोह-पराजय', परमानन्द दास (१५७२ ई०) का 'चैतन्य-चन्द्रोदय' भूदेव शुक्ल (१६वीं शती ई०) का 'धर्मविजय', वेद कवि का 'विद्या परिणय' तथा इसी तरह के अन्य नाटक जैसे 'अमृतोदय', 'सूर्योदय', 'यतिराज-विजय', आदि इसी परम्परा में आते हैं।

इन प्रतीकात्मक नाटकों के अतिरिक्त जो अन्य नाटक प्रणीत हुए हैं उनमें भी यत्र-तत्र प्रतीकों का प्रयोग हुआ है; यथा कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में राजा के लिये भ्रमर का प्रतीक अपनाया है। विदूषक ने अनेकों बार राजा के लिये भ्रमर शब्द का प्रयोग किया है। पाँचवें अंक में रानी हंसपदिका मधुकर के प्रतीक में राजा को यों उपालम्भ देती है—

'अभिनव मधुलोलुपो भवांस्तथा परिच्युम्ब्य: चूतमंजरीम्।
कमल वसति मात्र निवृत्तो मधुकर! विस्मृतोऽसि एनांकथम्॥'[1]

यहाँ रसाल मंजरी 'शकुन्तला' का, कमल 'रानी हंसपदिका' का और मधुकर 'राजा दुष्यन्त' का प्रतीक है। इन प्रतीकों के माध्यम से इसमें तपोवन में शकुन्तला का नवयौवन भोगकर बाद को राजधानी में रानी के सहवास मात्र से संतुष्ट हुए राजा

१—टीकाकार-श्री गुरु प्रसाद शास्त्रिण: 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' पृ० २३६.
हिन्दी रूपान्तर—

'नव मकरन्द लोभ में अन्धे,
चूम रसाल-मंजरी वैसे ।
कमल-वास में ही रत मधुकर
भूल गया अब उसको कैसे ?'

रूपान्तर कर्ता—डा० संसार चन्द्र—'हिन्दी—काव्य में अन्योक्ति' पृ० १०१.

को सहसा शकुन्तला को भुला देने का उलाहना दिया जा रहा है। वस्तुतः संस्कृत–साहित्य में और बाद में हिन्दी-साहित्य में भी भ्रमर पुरुष की रस-लोलुप चंचल वृत्ति का प्रतीक बनकर आया है। पुरुष की स्वार्थ-वृत्ति तथा प्रेम की एकनिष्ठा के अभाव का प्रतिरूप भ्रमर है।

गद्य-काव्यों के पश्चात् लौकिक संस्कृत में प्रणीत गीति-काव्यों में भी प्रतीक-योजना देखी जा सकती है। कालिदास कृत 'मेघदूत' संस्कृत गीति–काव्य की श्रेष्ठ कृति है। इसमें मानव के अन्तर्जगत् की कोमल अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब लेकर भावाक्षिप्त प्रकृति का मानवीकरण करते हुए प्रतीक-पद्धति को अपनाया गया है।

इसी प्रकार जयदेव का 'गीत–गोविन्द' भी प्रतीक–पद्धति पर प्रणीत हुआ है। यद्यपि यह एक श्रृंगारिक गीति–काव्य है किन्तु प्रारम्भ में कवि द्वारा की गयी वन्दना यह स्पष्ट व्यंजित करती है कि इसमें कवि ने कृष्ण को 'विष्णु' का और राधा को 'लक्ष्मी' का प्रतीक माना है और इनके (राधा-कृष्ण के) माध्यम से प्रेमा–भक्ति की जो पावनदायिनी निर्मल धारा प्रवाहित की है उसका एक–एक विन्दु प्रेमियों तथा भक्तों के हृदय को उद्वेलित करने वाला है।

पुराणों, गद्य-काव्यों, नाटकों तथा गीति काव्यों के अतिरिक्त 'नीतिशतक' 'श्रृंगारशतक' आदि फुटकल रचनाओं में भी प्रतीक-योजना उपलब्ध होती है; उदाहरणार्थ भर्तृहरि द्वारा लिखित निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत है—

'रे रे चातक! सावधान मनसा मित्रं क्षणं श्रूयता
मम्भोदा वहवों हि सन्ति गगने सर्वेपि नैतादृशाः
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथाः
यं यं पश्यसि तस्य-तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥१

इस श्लोक में चातक को सावधान करते हुये कहा गया है कि हे चातक जितने मेघ हैं वे सभी वर्षा करने वाले नहीं हैं, अतः तू बिना सोचे-समझे दीन वचन मत बोल। यहाँ चातक ऐसे दीन व्यक्ति का प्रतीक है जो द्वार-द्वार याचना करता फिरता है तथा मेघ समृद्ध व्यक्ति का प्रतीक है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि प्रतीक सृष्टि के प्रारंभ से ही मानव की भावाभिव्यक्ति के माध्यम रहे हैं और यही कारण है कि अभिव्यक्ति के प्रमुख स्थल साहित्य-क्षेत्र में उन्हें विशेष स्थान मिला है। भारतीय साहित्य के मूल वैदिक और लौकिक संस्कृत–साहित्य में प्रतीकों का विशद प्रयोग इसका सुन्दर उदाहरण है।

२.२.२. प्राकृत तथा अपभ्रंश-साहित्य में प्रतीक-योजना

लौकिक संस्कृत-साहित्य की भाँति प्राकृत–साहित्य में भी प्रतीकों का प्रयोग

१–अनु० एक स्नातक 'नीतिशतकम्' पृ० ५२.

उपलब्ध होता है। इसमें भी नायक के लिये भ्रमर का प्रतीक अपनाया गया; उदाहरणस्वरूप निम्नांकित गाथा प्रस्तुत की जा सकती है–

"केसर रअ विच्छइडे मअरन्दो होइ जेत्तिओ कमले,
जइ भ्रमर ! तेत्तिओ अण्णहिँऽपि ता सोहसि भमन्तो ॥" [1]

इसमें भ्रमर पतिव्रता पत्नी को छोड़कर अन्यासक्त किसी ऐसे खलनायक का प्रतीक बनकर आया है जिसे मनुष्य की पहिचान नहीं।

इसी प्रकार अशिक्षित पारखियों के पल्ले पड़े हुए मरकत को प्रतीक बनाकर मूर्ख-मण्डली में फँसकर दिन-दिन क्षीण होते हुए किसी गुणी पुरुष को लक्ष्य करके कहा गया है–

"दुस्सिक्खिअरअणा परिक्खएहिँ घिट्टोसि पत्थरे तावा,
जा तिलमेत्तं वट्टसि मरगअ ! का तुज्झ मुल्ल कहा।" [2]

इसी भाव को लेकर रीतियुगीन कवि दीनदयाल गिरि ने मरकत के प्रतीक में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं–

"मरकत पामर कर परी तजि निज गुन अभिमान।
इतै न कोऊ जौहरी ह्याँ सब बसैं अंजान ॥
ह्याँ सब बसैं अजान काँच तोको ठहरावैं,
तदपि कुसल तू मान जदपि यह मोल विकावैं ॥
बरनैं दीनदयाल प्रवीन हृदै लखि दरकत।
अहो करम गति गूढ़ परी कर पामर मरकत ॥" [3]

१–स० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी–'गाथा सप्तशती' पृ० ९३ (४।८७)
हिन्दी रूपान्तर–केसर-रज-समूह में संभृत,
जितना है कमल में मकरंद।
उतना अन्य किसी में यदि तो,
घूम खुशी से मधुकर स्वच्छन्द।
रू० क०-डा० संसार चन्द्र 'हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति' पृ० १०४.

२–'गाथा-सप्तशती' पृ० १५१ (७/२३)
हिन्दी रूपान्तर-
अकुशल रत्न परीक्षक तुझको यों ही
पत्थर पर घिसते-घिसते जायेंगे।
तिल मात्र शेष रह जायेगा मरकत,
फिर तो शून्य तेरा मूल्य आँकेंगे।"
रूपान्तर-कर्ता-डा० संसार चन्द्र 'हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति'-पृ० १०४.

३–'दीनदयाल गिरि-ग्रन्थावली' (अन्योक्ति-माला) पृ० १०७.

प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश-साहित्य आता है। प्राकृत संस्कृत से अनुबन्धित भाषा है किन्तु अपभ्रंश संस्कृत से मुक्त सर्वथा एक दूसरी ही भाषा है जिसका विकास प्राकृत से हुआ है। यह अपने समय में (द्रविड़ क्षेत्र को छोड़कर) सम्पूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा रही है। मूलतः सार्वदेशिक रूप रखती हुई भी प्राकृत भाषा भाषा-विज्ञान शास्त्रियों के अनुसार अपने प्रान्तीय भेदों को लेकर स्वतंत्र अपभ्रंशों में विकसित हुई। पैशाची, व्राचड़, शौरसैनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि अपभ्रंश भाषा के भेद माने गये हैं।[१]

अपभ्रंश-साहित्य का निर्माण-काल ८वीं शती से १३वीं शती तक स्वीकार किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि अपभ्रंश-साहित्य बहुत समय तक अंधकार के गर्त में विलीन रहा किन्तु अब उसकी प्रकाशित अथवा अप्रकाशित सामग्री अधिक मात्रा में ज्ञात हो चुकी है। श्री नामवर सिंह ने अपने 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' शीर्षक ग्रंथ में अपभ्रंश भाषा के दोहा-कोश,-परमात्मा-प्रकाश, सनेस-रास, कुमार-पाल-प्रतिबोध, प्रबन्ध चिन्तामणि आदि मुक्तक रचनाओं का विवेचन करने के साथ-साथ १० प्रबन्ध काव्यों की सूची प्रस्तुत की है-

१	पउम चरिउ या रामायण	स्वयंभू	७६० ई०
२	जसहर चरिउ	पुष्पदंत	९५९-७२ ई०
३	णाय कुमार चरिउ	पुष्पदन्त	६५६-६२ ई०
४	करकराडु चरिउ	कनकामर	६७५-१०२५ ई०
५	सनत्कुमार चरित	हरिभद्र	११५९ ई०
६	सुपासणाह चरिउ (अंशतः अपभ्रंश)	लक्ष्मण मणि	११४२ ई०
७	नेमिनाह चरिउ	हरिभद्र	११५६ ई०
८	कुमारपाल चरित (अंशतः अपभ्रंश)	हेमचन्द्र	१०८८-११७२ ई०
९	भविसयत्त कथा	धनपाल	१००० ई०
१०	महापुराण	पुष्पदन्त	६५६-७२ ई०[२]

इस प्रकार अपभ्रंश में वज्रयानियों की साधनात्मक रहस्योक्तियों के अतिरिक्त स्वयंभूदेव रचित 'रामायण' (पउम चरिउ) जैसे महाकाव्य भी हैं जिनपर प्रत्येक भाषा एवं साहित्य को गर्व हो सकता है। स्पष्ट है कि अपभ्रंश साहित्य जहाँ विशाल एवं विविधात्मक है वहाँ सरसता, अनुभूति एवं प्रतीकों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। हैमव्याकरण देवसेन का सानय-धम्म 'दोहा' सोमप्रभ 'सूरि रचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' तथा स्फुट पद आदि में अनेक मनोहर एवं मार्मिक प्रतीकों का प्रयोग

१ ले० डा० भोलानाथ तिवारी 'भाषा विज्ञान' पृ० १८६-८७

२ 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' पृ० १६८-६९.

हुआ है। 'कुमारपाल प्रतिबोध' चार संदर्भों में विभक्त है—

प्रथम संदर्भ का नाम 'जीवमनः करण संलाप कथा' है। यह संदर्भ एक छोटा-सा रूपक काव्य है जिसका कथानक इस प्रकार है—

'देह' नामक नगर है जिसमें आयु कर्म का आकार खिचा हुआ है। यहाँ सुख-दुख,क्षुधा-तृषा, घृणा, हर्ष-शोकादि बहुत से लोग निवास करते हैं। आत्माराम इस नगर का राजा है जिसकी पटरानी बुद्धि देवी है। एक बार मन और आत्मा में (राजा में) संवाद छिड़ जाता है। मन जीव की निष्फलता बतलाता है जिसके लिये सारा बखेड़ा और अन्याय संसार में व्याप्त है। वह पाँचों कर्माध्यक्षों (ज्ञानेन्द्रियों) की निरंकुशता की भी शिकायत करता है। राजा अपने विविध अनुभव सुनाकर और उन सब में समन्वय स्थापित करने का मंत्र बताकर संवाद समाप्त कर देता है। 'सूरि' का मानसिक भावों का यह मानवीकरण उसी तरह प्रतीकात्मक है जैसा कि संस्कृत में कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध-चन्द्रोदय' अथवा हिन्दी में नूर मुहम्मद की 'अनुराग-बाँसुरी' एवं प्रसाद की 'कामना' का है।

इसके अतिरिक्त अपभ्रंश-साहित्य के दोहों में भी यत्र-तत्र प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है; उदाहरणस्वरूप एक-दो पद प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

'भमरा ! एत्थु विलिम्बि—उइ के वि दियहडा विलम्बु।
घण—पत्तलु छाया—बहुलु फुल्लई जाम कयम्बु ॥" [1]

इसमें भ्रमर के प्रतीक में दुर्दिनग्रस्त व्यक्ति को आश्वासन दिया गया है। इसी भाव को लेकर गिरधर कविराय द्वारा लिखित निम्नलिखित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

"भौंरा वह दिन कठिन है, दुख-सुख सहै शरीर।
जब लगि फूलै केतकी, तब लगि विरम करीर ॥
तब लगि विरम करीर, हर्ष मन में नहि कीजै।
जैसी बहै बयार पीठि तब तैसी दीजै।
कह गिरधर कविराय होय, जिन-जिन में बौरा।
सहै दुक्ख अरु सुक्ख एक सज्जन अरु भौंरा ॥"[2]

१–ले०श्री नामवर सिंह– 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' पृ०३४५.
हिन्दी रूपान्तर— 'इस नीम डाल पर भौरे ! तुम
विश्राम करो कुछ दिन तब तक।
पत्तों और घनी छाया से—
नीप न होता विकसित जब तक ॥'
रूपान्तरकर्ता–डा० संसार-चन्द्र–'हिन्दी–काव्य में अन्योक्ति'–पृ० १०७.
२–सं०–खेमराज श्रीकृष्णदास–'कुण्डलियाँ' पृ० २०.

इसके अतिरिक्त सुप्रभ की निम्नलिखित पंक्तियों में भी प्रतीक का प्रयोग द्रष्टव्य है–

"सुप्पउ भणइ रे धम्मियहु, खसहु मधम्म णियाणि।
जो सुरग्गभि धवलहरि ते अंथवण मसाण॥"[१]

अर्थात् सुप्रभ कहते हैं कि हे धार्मिकों! जो सूर्योदय पर शुभ गृह थे वे सूर्यास्त पर श्मशान हो गये। यहाँ पर अंतिम पंक्ति सांसारिक विषयों की अस्थिरता एवं संसार की दुःखमयता का प्रतीक है।

अस्तु, स्पष्ट है कि साहित्य-रूप में प्रतीकों का उद्भव वैदिक युग में ही हो चुका था जो आगे चलकर लौकिक संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश-साहित्य में पल्लवित और पुष्पित हुआ।

२.२ सूफ़ी-काव्य-पूर्व हिन्दी-काव्य में प्रतीक–परम्परा

"यों तो किसी भी भक्ति–भावना में प्रतीकों की प्रतिष्ठा होती है पर वास्तव में तसव्वुफ में उसका पूरा प्रसार है। प्रतीक सूफ़ी-साहित्य के राजा हैं। उनकी अनुभूति के बिना सूफ़ियों के क्षेत्र में पदार्पण करना एक सामान्य अपराध है। प्रतीकों के महत्त्व को समझ लेने पर तसव्वुफ एक सरल चीज हो जाती है। उसके भेद आप ही खुल जाते हैं। किन्तु प्रतीकों से अनभिज्ञ रहने पर सूफ़ियों का मर्म मिलना तो दूर रहा, उनकी एक वात भी समझ में नहीं आती।"[२] पाण्डेय जी के इस कथन से स्पष्ट है कि सूफ़ी-साहित्य में प्रतीकों का अतिशय प्रयोग हुआ है। यद्यपि हिन्दी-सूफ़ी-साहित्य में सूफ़ियों की प्रेम–सौन्दर्यपरक साधना के प्रतीकों का ही वाहुल्य है किन्तु इसके साथ ही इन प्रेमाख्यानों में भारतीय साधना के (कुण्डली–योग, हठयोग, तंत्र–मंत्र-सम्बन्धी साधना के) प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है। ये प्रतीक हिन्दी के सूफ़ी–कवियों को सिद्ध, नाथ एवं संत-काव्य से उपलब्ध हुए हैं। अतः हिन्दी के सूफ़ी–काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों का अध्ययन करने के पूर्व हिन्दी काव्य की प्रतीक परम्परा पर एक दृष्टि डाल लेना अधिक उपयुक्त होगा–

२.२.१ सिद्ध तथा नाथ-काव्य में प्रतीक–योजना

हिन्दी–साहित्य में प्रतीक–भावना का उदय व विकास जानने के लिये हमें सर्वप्रथम 'सिद्ध–सामन्त युगीन जन-साहित्य' पर दृष्टिपात करना होगा जो हमारे काव्य में विशाल भवन की नींव में पत्थर की छोटी–छोटी गिट्टियों के रूप में बिखरा हुआ है। योग-मार्ग की गूढ़ता को प्रकट करने के लिये सिद्ध-कवियों ने प्रतीकात्मक शैली को अपनाया। ये कवि बौद्धधर्म से प्रभावित होने के साथ-ही-साथ योग–साधनात्मक तंत्र विद्या से प्रभावित थे।

१–ले० प्रो० हरिवंश कोछड़–'अपभ्रंश-साहित्य' पृ० २७६.
२–ले०–श्री चन्द्रबली पाण्डेय–'तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत' पृ० ६७.

यही कारण है कि बौद्धों के प्रतीकों के साथ तांत्रिकों के बहुत से प्रतीक भी इन्होंने ग्रहण किये। "वे सिद्धों की चिन्तन-परम्परा (प्रतीक-परम्परा) विज्ञानवादी दर्शन और योगाचार की गाढ़ साधनाओं से प्रभावित है।"[1] विज्ञानवादी ग्रंथों में जिन अप्रस्तुतों तथा उपमानों के द्वारा विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त समझाया गया है उनमें से कई अप्रस्तुत ज्यों-के-त्यों सिद्ध-साहित्य में उपलब्ध होते हैं; उदाहरणार्थ भुसुकुपा ने अपने पदों में इस संसार के लिये मरु-मरीचिका, गंधर्व-नगरी, रज्जु में सर्प, दर्पण में प्रतिबिम्ब, वन्ध्यासुत, बालुका तैल, शशाशृंग आदि अप्रस्तुत (प्रतीकों) का प्रयोग किया है। ये प्रतीक सिद्धों के अपने नहीं हैं वरन् उन्होंने इन्हें विज्ञानवाद से लिया था।

अस्तु, इन प्रभावों के कारण इनके साहित्य में गुह्यता का समावेश साधारण-रूप से हो गया है। अपनी अंतर्मुखी साधना के कारण इन्होंने अपनी बानियों को सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया है। बौद्ध-वज्रयान शाखा के ८४ (चौरासी) सिद्धों की ऐसी धार्मिक रचनाएँ राहुल सांकृत्यायन द्वारा भूटान में प्राप्त 'सरह' में संग्रहीत हैं जिनमें इस प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है; उदाहरणार्थ भुसुकुपा का निम्नलिखित पद देखा जा सकता है—जो आद्योपान्त प्रतीकात्मक है—

णिसि अंधारी मूसा करअ विचारा, अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा।
काला मूसा उहण बाण, गअणे उठि करअ अमिअ पाण।
तव्वे मूसा अंचल चंचल, सद्गुरु बातैं करह सो निच्चल।।

यहाँ पर णिसि अंधारी (निशि अंधिआरी) मूसा (चूहा) अमिय (अमृत) गहणे (गगन) क्रमशः अज्ञानांधकार, काम, क्रोधादि विकार, आत्मानंद एवं अंतःकरण के प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से भुसुकुपा ने भ्रष्ट जीवन का चित्र चित्रित किया है।

इसी प्रकार लूहिपा सिद्ध के गीतों का भी एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है—

'काआ तरुवर पंच विडाल
चंचल चीए पइट्ठा काल
दिठ करिअ महासुह परिमाण,
लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।
सअल समहिहि काह करिअइ,
सुख दुखेते निचित मरिअइ।
छडिअउ छंद बांधकरण कपेटर आस

१—डॉ० धर्मवीर भारती—'सिद्ध-साहित्य' पृ० २७७

सुण्ण-पक्ख मिडि लेहु रे पास
भणइ लुई आम्हे झाणे दिट्ठा
घमण-चमण वेणि उपरि बइट्ठा ।।"[१]

इसमें कौआ, विडाल आदि शब्द प्रतीकात्मक हैं। पंच विडाल बौद्ध-शास्त्र में प्रतिपादित पंच प्रतिबंधों—आलस्य, हिंसा, काम, क्रोध एवं मोह के प्रतीक हैं। कतिपय योगी आज भी भीख माँगते हुए—जो हमें देगा उसके पांच मरेंगे, ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं। 'पांच मरेंगे' इससे उनका तात्पर्य आलस्य, हिंसा, काम, क्रोध एवं मोह के विनाश से है। इन प्रतीकों को बाद में ज्यों-का-त्यों निर्गुण ज्ञान-धारा के संत-कवियों और हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने गृहीत कर लिया है।

बज्रयानियों के अनुसार साधना द्वारा प्राप्त निर्वाण 'महासुह' (महासुख) वह अवस्था है जिसमें साधक का शून्य में यों विलय हो जाता है जैसे नमक की डली का जल में... ..। इस अवस्था का श्रृंगारिक प्रतीक उनके सिद्धान्त में 'युगनद्ध' अर्थात् नर-नारी की परस्पर गाढ़ालिंगनबद्ध मुद्रा है। यही कारण है कि उनकी वाममार्गी साधना एवं तांत्रिक क्रिया में मद्य, मांस तथा स्त्रियों—विशेषतया डोमिनी, कोलिनी, शबरी आदि निम्न जातियों का सेवन अनिवार्य है क्योंकि इन्होंने स्त्रियों को महामुद्रा या प्रज्ञा (सुरति, चित्त-एकाग्रता) का प्रतीक माना है; उदाहरणार्थ सिद्ध डोम्बिया का डोम्बी विषयक निम्नलिखित रहस्यवादी गीत देखा जा सकता है—

"गंगा जउँना माँझे बहइ नाई।
तँह बुडिली मातंगी पोइआ लीले पारकरेइ ।
बाहतु डोम्बी बाहले डोम्बी, बाट भइल उछारा
सद्गुरु पाऊ-प (सा) ए जाइब पुनू जिनउरा।
पाँच केडुआल पडन्ते माँगे पीठत काच्छी वाँधी।
गऊण दुखोले सिंचह पाणी न पइसह साँधी।
चंद-सूज्ज दुइ-चक्को सिठि-संहार-पुलिन्दा
वाम दहिन दुइ भाग न चेवइ वाहुत छन्दा।
कवड़ी न लेइ वोडी न लेइ सुच्छडे पार करई।
जे एथे चड़िया वाहव न जा (न) इकूले कूल बुड़ाई ।।[२]

"गंगा और यमुना इन दोनों के बीचो-बीच से एक नौका बह रही है। उसमें एक मातंगी बैठी है जो लीलाभाव, सहजभाव से योगियों को पार उतार रही है।

१—राहुल सांकृत्यायन—'चर्यापद' १ उद्धृत—'हिन्दी-काव्यधारा' पृ० १४०
२—राहुल सांकृत्यायन—'चर्यापद' पृ० १४ उद्धृत—'हिन्दी-काव्यधारा' पृ० १४०

खेती चलो, ओ डोम्बी खेती चलो, पथ में देर हो रही है। सद्गुरुपाद के उपदेश से हम पंचजिनपुर (पंच तथागतों का देश) में शीघ्र पहुँच जायेंगे। पाँच पतवार इस नाव को खे रहे हैं। पाल बँधे हुए हैं। गगन-शून्य पात्र से नौका में भर आने वाले जल को मैं उलीच रहा हूँ। सूर्य और चन्द्र ये दोनों सृष्टि और संसार के पालों को फैलाने और उतारने वाले दो चक्र हैं। वाम और दक्षिण इन दोनों कूलों से बचकर स्वच्छंद मार्ग पर चलती चलो। यह डोम्बी कौड़ी लेकर पार नहीं उतारती, स्वेच्छा से श्रम करती है। जिन्होंने यह यान ग्रहण नहीं किया और अन्य रथ पर चढ़े हैं, वे अन्य सम्प्रदायों के योगी पार नहीं उतरते।"[१]

यहाँ नौका जीवन का प्रतीक है एवं गंगा, यमुना, सूर्य, चन्द्र आदि हठयोग-साधना में अंतःशरीरी नाड़ियों के प्रतीक हैं। डोम्बी प्रज्ञा का प्रतीक है।

सिद्ध-साहित्य की भाँति नाथ-साहित्य भी बौद्धों और तांत्रिकों के प्रतीकों से प्रभावित है। महायान में ही तांत्रिक बुद्ध-धर्म के बीज सूक्ष्मरूपेण निहित थे। तांत्रिक बुद्ध-धर्म का नाम वज्रयान है।[२] यही वज्रयान सहजयान के रूप में परिवर्तित होकर उत्तरी प्रदेशों तथा पूर्वी भारत के धार्मिक विकास का प्रधान कारण बना। 'सहज-यान' को नाथपंथी योगियों का प्रश्रय प्राप्त हुआ। नाथपंथियों के अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है जिनमें मुख्य सम्प्रदाय गोरखनाथ योगियों का है। इन विभिन्न सम्प्रदाय वालों का ऐसा विश्वास है कि "सब नाथों में प्रथम आदिनाथ हैं जो स्वयं शिव ही हैं।"[३] जनश्रुति में गोरखनाथ नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक रूप में माने जाते हैं किन्तु "गोरखनाथ नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं थे। वे उनके अत्यन्त सबल प्रचारक, आचार्य तथा संगठनकर्ता थे।"[४] उन्होंने तो "परस्पर विछिन्न नाथपंथियों का संगठन करके इन्हें बारह शाखाओं में विभक्त कर दिया था।"[५] इसी कारण नाथपंथियों में गोरखनाथ का विशेष महत्त्व है। इनके साहित्य ने नाथपंथी योगियों को ही नहीं अपितु परवर्ती सन्त-साहित्य को भी प्रभावित किया है। प्रतीकों की दृष्टि से 'गोरखबानी' को यदि एक प्रकार से प्रतीकों का विपुल भंडार कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। 'गोरखबानी' के इन प्रतीकों के माध्यम से यौगिक साधनाओं का परिचय देने का प्रयास किया गया है। हठयोग की विशिष्ट शब्दावली के लिये अनेक प्रतीक व्यवहृत हुए हैं; उदाहरणार्थ हठयोग—साधना में 'ब्रह्मरन्ध्र' का विशेष

१—डॉ० धर्मवीर भारती—'सिद्ध-साहित्य' पृ० २७६
२—डॉ० बलदेव उपाध्याय—'भारतीय दर्शन' (बौद्ध-दर्शन) पृ० ५४५
३—आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—'नाथ-सम्प्रदाय' पृ० १
४—डॉ० धर्मवीर भारती— सिद्ध-साहित्य' पृ० ३२३
५—आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी—'नाथ सम्प्रदाय' पृ० १०

स्थान है। 'गोरखबानी' में इसके लिये अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है; यथा—

"पाताल की गंगा ब्रह्मण्ड चढ़ाइवा तहाँ विमल विमल जल पीवा।"[१]

"गगन मण्डल में ऊँधा कूवाँ तहाँ अमृत का बासा।"[२]

'ब्रह्मण्ड' और 'ऊँधा कूवाँ' ब्रह्मरन्ध्र के लिये प्रयुक्त प्रतीक हैं जिनमें विमल जल या अमृत तत्त्व भरा हुआ है। इसी ब्रह्मरन्ध्र के लिये 'उत्तराखण्ड' शब्द भी प्रयुक्त होता है—

"उत्तराखण्ड जाइबा सुनिफल खाइबा।"[३]

'अधरा तातै लोहै', 'दसवाँ द्वार', 'गुफा' आदि शब्द भी ब्रह्मरन्ध्र के प्रतीक हैं।

इसी प्रकार मन के लिये मछली, ऊँट, मृग, कूकर आदि अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। नाथ साहित्य में विभिन्न संख्याएँ भी प्रतीकरूप में प्रयुक्त की गयी हैं। शरीर के 'नवरंध्रों' को 'नव द्वार' 'नौ गाय' रूप में संकेतित किया गया है। इसी प्रकार 'पंचभूत' अथवा पांच इन्द्रियों के लिये पांच बैल, पंचदेव आदि प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। नाथ-साहित्य में प्रयुक्त अधिकांश प्रतीक हठयोग-साधना सम्बन्धी पारिभाषिक प्रतीक ही हैं जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं—

सांकेतिक शब्द	प्रतीक
पिंगला	सूर्य, यमुना
इड़ा	चन्द्र, गंगा
सुषुम्ना	सरस्वती, घर
इन्द्रियाँ	पंचकटार, पंचदेव, समन्दर, पंचबैल,
मन	ऊँट, मछली, मृग, कौआ, कूकर, असाधु
माया	वेश्या, बांझ, कामिनी, खरहा शशा, बूढ़ी, बाघिन, सास
कुण्डलिनी	पाताल की गंगा, देवी, धरती जोगिनी, गागरी
आत्मा	ब्रह्मचारी, गाय, घर का गुसाईं, बाघ, पनिहारी, हंस
ब्रह्म	पुरुष, विज्ञानी, बालक, हीरा, भील, शिकारी।
ब्रह्मरंध्र	ब्रह्माण्ड, ऊँधा कूवाँ, अधरा, तातै लोहा, दसवां-द्वार, शून्यद्वार, भुवंगम।
जीव	हंस, कौवा, मायाधीन पुरुष।

१—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सं० और टी०—'गोरखबानी' पृ० २, सबदी, २
२—वही, पृ० ६, सबदी २३
३—वही, पृ० २४, सबदी ६७

नाथ पन्थियों द्वारा व्यवहृत प्रतीकों की योजना साम्यमूलक और विरोध-मूलक दोनों प्रकार की हुई है। साम्यमूलक प्रतीकों के अन्तर्गत विभिन्न संख्यायुक्त प्रतीकों का विशेष प्रयोग हुआ है; उदाहरणार्थ निम्नलिखित सबदी देखी जा सकती है—

"उलटिया पवन षटचक्र बेधिया तातै लोहै सोषिया पाँणी।
चन्द सूर दोऊ निजघरि, राष्या ऐसा अलष बिनाँणी ॥"[1]

अर्थात् प्राण वायु ने उलट कर छहों चक्रों को वेध लिया। इससे तप्त लोह (ब्रह्मरन्ध्र) ने पानी (रेतस) को सोख लिया। चन्द्रमा (इड़ा नाड़ी) और सूर्य (पिंगला) दोनों को अपने घर (सुषम्ना) में रखा, निमज्जित कर दिया। ऐसा (जो योगी करे) वह स्वयं अलक्ष्य और विज्ञानी (ब्रह्म) हो जाता है।[2]

विरोधमूलक प्रतीक-योजना विशेष रूप से दर्शनीय है। इस प्रकार की विपर्य-योक्तियों के कथन में चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है—

'चींटी केरा नेत्र में गजेन्द्र समाइला,
गावणी के मुष में बाघला बिवाइला'।[3]

चींटी के आँख में गजेन्द्र का समाना तथा गाय के मुख में बाघिन के बिआ जाने का वर्णन अभिधार्थ में विरोधमूलक है किन्तु प्रतीकार्थ ग्रहण करने पर इसका अर्थ होगा 'सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिक रूप का समाना तथा भौतिक जीवन को नाश करने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का उत्पन्न हो जाना।' इसी प्रकार गगन मण्डल, औंधा कूआँ, बिना मूल का वृक्ष, बारह वर्ष में बांझ का ब्याना, मछली का पहाड़ पर चढ़ना, पानी में आग लगना, पर्वतों का जल के बिना तैर जाना, चींटी का पर्वत गिराना, गाय का बाघ की दुर्दशा करना, मृगों का चीलों को मारना आदि विपर्यय कथन इसी विरोधमूलक प्रतीक-योजना के अन्तर्गत हैं। इन विरोधमूलक प्रतीकों को उलटबासी की संज्ञा दी गयी है। डॉ० रामकुमार वर्मा आदि विद्वान इन विरोधमूलक प्रतीकों अर्थात् उलट बासियों का उद्भव नाथपंथियों से मानते हैं। वर्मा जी का अभिमत है,

"......धीरे धीरे इन प्रतीकों ने उलटबासियों का रूप ले लिया, जिनमें परस्पर विरोधी लगने वाले प्रतीकों द्वारा गम्भीर और दार्शनिक भाव-भूमि को स्पष्ट दिखा दिया गया......नाथ पन्थियों और सन्त कवियों ने इस प्रकार के प्रतीकों का

1- गोरखबानी, पृ० ३६ सबदी, १०५
1- गोरखबानी, पृ० ३६-३७
3- वही, पृ० १२८ पद ३४

प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है ।"[१]

इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उलटवासियों का प्रयोग बहुत बाद का है। वर्मा जी नाथ पन्थियों के साहित्य से ही इसका प्रारम्भ मानते हैं किन्तु अनुसंधान करने पर नाथ पंथियों के साहित्य के पूर्ववर्ती साहित्य में भी इस प्रकार की विरोधमूलक प्रतीक-योजना के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। उलटवासी का प्रयोग हमें प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद की उस ऋचा में भी उपलब्ध होता हैं जहाँ पर सूर्य का अपने पैरों (किरणों) के द्वारा पृथ्वी के जल का पान करना तथा अपने शीश (आकाश) द्वारा उसे मेघों के रूप में बरसाना कहा गया है–

"इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य यामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुहतो गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदायुः ।।[२]

इसमें सूर्य 'आत्मा' का, सूर्य के पैर (किरणें) 'वाह्येन्द्रियों' का पृथ्वी का जल 'विपयों' का, शीश 'अन्तःकरण' का, मेघ 'ज्ञान-रस' का और बरसाना 'आनन्द' का प्रतीक है। इस प्रकार इसका वास्तविक अभिप्राय आत्मा का वाह्येन्द्रियों द्वारा विषयों का रस लेना तथा उनके शिरो भाग रूप अन्तःकरण द्वारा ज्ञान-रस के आनन्द का लेना है।

इसी प्रकार महाभारत में भी उलटवासियों का प्रयोग हुआ है। वेदों और उपनिपदों में मुक्तक के रूप में जिस अश्वत्थ वृक्ष का प्रतीकात्मक चित्रण किया गया है वह महाभारत के ही अंशभूत गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इस प्रकार उल्लिखित है–

"उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानियस्तं वेदसवेदवित्' ।।"[३]

ऐसा कहते हैं कि इस वृक्ष की जड़ें तो ऊपर गयी हुई हैं किन्तु शाखाएँ नीचे हैं, पत्तों से यह खूब ढका हुआ है, यह अव्यय (अविनाशी) है। इसे जानने वाला ही सच्चा वेदवेत्ता (ज्ञानी) है। 'अश्वत्थ वृक्ष का यह वर्णन कबीर की उलटवासियों की तरह पहेली रूप में है। यहाँ मूल, अश्वत्थ और छन्द शब्दों में श्लेप है। मूल– (१)

१– ले० डा० धीरेन्द्र वर्मा–हिन्दी साहित्य में प्रतीक योजना लेख-हिन्दी अनुशीलन पृ० ३८६–८७

२– ऋग्वेद (१-१६४-७)

३– श्रीमद्भगवद्गीता (१५ । १) पृ० २५४

हिन्दी रूपान्तर–'अश्वत्थ' एक अविनाशी है कहते, शाखा नीचे मूल उर्ध्व है जाता
'छंदस' उस तरु के होते हैं पत्ते, जो जाने वही वेद का विज्ञाता ।'
रू० क०– डॉ० संसार चन्द्र–हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ० ६८

जड़ और (२) कारण, अश्वत्थ– (१)अश्वत्थ एक जाति का वृक्ष (पीपल) होता है, और(२)इसका दूसरा अर्थ है–श्वः तिष्ठति श्वत्थः न श्वत्थःअश्वत्थः-आगामी काल तक न टिकने वाला अर्थात् अस्थायी, विनश्वर। इसी प्रकार छन्द के भी दो अर्थ हैं– (१) 'छादयतीति छन्दः'- ढकने वाला और (२) वेद। इस प्रकार अप्रस्तुत अश्वत्थ वृक्ष से प्रस्तुत संसार विवक्षित है। योरोप की प्राचीन भाषाओं में इसी को 'विश्व-वृक्ष' या 'जगत् वृक्ष' की संज्ञा दी गयी है। तिलक के शब्दों में यह रूपक न केवल वैदिक धर्म में ही हैं प्रत्युत अन्य प्राचीन धर्मों में भी पाया जाता है।[1] संसार का एकमात्र मूलकारण ईश्वर है जो ऊपर नित्यधाम में है। उसकी अनन्त शाखाएँ प्रसार (नीचे) अर्थात् मनुष्य लोक में है। वह अव्यय अर्थात् कभी नाश न होने वाला है यद्यपि 'अश्वत्थ' शब्द से उसकी विनश्वरता व्यक्त होती है तथापि यह विनश्वरता केवल सांसारिक पदार्थों में ही है, समष्टि से तो यह विश्व धारावाहिक रूप में अनादिकाल से चला ही आ रहा है और इसी तरह आगे भी चलता रहेगा। प्रवाह-नित्यता के कारण ही इसे सदा रहने वाला अविनाशी कहा है। वेद–विधि, शास्त्र इसके पत्ते हैं और यह इसलिए, कि वेदों में उल्लिखित अपने कर्तव्य और कर्मों के सम्यक् अनुष्ठान द्वारा ही मानव समाज की रक्षा और वृद्धि कर सकता है। अधर्म से संसार में अव्यवस्था फैल जाती है और इसका सन्तुलन भंग हो जाता है। 'धारणाद्धर्म इत्याहुः' का अभिप्राय भी यही है। हिन्दी-सन्त कवियों ने गीता की इसी प्रतीकात्मक उलटवासी के आधार पर आंशिक रूप में अपनी अनेक उलटवासियाँ बनायी हैं, उदाहरणार्थ निम्न उलटवासी द्रष्टव्य है-

"तलि करि साखा उपरि करि मूल,
बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद को बूझैं,
ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै।"[2]

इस प्रकार नाथ-पंथियों ने केवल अपनी साधना-पद्धति और कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण करके नवीन प्रतीकों का निर्माण किया था किन्तु उलटवासी शैली उन्हें परम्परा से ही प्राप्त हुई थी।

२·२·२ वीरगाथा–काव्य में प्रतीक–योजना

वह काल संघर्ष का काल रहा है अतः इस काल के कवियों ने अपनी वाणी एवं रचनाओं से तत्कालीन जनमानस को प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देकर उन्हें वीरत्व की भावनाओं से अनुप्राणित कर दिया। इनके काव्य में ओजस्विता तो अपनी चरम

२– 'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य' पृ० ८१७, अनु० माधव राव जी सप्रे.
१. 'कबीर' उद्धृत डा० संसार चन्द्र 'हिन्दी काव्य में अन्योक्ति,' पृ० ९६.

सीमा पर है किन्तु अभिव्यंजना-कौशल में वह दक्षता नहीं है। अस्तु, इस काल की रचनाओं में प्रतीकों का प्रयोग भी अति न्यून रूप में हुआ है। 'बीसलदेव-रासो' 'हम्मीर रासो, 'पृथ्वीराज रासो' आदि वीरगाथाकालीन रचनाओं में प्रयुक्त प्रतीकों के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

'स्हासू कहइ बहु घरि माहे आइ।
चंदरइ भोलइँ गिलेसी राह।
चंद पुलिंदा बनि गयउ।
दूध किम उबरइ मंजारि कइ फेरि।
उलगाणा की गोरडी।
धार उनाह उडीसइ धणगढ़ अजमेर॥"[1]

यहाँ पर 'चंदरइ' नायिका के 'मुख-सौन्दर्य' का प्रतीक है और राह (राहु) 'सौन्दर्य लौलुप खलजनों' का। इसी प्रकार चौथी पंक्ति में प्रयुक्त दूध 'यौवन' का प्रतीक है और मंजारि 'कामी पुरुष' का।

'रतन छिपाया गोरी किम रहई'[2] इसमें 'रतन' शब्द बीसलदेव के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

'बीसलदेव रासो' की भाँति जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' में भी यत्र–तत्र प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इसके निम्नलिखित छंद में प्रतीकों की सुन्दर योजना दर्शनीय है—

'कहे तब दूत सुनों नृप बात
बड़ों तुव वंश प्रताप सुहात।
तजो रतनागर कों सर हेत
रतन्न अमूल्य तजों रज हेत।"[3]

यहाँ पर रतनागर, सर, रतन्न और रज शब्द प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुए हैं। बादशाह अलाउद्दीन का दूत महाराज हम्मीर की प्रशंसा करते हुए कहता है कि हे नृप! सुनिये–आपके वंश का प्रबल प्रताप विश्व में शोभायमान है परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि आप रतनागर (अलाउद्दीन) को सर (मीर महिमाशाह) के कारण क्यों त्याग रहे हैं? इसमें कौन सी बुद्धिमानी हैं अर्थात् मीर महिमाशाह अलाउद्दीन की तुलना में ऐसा ही है-जैसे रत्नाकर की तुलना में तुच्छ सरोवर एवं रत्न की तुलना में रज। इस प्रकार रत्नागर और रत्न 'श्रेष्ठता' तथा सर और रज

१. डा० तारकनाथ अग्रवाल (सम्पादक) 'बीसलदेव-रासो' पृ० १०१, पद १४१.
२. वही, पृ० ४६, पद सं० ६३.
३. बाबू श्याम सुन्दरदास (संपादक) 'हम्मीर-रासो' पृ० ५४.

'तुच्छता' के प्रतीक हैं। रत्न श्रेष्ठता, कान्ति, सौन्दर्य एवं सम्पन्नता का प्रतीक है और रज हीनता, तुच्छता, मलिनता एवं पदाक्रान्तता का।

इस काल के काव्य में पौराणिक अगोचर प्रतीकों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है, यथा–

"बढ़ै नित नेह तुमैं पतिसाह,
अमीरस में विष बोरत काह।"[1]

इस पंक्ति में अमृत 'आनन्द' 'सुख' तथा 'मंगल' का प्रतीक है और विष 'दुख' नाश एवं 'अवसाद' का। ये पौराणिक अगोचर प्रतीक हैं जो आज तक इस अर्थ में व्यवहृत हो रहे हैं।

इस युग का सर्वप्रसिद्ध एवं सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ है 'पृथ्वीराज-रासो' इसमें भी प्रतीकों का विरल प्रयोग ही उपलब्ध होता है। इसमें विष, आग, हंस, हीरा आदि प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं; यथा-

'उर अन्तर अग्गी जलै चित्त सल्लै चहुँवान।'

यहाँ अग्गी 'क्रोध' का प्रतीक बन कर आया है। जब पृथ्वीराज मुहम्मदगोरी द्वारा कैद कर लिया जाता है तब कवि चन्द घड़ियाल-वध के साथ मुहम्मदगोरी को मारने के लिये पृथ्वीराज को उत्तेजित करता हुआ कहता है—

'दिति अदिति वंस दोउ हंस उड़ि,
इहि उप्पर कहा करहि कवि।'[2]

अर्थात् दिति (दैत्य) और अदिति (देव) वंश के दो हंस (प्राण) उड़ चले, (इतना ही कवि कर सकता है) इससे अधिक कवि क्या कर सकता है? यहाँ पर दिति 'मुहम्मद गोरी' का, अदिति 'पृथ्वीराज' का और हंस 'प्राण' का प्रतीक है। इसी प्रकार निम्नांकित पंक्ति में भी हंस का प्रतीकात्मक प्रयोग द्रष्टव्य है-

'गये हंस नसीय गेहं सुवेसं'

अर्थात् जो हंस (प्राण) नष्ट होकर निकल रहे थे वही वे हंस (मुक्तात्मा) थे जो अपने सुन्दर घरों (स्वर्ग) को जा रहे थे। इस प्रकार इसमें हंस 'प्राण' और 'मुक्तात्मा' दोनों का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है तथा सुन्दर गृह का 'स्वर्ग' के प्रतीक रूप में प्रयोग हुआ है।

केवल युद्ध सम्बंधी रासो-काव्यों में ही प्रतीकों का प्रयोग हुआ हो, ऐसा नहीं है, बल्कि इस काल की वैराग्य एवं नीति–सम्बन्धी रचनाओं में भी प्रतीक-योजना



१. बाबू श्यामसुन्दरदास (संपादक) 'हम्मीर-रासो' पृ० ५४
२- डा० माता प्रसाद गुप्त (सं०) 'पृथ्वीराज रासउ' पृ २१६
३- वही पृ० १६२.

उपलब्ध होती है। डिंगल-भाषा के किसी कवि का वैराग्य सम्बन्धी यह प्रतीकात्मक चित्रण द्रष्टव्य है-

"पात झडंता देखकर हँसी न कूपलियाह,
मो बीती तुझ बीतसी धीरी बापड़ियाह।"[१]

अर्थात् तरू के पत्ते को झड़ता देखकर कोपल नहीं हँसी क्योंकि झड़ता हुआ पत्ता बोल रहा था कि जो हालत मेरी है वह कुछ समय पश्चात् तेरी भी होगी। यहाँ पर तरू का पत्ता 'वृद्धावस्था' का एवं कोपल शैशवावस्था का प्रतीक है। जीवन की नश्वरता का यह कितना सीधा-साधा प्रतीकात्मक वर्णन है।

वीरगाथाकाल के उत्तरार्द्ध में 'अमीर खुसरो' और 'मैथली कोकिल विद्यापति' नाम के दो प्रसिद्ध कवियों का उदय हुआ, जिनके काव्य में प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। खुसरों ने जनता के मनोविनोद के लिये बोलचाल की भाषा में बहुत सी पहेलियों और मुकरियों का सृजन किया है, जिनमें उक्ति-वैचित्र्य भरा हुआ है; यथा-

"एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारो ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥"[२]

यहाँ थाल 'आकाश' का प्रतीक है और मोती 'तारों' का। इसी प्रकार निम्न-लिखित पहेली द्रष्टव्य है-

"एक नार ने अचरज किया, साँप मार, पिंजरे में दिया।
जों जों साँप ताल को खाये, सूखे ताल साँप मर जाये॥"[३]

इसमें साँप और ताल क्रमशः वत्ती और तेल भरे दीपक के प्रतीक हैं। इन पहेलियों में केवल उक्ति-वैचित्र्य है, संवेदना नहीं।

द्वितीय कवि विद्यापति ने राधा-माधव के सौन्दर्यांकन में कतिपय ऐसे दृष्टकूट लिखे हैं जो पूर्णतः प्रतीक-पद्धति पर आधारित हैं; उदाहरणार्थ निम्नांकित दृष्टकूट-पद देखा जा सकता है-

'जुगल सैल-सिम हिमकर देखल,
एक कमल दुइ जोति रे॥
फुललि मधुरि फुल सिंदुर लोटायल,
पाँति वइसलि गज-मोति रे।

१- ले० डा० संसार चन्द्र 'हिन्दी काव्य में अन्योक्ति' पृ० १०८.
२. आ० रामचन्द्र शुक्ल-'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृ० ५७.
३. वही.

विपरित कनक-कदलि तर शोभित
थल-पंकज के रूप रे ॥"[1]

इसमें विद्यापति ने राधिका के सौन्दर्य का चित्रण किया है-दो शैलों के समीप हिमकर (चाँद) दिखलायी देता है। एक कमल है और उसमें दो ज्योतियाँ हैं। फूली हुई माधुरी के फूल पर सिंदूर लपेट दिया गया है। पास ही गज मोतियों की पंक्ति बैठी हुई है। उलटे सुवर्ण कदली-वृक्षों के नीचे स्थल-पंकज शोभित है। यहाँ पर जुगल-शैल 'कुचों' का, हिमकर और कमल 'मुख' का, दुइ जोति 'दोनों आँखें' का, मधुरि फुल 'मसूड़ों' का, गज-मोति 'दाँतों' का, कनक-कदलि 'जाँघों' का और 'थल-पंकज' पैरों का प्रतीक है।

इसी प्रकार विद्यापति के भक्ति विषयक पदों में भी प्रतीकों का प्रयोग हुआ है; यथा—

'अमृत तजि हलाहल किये पीअल
सम्पद अपदहि भेलि ॥"[2]

अर्थात् भक्ति रूपी अमृत को छोड़ कर मैंने वासना रूपी विष का पान किया है। यहाँ पर अमृत 'भक्ति' का और हलाहल 'वासना' का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है।

अस्तु, स्पष्ट है कि वीरगाथाकाल में संघर्ष के कारण यद्यपि प्रतीकों का प्रचुर उपयोग नहीं हो सका है, फिर भी उस युग के साहित्य में यत्र-तत्र ऐसे प्रतीक अवश्य प्रयुक्त हुए हैं जिन्होंने प्रतीक-परम्परा को लुप्त होने से बचाया है।

२.२.३ संत-काव्य में प्रतीक-योजना

धार्मिक एवं आध्यात्मिक साहित्य-सृष्टि अभिव्यक्ति की सरलता और प्रेषणीयता के लिये प्रतीकों का माध्यम अपनाया करती है। भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही एक धार्मिक संस्कृति रही है। अतः यहाँ का साहित्य भी अपने उद्गम में सम्पूर्णतः धार्मिक है। भारतीय संत कवि आत्मद्रष्टा रहे हैं। आत्मद्रष्टाओं द्वारा अनुभूत सत्य सर्वसाधारण की समझ में तभी आ सकता है जबकि वह सीधे सरल प्रतीकों अथवा प्रतीकात्मक रूपकों द्वारा अभिव्यक्त किया जाय; इसी कारण संत-कवियों कबीर नानक, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास आदि ने अपने आध्यात्मिक चिन्तन को सहज ग्राह्य बनाने के लिये प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया था। इनके काव्य में उपलब्ध प्रतीक इस प्रकार हैं—

१- पारिभाषिक प्रतीक,

१- संकलयिता-श्री रामवृक्ष बेनीपुरी- 'विद्यापति की पदावली' पृ० २२, पद सं० १३
२- वही पृ० २१५, पद २५५.

२–संख्यामूलक प्रतीक,
३–साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक,
४–सांसारिक स्नेह सम्बन्धी प्रतीक,
५–प्राकृतिक प्रतीक,
६–रूपकात्मक प्रतीक,
७–उलटवासियां तथा
८–अन्य प्रतीक।

पारिभाषिक प्रतीक

योगियों में इड़ा, पिंगला, कुण्डलिनी आदि के लिये बहुत से पारिभाषिक प्रतीक प्रचलित थे। संत-कवियों ने इन पारिभाषिक प्रतीकों को ज्यों-का-त्यों आत्मसात् कर लिया है। एक ओर यदि इनके काव्य में प्रयुक्त विज्ञान, शून्य, निर्वाण आदि पारिभाषिक शब्दों पर बौद्ध-धर्म की छाप है तो दूसरी ओर अन्तःसाधन' 'पुर' (शरीर) के भीतर 'षट्चक्र,' 'बिन्दु,' 'अमृतकुण्ड,' 'इंगला-पिंगला' आदि योगवाद की बहुत सी पारिभाषिक शब्दावली इन्हें नाथ-पंथ से उपलब्ध हुई है। नाथ-पंथ में 'ब्रह्मानन्द' का विशेष स्थान है। गोरखबानी में इसके लिये ब्रह्माण्ड, ऊँधा कूवाँ, उत्तराखण्ड, तातैं लौहै, दसवाँ-द्वार, गुफा, अधरा आदि अनेक पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। बौद्ध-धर्म में इसके लिये शून्य शब्द प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुआ है संत–कवियों ने भी ब्रह्मरन्ध्र के लिये शून्य, गगन, ऊँधा कूवाँ आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है; उदाहरणस्वरूप दो पद द्रष्टव्य हैं–

"सायर नाहीं सीप बिन स्वाँति बूँद भी नाहिं।
कबीर मोती नीपजैं सुन्नि सिषर गढ़ माँहि॥"[1]

\+ \+ \+

'पंषि उड़ानां गगन कूँ उड़ी चढ़ी असमान।
जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान॥"[2]

इन पदों में आये 'सुन्नि' और 'गगन' शब्द ब्रह्मरन्ध्र के प्रतीक हैं।

संख्या मूलक प्रतीक

जिस प्रकार नाथ–साहित्य में पाँच-चोर, दस–द्वार, नौ गाय आदि संख्याओं का प्रतीक-रूप में प्रयोग हुआ है उसी प्रकार संत-साहित्य में भी विभिन्न संख्याए प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुई हैं; यथा–

१–बाबू श्यामसुन्दरदास (सं०)–कबीर ग्रंथवली' (परचा को अंग) पृ० १३, साखी सं०८

२–वही, पृ० १४, साखी सं० २१.

'कबीर पटण कारिवां पंच चोर दस द्वार'[1]

यहाँ प्रयुक्त पंच चोर शब्द 'काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह' का प्रतीक है तथा दस द्वार 'दसों इन्द्रियों—आँख, कान, नाक' आदि के प्रतीक हैं। इसी प्रकार "निसि अंधियारी कारणै, चौरासी लख चन्द"[2] में चौरासी लाख चन्द 'चौरासी लाख योनियों का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त संत कवियों ने संख्यामूल प्रतीकों के अंतर्गत चौसठ दीया, एक तरुवर, चौदह चन्दा, पंच पहरवा, पंच कुसंगी आदि सख्याओं का भी प्रयोग किया है।

साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक

इसके अन्तर्गत उन प्रतीकों की गणना की जाती है जो विभिन्न सम्प्रदायों की साधना में प्रयुक्त होते हैं। योग-साधना में ब्रह्मरन्ध्र का विशेप महत्त्व है। इसी को खोलने के लिये साधक को साधना करनी पड़ती है। इसके खुलते ही अमृत-रस झरने लगता है। संत कबीर ने इसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

"ऐसा ग्यान विचारिलै, लै लाइ लै ध्याना।
सुंनि मंडल में घर किया, जैसे रहै सिचांना॥"[3]

इसमें आया सुंनि मंडल शब्द 'ब्रह्मरन्ध्र, के लिये प्रयुक्त प्रतीक है। इस 'ब्रह्मरन्ध्र' में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों का संगम होता है। संत कवियों के काव्य में चन्द (इड़ा) सूर्य (पिंगला) आदि शब्दों का भी प्रतीकात्मक प्रयोग उपलब्ध होता है; यथा—

"सूर समाणा चंद में दुहूँ किया घर एक।
मन का च्यंता तव भया कछू पूरवला लेख।"[4]

सुषुम्ना नाड़ी से कुण्डलिनी-शक्ति ऊपर की ओर अग्रसर होती है। सामान्य व्यक्ति में यह कुण्डलिनी-शक्ति सुप्तावस्था में रहती है। साधक अपनी साधना द्वारा इसे जाग्रत करने का प्रयास करता है। इसके लिये उसे कठोर साधना करनी पड़ती है। इसे ऊपर की ओर चढ़ाने को प्रेरित करने के लिये श्वास-निरोध और मन की एकाग्रता अपरिहार्य है। मन की एकाग्रता की सिद्धि में माया बाधा उपस्थित करती है, वह साधक को अनेक प्रकार से साधना मार्ग से हटाने का प्रयास करती है। इस माया के लिये डाइनि, बाघिनि, पापिनी आदि अनेक प्रतीकों का

१–वही, 'चितावणी कौ अंग' पृ० २१, साखी सं० ७.
२–वही, गुरुदेव कौ अंग–पृ० २ साखी सं० १८.
३–वही, पृ० १३८, पद सं० १५४.
४–वही, परचा कौ अंग, पृ० १३, साखी सं० १०.

प्रयोग किया गया है ।[१] संत-कवियों ने हठयोग–साधना तथा प्रेम–साधना का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना है। हठयोग–साधना द्वारा साधक ईश्वर के प्रेम में लीन हो जाता है।

सांसारिक स्नेहसम्बन्धी प्रतीक

संत-कवियों ने भगवान् से स्वामी, माता-पिता, प्रियतम आदि का सम्बन्ध स्थापित किया है। इसके लिये उन्होंने दास्य–भाव, वात्सल्य–भाव एवं दाम्पत्य-भाव के प्रतीक अपनाये हैं–

संतों के दास्यभाव के प्रतीकों में दास तथा ब्रह्म की एकात्मकता का भाव बड़ा आकर्षक बन पड़ा है ; यथा एक स्थल पर कबीर ने स्वयं को कुत्ता का और राम को स्वामी का प्रतीक स्वीकृत किया है।[२] इन प्रतीकों के माध्यम से कबीर ने अपने विनय–भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। अपने को कुत्ता की संज्ञा देकर उन्होंने लक्षणा के सहारे अपनी (जीव की) परवशता, निरीहता, जड़ता, अज्ञानता आदि विविध दुर्बलताओं की अभिव्यक्ति की है।

गुरु नानक ने स्वयं को प्रभु द्वारा क्रय किया हुआ दास बताया है तथा इसे वे अपना परम सौभाग्य मानते हैं–

'मुल खरीदी लाल मोला, मेरा नाउ सभागा "[३]

दादू की कातर उक्ति है--

'क्यूँ हम जीवैं दास गुसाईं जो तुम छाड़ो समरथ साईं।
जो तुम जन को मन ही बिसारा, तौ दूसर कौन सम्हालन हारा।
जो तुम परिहरि रहो निनारे, तौ सेवग जाइ कौन के द्वारे।'[४]

इस प्रकार दास्यभाव के प्रतीकों द्वारा इन संत-कवियों ने जीव की परवशता एवं परमात्मा के प्रति उसके पूर्ण सम्पूर्ण भाव को चित्रित किया है।

एक ओर इन संत-कवियों ने यदि ब्रह्म से स्वामी और सेवक का नाता जोड़ा है तो दूसरी ओर इन्होंने माता और बालक का सम्बन्ध भी स्थापित किया है; यथा-

'हरि जननी मैं बालक तोरा
काहे न औगुण बकसहु मोरा।'[५]

१–"कबीर माया डाकणी सग किसही कौं खाई।
दाँत उपाड़ौं पापणीं, जो संतौं नेड़ी जाइ ॥"कबीर–ग्रंथावली, माया कौ अंग, पृ० ३४, साखी० सं० २१.

२–"कबीर कूता रामका, मुतिया मेरा नाऊँ।
गलै राम की जेवड़ो, जित खैंचै तित जाऊँ ॥ वही–पृ० १२३, साखी सं० १११:

३–'श्री गुरुग्रंथ साहिब' पृ० ६६१, उद्धृत डॉ० केशनी प्रसाद चौरसिया-'मध्यकालीन हिन्दी-संत-विचार और साधना' पृ० ४८६.

४–परशुराम चतुर्वेदी-(सं०) 'दादू दयाल-ग्रंथावली'-पृ० ३१४.

५–कबीर-ग्रंथावली'-निहकर्मी पतिव्रता- कौ अंग, पृ० २०, साखी सं० १४.

इसमें प्रयुक्त जननी शब्द परमात्मा का तथा बालक शब्द कवि (जीव) का प्रतीक है।

संतों का सबसे प्रिय प्रतीक दाम्पत्य-भाव का है। दाम्पत्य-भाव प्रेम की पराकाष्ठा है। यही वह दशा है जिसमें उसके विशुद्ध निस्सीम एवं निरुपाधि रूप की उपलब्धि होती है, जिसका अन्तिम परिणाम स्वात्मार्पण द्वारा अभेद-भाव की अनुभूति है। अंग्रेज कवि 'पैटमोर' ने ईसाई धर्म के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा था, "ईसा मसीह के साथ जीवात्मा का उनकी विवाहिता स्त्री का सम्बन्ध ही उस भक्ति-भाव की कुंजी है जिससे युक्त होकर उनके प्रति प्रार्थना, प्रेम एवं श्रद्धा प्रदर्शित होती है।"[1] इसी कारण गोदा, मीरा, बावरी साहिबा आदि ने अपने इष्टदेव को अपना पति स्वीकार किया। संत-कवियों ने दाम्पत्य प्रतीकों पर अपनी भावना का रंग चढ़ाकर उसे और सजीव बना दिया। इसमें संदेह नहीं है कि इन पर सूफ़ी-सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है किन्तु उन्होंने दाम्पत्य प्रतीकों को पूर्णतया सूफ़ियों से ही ग्रहण किया हो, ऐसा नहीं है; उनके लिये यह भावना नितान्त नयी न थी। सांख्यदर्शन में ब्रह्म एवं प्रकृति को पुरुष एवं स्त्री का प्रतीक माना गया है। उपनिषदों में भी—जिन्हें शुष्क तत्त्व ज्ञान का ग्रंथ समझा गया है, परमात्मा के साथ जीवात्मा के मिलन की तुलना दो प्रेमियों के आलिंगन के साथ की गयी है। 'बृहदारण्यक उपनिषद' में कहा गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी प्रियतमा द्वारा आलिंगित होने पर सभी बाहरी व भीतरी बातों को एकदम भूल जाता है उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा के साथ संयुक्त हो जाने पर सभी बाहरी व भीतरी बातों का ज्ञान खो देती है।[2] संत आन्दाल ने जो एक प्राचीन आलवार संत कवयित्री थी, अपने गीतों में विष्णु के साथ सम्पन्न हुये विवाह का स्वप्न देखा था।[3] इनके प्रेम में जीव और ब्रह्म के प्रतीक क्रमशः 'आशिक' और 'माशूक' में व्यक्त न हो कर 'प्रियतमा' (जीव) और 'प्रियतम' (ब्रह्म) के प्रतीक में अभिव्यक्त हुए हैं। संत-कवियों ने अपने को प्रभु की पतिव्रता नारी के रूप में देखा है—

दादू पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु अंगि।
जे जे जैसी ताहि सौं, पेलै तिस ही संगि ॥"[4]

---

१. श्री परशुराम चतुर्वेदी 'संत काव्य' पृ० ६३।

२. 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया स परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदानांतरमेव यं पुनः प्रज्ञानेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदानांतरम् तद्वा अस्य एतदाप्तकामं आत्मकामं अकामं रूपम्।'

३. 'तामील स्टडीज पृ० ३२६, तथा कारपेंटर थीज्म' पृ० ३८१.
उद्धृत 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' पृ० ३९३.

४. सं० परशुराम चतुर्वेदी 'दादूदयाल ग्रंथावली' पृ० २८२.

इनके दाम्पत्य–प्रेम की प्रमुख विशेषताएँ हैं पवित्रता, सात्विकता और आध्यात्मिकता। इन्होंने जहाँ विरह–मिलन के चित्र अंकित किये हैं वहाँ वासना की तनिक भी दुर्गन्ध नहीं है। इस दिशा में सूफियों की अपेक्षा उन्हें विशेष सफलता मिली है। सूफियों ने अपने दाम्पत्य–प्रेम के निरूपण में मानवीय नाम के प्रतीकों का आश्रय लिया है परन्तु संत कवि हरि, पीव और बहुरिया से आगे नहीं बढ़े; उन्होंने सांसारिक प्रेम के आधार पर अपने प्रतीकों का चुनाव नहीं किया। सम्भवतः इसी कारण उनके दाम्पत्य प्रेम के चित्रण में जो पवित्रता और समर्पण हैं वह सूफ़ियों के दाम्पत्य प्रेम के चित्रण में नहीं आ सका। इस क्षेत्र में सबसे सुन्दर प्रतीक चित्रण कबीर का है। इन्होंने अपने को राम की बहू[1] मानकर दाम्पत्य प्रेम के अति सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। महाकवि श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने 'हंड्रेड पोएम्स ऑफ कबीर' (Hundred Poems of Kabir) में इनके सौ पदों का अनुवाद किया और उन्हीं से मूल प्रेरणा लेते हुए उसमें अपनी अन्तरानुभूति के साथ–साथ पश्चिम के कलाकारों की सामयिक भावना का पुट देकर 'गीतांजली' का प्रणयन किया जो काव्य क्षेत्र में विश्व के नोबल पुरस्कार (Noble Prize) का पात्र बनी। कबीर ने अपने ज्ञान–क्षेत्र वाले जीव ब्रह्म के शुष्क अद्वैतवाद को भावक्षेत्र में भी उतारकर उसे पति–पत्नी के अभेद मिलन के प्रतीक में चित्रित किया है।

प्राकृतिक प्रतीक

संत-कवियों ने केवल माधुर्य–भाव के प्रतीकों के माध्यम से ही अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों का चित्रण किया हो, ऐसी बात नहीं; अपितु उन्होंने अन्य प्रकार के प्रकृतिगत प्रतीकों को भी अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। कबीर द्वारा नलिनी के प्रतीक-रूप में अंकित आत्मा का चित्र द्रष्टव्य है–

'काहे री नलनी तू कुमिलानीं
तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उतपति जल मैं बास, जल मैं नलिनी तोर निवास।
ना तल तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि।
कहैं कबीर जे उदकि समान, ते नहीं मुए हमारे जान॥"[2]

यहाँ नलिनी 'जीवात्मा' का प्रतीक है और सरोवर 'ब्रह्म' का। कबीर का एक अन्य प्राकृतिक प्रतीक का चित्र प्रस्तुत है–

---

१. 'हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥
हरि मेरा पीव, मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।'
'कबीर–ग्रंथावली', पृ० १२५ पद सं० ११७

२, कबीर-ग्रंथावली पृ० १०८, पद सं० ६४.

"बाढ़ी आवत देखिकर तरिवर डोलन लाग ।
हम कटे की कछु नहीं, पंखेरु घर भाग ॥"[१]

यहाँ बढ़ई 'काल' का प्रतीक है और तरुवर 'शरीर' का । तरुवर का डोलना 'वृद्धावस्था' का प्रतीक है और 'पंखेरु' 'आत्मा' का । डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "यह डोलना आत्मा को इस बात की चेतावनी देता है कि शरीर के नाश का दुःख न करके ब्रह्म तत्व में लीन होने का प्रबन्ध करो । पक्षी का घर भागना यही है । कटते समय पेड़ को हिलते और वृद्धावस्था में शरीर को काँपते किसने न देखा होगा परन्तु किसलिये वह हिलता-डुलता है, इसका रहस्य कबीर ही जान पाये हैं ।"[२]

रूपकात्मक प्रतीक

संत कवियों के अधिकांश रूपकों में प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, विवाह के रूपक इसके सुन्दर उदाहरण हैं; उदाहरणार्थ गुरु नानक देव का निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है-

"गावहु-गावहु कामणी विवेक वीचारु ।
हमरे घरि आइया जग जीवन भतारु ॥
गुरु दुवारे हमरा वीआहु, जिहोआ जासहु मिलिआता जानिआं ।
तिहु लोका महि सबदु रमिआहै, आपु गइआ मनु मानिआ ॥
भनति नानकु सभना का पिवु एको सोई ।
जिसेना नदरि करे सा सोहागणि होई ॥"[३]

इस पद में विवाह का पूरा रूपक बाँधा गया है । कामणि 'आत्माओं' का घरि 'घट' (शरीर) का, गुरु दुआरे 'सदगुरु' का प्रतीक है । तिहु लोक माहि सबदु रमिआ का अभिप्राय 'सर्वत्र बाजे गाजे की धूम सी मच गयी' न मानकर आपुगइआ मनु मानिआ' के सहारे स्वानुभूति के अवसर पर विश्वव्यापी अनाहत नाद को अपने घट में श्रवण करने का ही समझा जाना चाहिये । इस प्रकार इस रूपक में कवि ने जीव और ब्रह्म के मिलन का वर्णन दाम्पत्य-भाव के प्रतीकों द्वारा किया है ।

उलटवासियाँ

योगानुभूतियों की तरह संत-कवियों की उलटवासियाँ भी रहस्यात्मक हैं । इनमें प्रतीक-पद्धति द्वारा ज्ञान की सूक्ष्म बातें कही गयी हैं । उलटवासियों में सादृश्य-मूलक प्रतीक-विधान के स्थान पर विरोधमूलक प्रतीकों का प्रयोग होता है । इन

१. 'कबीर-ग्रन्थावली' (भूमिका) पृ० ६१.
२. वही ।
३. 'आदि ग्रंथ' पृ० ३५१, उद्धृत सं० श्री परशुराम चतुर्वेदी 'संत-काव्य' पृ० ६२.

उलटवासियों में स्वभाव-विरुद्ध और प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल घटने वाली बातों के ऐसे विपरीत वर्णन पाये जाते हैं जिनसे उत्पन्न आश्चर्य की मात्रा अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच जाती है और पाठक को समस्त रचना अर्थहीन सी प्रतीत होने लगती है; किन्तु बाद में प्रतीकों का ज्ञान हो जाने पर जब उसे उसमें अन्तर्निहित गूढ़ार्थ का ज्ञान होता है तो वह चमत्कृत हो उठता है। संत-कवियों को उलटवासियों की शैली परम्परा से प्राप्त हुई है। गोरखनाथ ने उल्टी चर्चा[1] का उल्लेख किया है जो उलटबासी का ही रूपान्तर है। कबीर ने इसे ही उल्टा वेद[2] और संत-सुन्दरदास ने 'उलटी'[3] शब्द की संज्ञा दी है। उलटबासियों में कथित असम्भव कथन पर पहले तो लोगों को विश्वास नहीं आता किन्तु जब इन प्रतीकों को सुलझाकर इनका अर्थ स्पष्ट किया जाता है तो पाठक आश्चर्यचकित हो उठता है। एक उलटबासी के अध्यात्म-पक्ष के अर्थ से यह बात और अधिक स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है–

"एक अचम्भा देखा रे भाई
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥
पहले पूत पीछे भई माइ, चेला के गुरु लागै पाइ।
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगा खाई ॥
बैलहिं डारि गूँनि घर आई, कुत्ता कूँलै गई बिलाई।
तलि करि सापा उपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागै फूल ॥
कहै कबीर या पद को बूझै, ताकूँ तीन्यो त्रिभुवन सूझै ॥"[4]

साधारण अर्थ में तो यह समस्त बातें असम्भव प्रतीत होती हैं किन्तु प्रतीक द्वारा अध्यात्मपक्ष में इसका अर्थ होगा–ज्ञान (सिंह) ने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है। प्रथम जीव (पुत्र) उत्पन्न हुआ और बाद में माया (माता)। जीवात्मा (चेला) की शरण में शब्द (गुरु) जाता है। कुण्डलिनी (मछली) जाग्रत होकर मेरुदण्ड (वृक्ष) पर चढ़कर फलवती होती है। कुण्डलिनी अधोमुख रहती है, जाग्रत होकर वह ऊर्ध्वमुखी यात्रा करती है। माया ने अज्ञानी (मुर्गा या कुत्ता) को नष्ट कर दिया। पंच प्राण (बैल) तो धरे-ही-धरे रह गये और और स्वरूप की सिद्धि (गूँनि) घर में आ गयी। मूल तो मस्तिष्क में है जिसमें कमल खिले हैं और शाखा नीचे है। ऐसे शरीर में वृक्ष का बोध कर, तब तीनों लोकों का ज्ञान उपलब्ध होता है।

१–'उलटी चर्चा गोरख गावै'-गोरखवानी, पृ०२, पद० सं० ७.

२–"है कोई जगत गुरुग्यानी, उलटवेद बूझै"-'कबीर ग्रन्थावली,' पृ.१४१, प. सं० १६०

३–"सुन्दर सब उलटी कहै समुझै संत सुजान"–'सुन्दर-ग्रंथावली'–पृ० ७६१

४–'कबीर ग्रंथावली'-पृ० ६१-६२, पद० सं० ११.

अस्तु, इस उलटवासी के प्रतीक इस प्रकार प्रकार स्पष्ट किये जा सकते हैं-

सिंह- ज्ञान का प्रतीक है ।
गाय- इन्द्रियों का प्रतीक है ।
पुत्र - जीव का प्रतीक है ।
माँ - माया का प्रतीक है ।
चेला- जीवात्मा का प्रतीक है ।
गुरु - शब्द का प्रतीक है ।
मछली- कुण्डलिनी का प्रतीक है ।
वृक्ष- मेरुदण्ड का प्रतीक है ।
मुरगा- अज्ञानी का प्रतीक है ।
बैल- पंच प्राण का प्रतीक है ।
गूँनि- सिद्धि का प्रतीक है ।
मूल- मस्तिष्क का प्रतीक है ।
शाखा- कुण्डलिनी का प्रतीक है ।

इसी प्रकार सुन्दरदास की भी एक उलटवासी उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है-

"कुंजर को कीरी गिलि बैठी, सिंघहि पाइ अघानो स्याल ।
मछरी अगिनि माँहि सुख पायो, जल में हुती वहुत बेहाल ।।
पंगु चढ्यो पर्वत के ऊपर, मृतकहिं देपि डरानों काल ।
जाको अनुभव होइ सु जानै, सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल ।।"[१]

अर्थात् मस्त हाथी को एक कीड़ी ने निगल लिया (काम को बुद्धि ने जीत लिया); सिंह को खाकर शृगाल पुष्ट हो गया । जीव ने संशय पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली; मछली को आग में ही सुख मिलने लगा (मनसा ब्रह्माग्नि में आनन्दमग्न हो गयी), वह जल में दुखी रहती थी (काया में उसे सदा बेचैनी रहा करती थी); पंगु पुरुष पर्वत पर चढ़ गया (शान्त मन चिदाकाश में पहुँचकर निश्चल हो गया) और मृतक को अवलोक कर काल भयभीत हो गया (जीवन्मुक्त के समक्ष काल का प्रभाव जाता रहा); इन बातों को वही जानता है जिसे स्वानुभूति मिल चुकी है । दूसरों के लिये तो यह उलटा विचार ही कहा जायेगा ।

संत-कवियों ने इन उलटवासियों की रचना केवल शाब्दिक चमत्कार दिखाने के लिये नहीं की थी अपितु इनके द्वारा वे अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के गूढ़तम भेदों को योग्य पात्रों तक पहुँचाना चाहते थे; इसीलिये उनकी अधिकांश आध्यात्मिक उक्तियाँ उलटवासियों के रूप में अभिव्यक्त हुई हैं । इन उलटवासियों के चमत्कार

१-संम्पादक-पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा-'सुन्दर-ग्रंथावली' (द्वितीय खण्ड) पृ०-५१०

के कारण इनकी दार्शनिक नीरसता बहुत कुछ कम हो जाती है।

अन्य प्रतीक

उपरोक्त प्रतीकों के अतिरिक्त संत कवियों के काव्य में कतिपय अन्य प्रतीक भी उपलब्ध होते हैं; जैसे— आत्मा, ब्रह्म, मन, जीव, माया आदि के सम्बन्ध में। जिस प्रकार साधारण भाषाओं में एक अर्थ के प्रतिपादक कितने ही शब्द हुआ करते हैं उसी प्रकार संकेत भाषा में भी एक भाव की अभिव्यक्ति के लिये एक ही नहीं, बल्कि अनेक प्रतीक और संकेत हुआ करते हैं; उदाहरणार्थ— जीवात्मा, ब्रह्म, मन, इन्द्रियाँ, माया, शरीर, साधक आदि के व्यंजक प्रतीकों में से कुछ इस प्रकार हैं—

सांकेतिक शब्द	प्रतीक
जीवात्मा	हंस, बादशाह, खग, सती, बाँझ, वियोगिनि, सुन्दरी, दुलहिन, वेली इत्यादि।
ब्रह्म	सागर, कुम्हार, प्रीतम, कलाल, दुल्हा, खसम आदि।
मन	मृग, मेढ़क, सियार, मूसा, भँवरा, बगुला, मत्त गजेन्द्र, कौवा आदि।
इन्द्रियाँ	पाण्डव, पाँच लड़िका, सखी, सहेलरी, गाय आदि।
माया	साँपिणी, विलैया, मगर, हिरणी, पाँपिणी, डाँकिणी, डाइन आदि।
शरीर	पिंड, घट, महल, नौका, चादर, वन, कुम्भ, विरिछ, बंक, कूप, गोकुल, मंदिर आदि।
साधक	अहेरी, पारखी, जुलाहा आदि।

इसके अतिरिक्त संत-कवियों ने अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति दैनिक व्यवहार के रूपक बाँधकर भी किये हैं। कबीर जुलाहा थे अतः उन्होंने अपनी बहुत सी आध्यात्मिक अनुभूतियों को चरखा, करघा, सूत, जुलाहा, ताना-बाना, चदरिया आदि के माध्यम से भी अभिव्यक्त किया है। दादू धुनियाँ थे अतः उनके पदों में तात, कपास आदि शब्द प्रतीक-रूप में व्यवहृत हुए हैं; उदाहरणार्थ कबीर की निम्नलिखित रमैनी प्रस्तुत की जा सकती है—

"अस जुलहा का मरम न जाना, जिन्ह जग आनि पसारिन्ह नाना।
महि अकास दोउ गाड़ खँदाया, चाँद सुरज दोउ नरी बनाया॥
सहस तार से पूरन पूरी, अजहूँ बिनब कठिन है दूरी।
कहहिं कबीर करम से जोरी सूत-कुसूत बिनै भल कोरी॥"[१]

१-'बीजक, रमैनी,' पृ० २८, उद्धृत-डा० संसार चन्द्र-'हिन्दी काव्य में अन्योक्ति,' पृ० ७३.

प्रस्तुत पद के प्रतीक इस प्रकार हैं—

संकेतित शब्द	प्रतीक
जुलाहा, कोरी	जीव के प्रतीक हैं।
मही और आकाश	पिंड और ब्रह्माण्ड के प्रतीक हैं।
सूत-कुसूत	शुभ-अशुभ कर्मों के प्रतीक हैं।

अतः निष्कर्ष रूप में, हम कह सकते हैं कि सृष्टि के आरम्भ से ही मानव ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया है। काव्यक्षेत्र के रूप में प्रतीकों का प्रयोग सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है, तत्पश्चात् इनका विकसित रूप लौकिक संस्कृत-साहित्य, प्राकृत-साहित्य, अपभ्रंश-साहित्य तथा सिद्ध एवं नाथ-काव्य में उपलब्ध होता है। वीरगाथाकालीन कवियों ने यद्यपि अपने काव्यों में प्रतीकों का अधिक प्रयोग नहीं किया है किन्तु इन्होंने प्रतीक-परम्परा को लुप्त होने से अवश्य बचाया है। इसके पश्चात् संत-कवियों के काव्य में प्रतीकों का पुनः बाहुल्य हुआ है क्योंकि संत-कवियों ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति की व्यंजना सीधी-सादी भाषा में न कर प्रतीकात्मक भाषा में ही की है।

---

३ | हिन्दी के सूफी-कवि और उनका काव्य

हिन्दी-साहित्य की प्रेमाख्यान-परम्परा में हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यानों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म से मुसलमान और हृदय से उदार इन प्रेमाख्यानों के रचयिता सूफ़ी-कवि वसुन्धरा को केवल 'वीर-भोग्या' ही न रखकर 'प्रेमभोग्या' बनाने का प्रयास कर रहे थे। सूफ़ी मत का जन्म अरब प्रदेश में मुहम्मद साहब के निधनोंपरान्त हुआ था; कालान्तर में यह ईरान, स्पेन, मिस्र, भारत आदि देशों में विकसित होता गया। भारत में सूफ़ी-सम्प्रदाय का प्रवेश ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (१२वीं शताब्दी) के समय से माना जाता है।[1] यद्यपि मुस्लिम-शासकों की शासन-नीति के प्रति प्रारम्भ में ये विरोधी विचार रखते थे किन्तु धीरे-धीरे ये यह समझ गये कि राजसत्ता का विरोधी बनकर अपना अस्तित्व बनाये रखना दुःसाध्य होगा; अतः उनका उद्देश्य भी इस्लाम का प्रचार करना हो गया किन्तु इसके लिये उन्होंने तलवार की शक्ति का आश्रय न लेकर कलम की शक्ति को ग्रहण किया। हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भारतीय लोककथाओं, हिन्दी-भाषा, हिन्दी छन्द और भारतीय चरित्रों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाकर इनके माध्यम से जनता को अपने सूफ़ी-सिद्धान्तों पर विमोहित करके, इस्लाम की ओर अकर्षित करने का प्रयास किया। वास्तव में यह इन कवियों की हिन्दू जनता में इस्लाम-धर्म के प्रचार की एक कौशलपूर्ण योजना थी। उनकी मुस्लिम कट्टरता का भाव इन ग्रन्थों की प्रारम्भिक खुदा की वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, शाहेवक्त की प्रशंसा, गुरु-महिमा तथा मित्रों के विवरण से अभिव्यंजित हो जाता है। इस प्रकार हिन्दी के सूफ़ी-कवि भारतीयता के पोषक होकर भी इस्लाम के ही समर्थक हैं क्योंकि 'आखिरी-कलाम' (Final Word) में वे कुछ और ही कहते हैं।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि यद्यपि हिन्दी के सूफ़ी-कवियों का उद्देश्य भारतीयता के आवरण में यहाँ की जनता को इस्लाम की ओर आकृष्ट करना था किन्तु इनका काव्य त्याज्य नहीं है अपितु इनके द्वारा प्रणीत प्रेमगाथाएँ हिन्दी-

१. आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी-'हिन्दी-साहित्य' पृ० २६४

साहित्य-जगत् को अनुपम देन हैं।

३. १. हिन्दी के प्रमुख सूफ़ी-कवि, उनकी कृतियाँ तथा उनका काल : सामान्य परिचय

वैसे तो हिन्दी के सूफ़ी-कवियों में सर्वप्रथम नाम मौलाना दाऊद का लिया जाता है जिन्होंने 'चांदायन' शीर्षक प्रेमगाथा का सृजन किया है; किन्तु डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने इससे भी पूर्व की एक रचना 'हंसावली' की ओर संकेत किया है और उसे रोमांसिक कथा काव्य-परम्परा में स्थान देते हुये उसे परवर्ती कथाओं की पूर्वज माना है। इसके रचयिता 'असाइत' हैं। कवि ने इसका रचना काल सं० १४२७ (१७३० ई०) दिया है– "संवत चउद्दचक्र मुनिशंखवछ हंसवर चरित असंख।"[१]

इसमें एक राजकुमारी एवं पाटणदेश की राजकुमारी 'हंसावली' की प्रेम-कथा का वर्णन है। राजकुमार स्वप्न में राजकुमारी के दर्शन कर अपने मंत्री के साथ योगी-वेश में नायिका की खोज में निकल पड़ता है। अंत में किसी प्रकार वे नायिका के देश में पहुँचते हैं किन्तु राजकुमारी ने पूर्व-जन्म के किसी संस्कार के कारण पखवाडे में पाँच पुरुषों की हत्या का व्रत ले रखा था; अस्तु, प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ कि उसका हृदय कैसे जीता जाय ? अतः हंसावली को एक ऐसा चित्र दिखाया जाता है जिससे कि उसे अपने पूर्व जन्म की एक विशेष घटना का [२] स्मरण हो आता है और परिणामस्वरूप वह अपने कुकृत्य को त्याग देती है एव मंत्री मणकेश्वर के प्रयत्नों से राजकुमार से विवाह कर लेती है।

इस प्रकार इसमें स्वप्न-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पति योगी-वेश, साहसपूर्ण यात्रा, कन्या-पक्ष से विरोध और अन्त में विवाह हो जाना आदि कथानक प्रवृत्तियाँ हिन्दी के सूफ़ी काव्यों की भाँति ही मिलती हैं। इसकी भाषा प्राचीन राज-स्थानी है।

इस प्रकार डा० गुप्त की मान्यतानुसार इस परम्परा में आने वाली प्रथम कृति 'हंसावली' है और द्वितीय मौलाना दाऊद की 'चांदायन'। मौलाना दाऊद

---

१. 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-पृ० ५४५'.

२. 'देवि अवधारू मुझ वीनती पेलि भवि हूँ पंखिणी हती।
ईडां मेहला सेवन कीउ, दव वलतउ तेणि बनि आविउ॥
मझ भरतार साहस नविकीउ, अपति मेहलीन ऊडी गयु॥
इस्यं करम ते निष्ठुर तणां, मूकी ग्यु बालक आपणां॥"–वही, पृ० ५४६.

की उपाधि थी। 'चांदायन' में इन्होंने अपना अति संक्षिप्त परिचय दिया है। बीकानेर वाली प्रति के आधार पर 'चांदायन' की रचना-तिथि सन् ७८१ है,[१] जो विक्रमी सं० १४३६ के बराबर होती है; अतः सं० १४०० के लगभग उनका जन्म और सं० १४७५ के लगभग उनका निधन माना जा सकता है।[२]

दाऊद के गुरू का नाम जैनुद्दीन था।[३] रचना के आरम्भ में इन्होंने वजीर खानेजहाँ की प्रशंसा की है। इतिहास के अनुसार खानेजहाँ फीरोज़शाह का वजीर था, जो ७७२ हिजरी में कालकवलित हो गया था और दाऊद की रचना के समय उसका वजीर जानेजहाँ का पुत्र जौनाशाह था।[४] दाऊद ने भी फीरोजशाह तुग़लक की प्रशंसा करते समय उसके वजीर के रूप में जौनाशाह का उल्लेख किया है।[५] बीकानेर वाली प्रति के आदि शीर्षक में दाऊद को 'डलमई' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि वे या तो डलमऊ के निवासी थे अथवा डलमऊ उनका निवास स्थान था। दाऊद ने डलमऊ का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है और उसे गंगा-तट पर वसा बताया है। गंगा-तट पर बसा हुआ दलमऊ आज भी उत्तर-प्रदेश के रायबरेली जिले का एक प्रसिद्ध कस्बा है।

'चांदायन' की कथा का अनुशीलन करने पर हम देखते हैं कि इसमें अलौकिकता न होकर लौकिकता ही अधिक है। लौकिक कथा के रूप में 'चांदायन' में प्रेमी-प्रेमिका के दो युग्म हैं- (१) लोरक और चाँद, (२) लोरक और मैना दोनों ही युग्मों की प्रेमकथा की अभिव्यक्ति कवि ने चरम रूप में की है। इसमें लोरक और चाँद को आत्मा और परमात्मा का प्रतीक कहा जा सकता है किन्तु सूफी-दर्शन की दृष्टि से विश्लेषण करने पर इनमें आत्मा-परमात्मा के आलौकिक-प्रेम का रूप नहीं दिखायी पड़ता। सर्वप्रथम चाँद का परकीयत्व ही उसे परमात्मा का प्रतीक मानने में बाधक है। यदि इसकी उपेक्षा कर दी जाय तो भी चाँद लारेक के प्रेम का जो स्वरूप काव्य में प्रकट किया गया है, उससे सूफी-साधक के अलौकिक प्रेम का किसी प्रकार सामन्जस्य

---

१. 'बरस सात सै होय इक्यासी,
तिथि आह कवि सरसे (स) उभासी।' -सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त, 'चान्दायन' पृ० १५.
२. वही, (भूमिका) पृ० १.
३. "शेष जैनदीहों पथि लावा, धरम पंथु जिह पापु गवावा।"
–सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त-'चांदायन'–पृ० ८.
४. मुनतखब-उत्-तवारीख' से श्री एस० एच० अस्करी के 'रेपर फ्रेगमेंट्स आफ चांदायान एण्ड मृगावती' शीर्षक लेख में पृ० ७ पर उद्धृत।
५. 'साहि पेरोज ढीली-सुलतान्'-सं०-डा० माताप्रसाद गुप्त, चांदायन–पृ० १५.
जौनाशाह इजीस बषानू'

नहीं बैठता। परमात्मा रूपी नारी (चांद) के प्रति साधक रूपी नर (लोरक) के प्रेम की जो तीव्रता होनी चाहिये उसका काव्य में सर्वथा अभाव है क्योंकि इसमें नारी रूपी परमात्मा ही नर रूपी आत्मा के पीछे पागल है; चाँद ही लोरक के प्रति आकृष्ट होकर उसे प्राप्त करने के लिये सचेष्ट होती है। सूफ़ी-साधना के अनुसार आत्मा-परमात्मा के मिलन-मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाएँ आती हैं किन्तु इसमें लोरक और चाँद के मिलन के पश्चात् उनके मार्ग में बाधाएँ आती हैं। लोरक अपनी प्रेमिका के निकट होकर भी दूरी का अनुभव करता है और उसके लिये रुदन करता है। इस प्रकार आत्मा के परमात्मा तक पहुँचकर फ़ना होने या वज्द की स्थिति प्राप्त करने जैसी कल्पना लोरक और चाँद के रूप में दृष्टिगत नहीं होती; अतः सूरज और चाँद नाम होते हुए भी काव्य के नायक-नायिका में आत्मा-परमात्मा का सूफ़ियाना रूप नहीं झलकता।

लोरक-मैना वाले युग्म के प्रेम-भाव में भारतीय नारी की पातिव्रत्य-भावना निहित है। पतिरूप में लोरक उसे छोड़कर भाग जाता है और मैना उसके लिये तड़पती रहती है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि दाऊद के सम्मुख काव्य-रचना के समय कोई सूफ़ी-दर्शन नहीं था। लोक प्रचलित कथा को काव्य-रूप में उपस्थित करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था।

कुतुबन

तृतीय हिन्दी-सूफ़ी-कवि कुतुबन हैं। प्रेमाख्यानककाव्य-परम्परा का अनुसरण कर अपनी 'मिरगावती' शीर्षक प्रेमगाथा का सृजन करने वाले कवि कुतुबन ने अपना किसी प्रकार का वैयक्तिक परिचय नहीं दिया है। इनके काव्य से केवल इतना ज्ञात होता है कि ये सूफ़ीमत के चिश्ती सम्प्रदाय के शेखबुरहान के शिष्य थे और बादशाह हुसेनशाह के आश्रित थे। कुतुबन के समसामयिक हुसेनशाह नाम के दो शासक हुए हैं, जिसमें से एक जौनपुर का शासक था और दूसरा बंगाल का। अतः अभी तक विद्वानों में यह एक विवादग्रस्त प्रश्न था कि ये जौनपुर के बादशाह के आश्रित थे, या बंगाल के बादशाह के; किन्तु इधर डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त द्वारा सम्पादित 'मिरगावती' से इस प्रश्न का समाधान हो जाता है। गुप्त जी ने अनेक मतों का विश्लेषण करते हुए बताया है कि कवि ने शाहे-वक्त के रूप में जौनपुर के शर्की सुल्तान हुसेनशाह का उल्लेख किया है।[1]

---

१. "शाहे हुसेन आहे बड़ राजा, छात सिंहासन उन्पै छाजा।
पंडित औ बुधवंत सयानाँ, पढ़े पुरान अरथ सब जाना॥"
सं०- डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त-'मिरगावती' पृ० ११७, कवित्त सं० ६.

'मिरगावती' की रचना ६०९ हिजरी (१५६० वि०) में हुई थी।[1]

'मिरगावती' में चन्द्रगिरि के राजा गणपति देव के पुत्र राजकुँवर और कंचनपुर के राजा रूपकुमारी की पुत्री मृगावती की प्रेम-कहानी का वर्णन किया गया है। इसमें कवि ने प्रेम-मार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करते हुए साधक के भगवत्-प्रेम का स्वरूप दिखाया है। सूफ़ियों की मसनवी शैली में प्रणीत इसके कथाकन के बीच-बीच में रहस्यमय आध्मात्मिक चित्रण उपलब्ध होता है जो अति सुन्दर ढंग से निरूपति किया गया है।

जायसी

प्रेममार्गी सूफ़ी-कवियों की परम्परा में सर्वप्रसिद्ध जायसी हुए हैं, जिनका 'पदमावत' हिन्दी-काव्यक्षेत्र में एक अद्‌भुत रत्न है। जायसी की जन्म एवं मृत्यु तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है। कवि ने 'अखरावट' में अपने जन्मकाल के सम्बन्ध में कहा है कि-

'भा अवतार मोर नव सदी
तीस बरिस ऊपर कवि बदी।'[2]

मनेर शरीफ वाली प्रति के साक्ष्य पर 'अखरावट' का रचनाकाल ९११ हिज़री है। ९११ हिज़री में से तीस हिज़री घटाने पर ८८२ हिज़री (१४७७) आता है। अस्तु, कहा जा सकता है कि ८८२ हिज़री (१४७७ ई०) के लगभग ही जायसी का अवतार हुआ था।

श्री काजी नसरूद्दीन हुसेन जायसी ने जिन्हें अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, अपनी याददास्त में मलिक मुहम्मद जायमी का मृत्युकाल४ रजब ९४९ हिजरी (सन् १५४२ई)दिया है।[3] इस सम्बन्ध में पं० चन्द्रवली पाण्डेय जी का अभिमत है कि काजी जी ने जो मृत्यु तिथि दी है वह ठीक और प्रामाणिक है।[4]

निष्कर्ष रूप में, कहा जा सकता है कि जायसी की जन्म-तिथि ८८२ हिज़री (१४७७) और मृत्यु-तिथि ४ रजब ९४९ हिज़री (सन् १५४२ ई०) के लगभग है।

जायसी के पिता का नाम मलिक शेख ममरेज था, माता का नाम अज्ञात है। नका वास्तविक नाम 'मुहम्मद' हैं मलिक इनके वंश की उपाधि परम्परा है और जायस

---

१. सं० डा० परमेश्वरी लाल गुप्त 'मिरगावती' (कवि-परिचय) पृ० १८.
२- सं०-आ० रामचन्द्र शुक्ल-'जायसी-ग्रंथावली' (आखिरी-कलाम) पृ० ३४० कवित्त सं० ४.
३- वही (भूमिका) पृ० ७-८.
४- चन्द्रवली पाण्डेय जी का लेख-'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' भाग १४. पृ० ४१७

से सम्बद्ध होने के कारण इन्हें जायसी कहा जाता है; इस प्रकार इनका पूरा नाम है मलिक मुहम्मद जायसी।[1] ये शेख निजामुद्दीन औलिया मानिकपुर कालपी वाली शिष्य परम्परा में हुए शेख बुरहान के शिष्य थे।

जायसी कुरूप और काने थे किन्तु इसे भी उन्होंने ईश्वर का अनुग्रह माना है। वे वाममार्ग को स्वीकार नहीं करते और यही मूलभूत कारण है कि उन्होने वाम दिशा ही त्याग दी। जब से उनका प्रियतम उनके अनुकूल हुआ (दाएँ हुआ) तब से उन्होंने एक श्रवण और एक दृष्टि वाली वृत्ति अपना ली अर्थात् उन्होंने एक का ही सुनना और एक का ही देखना शुरू कर दिया।[2]

महात्मा तुलसीदास की भाँति जायसी की बाल्यावस्था भी अनाथावस्था में व्यतीत हुई। पिता का स्वर्गवास पहले ही हो चुका था, कतिपय दिनों पश्चात् माता का भी देहान्त हो गया। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् ये साधुओं और फकीरों के साथ रहने लगे थे। सांसारिक कष्टों तथा दीन-हीन अवस्थाओं ने उन्हें चिन्तनशील और अन्तर्मुखी बना दिया।

जायस नगर जायसी का जन्म स्थान न होकर उनके द्वारा बनाया गया निवास-स्थान था।[3] अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ये अमेठी में रहने लगे थे क्योंकि यहाँ के राजघराने में इनका अत्यधिक सम्मान था।

कृतियाँ

शोधकों, खोज-रिपोर्टों एवं सूचनाओं के साक्ष्य पर हमें जायसी की निम्नलिखित कृतियों का पता चलता है– (१) पदमावत (२) अखरावट (३) आखिरी-कलाम (४) महरीबाईसी (५) चित्ररेखा (६) चम्पावत (७) इतरावत (८) मटकावत (९) चित्रावत (सम्भवतः चित्ररेखा और चित्रावत अभिन्न हैं) (१०) खुर्वानामा (११) मखावत (१२) मोराइनामा (१३) मुखरानामा (१४) होलीनामा (१५) पोस्तीनामा (१६) मेखरावटनामा (१७) मुकहरानामा (१८) नैनावत (१९) अन्य (स्फुट छंदादि) (२०) ममला।[4]

---

१. सैयद कल्बे मुस्तफा–'मालिक मुहम्मद जायसी' पृ० २०

२. "मुहम्मद बाईं दिसि तजी एक सरवन एक आँखि।
जबते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाँखि॥"
व्याख्या–श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत' नागमती--संदेश–खंड, कवित्त सं० ३६७

३. "जायस नगर धरम अस्थानू, तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥"
'जायसी-ग्रन्थावली' (स्तुति-खण्ड) पृ० ६ कवित्त सं० २३.

४. 'नागरी प्रचारिणी सभा खोज–रिपोर्ट' १९४७

अद्यावधिक शोधों के परिणामस्वरूप जायसी की पाँच कृतियों का प्रकाशन हो चुका है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी-ग्रंथावली' के अन्तर्गत 'पदमावत' 'अखरावट' और 'आखिरी-कलाम' का सम्पादन किया था। १९५१ में डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने अपनी 'जायसी-ग्रन्थावली' में इनके अतिरिक्त जायसी की एक अन्य कृति 'महरी-बाईसी' का भी सम्पादन किया। इधर पं० शिवसहाय पाठक द्वारा 'चित्ररेखा' का सम्पादन हुआ है। सैयद कल्बे मुस्तफा ने 'मलिक मुहम्मद जायसी' शीर्षक ग्रंथ में जायसी के कतिपय स्फुट छंदों के उद्धरण दिये हैं।

'अखरावट' में वर्णमाला के एक-एक अक्षर को लेकर सिद्धान्त सम्बन्धी तत्त्वों से युक्त चौपाइयाँ निरूपित की गयी हैं। इस छोटी सी पुस्तक में ईश्वर, सृष्टि, जीव, प्रेमादि विषयों पर विचार प्रगट किये गये हैं। 'आखिरी-कलाम' में कयामत का वर्णन है। जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पदमावत'। इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंघलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेम-कथा वर्णित है। यद्यपि जायसी के 'पदमावत' में अध्यात्मिकता की सुन्दर व्यंजना हुई है किन्तु मसनवी-शैली में प्रणीत होने के कारण इसमें प्रत्येक छोटी-सी-छोटी बात का इतना विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है कि विषय के विश्लेषण में आध्यात्मिकता खो गयी है। जायसी का अत्यधिक विलास वर्णन भी आध्यात्मिकता के चित्र को अस्पष्ट कर देता है। वस्तुतः ज़ायसी द्वारा किया गया आध्यात्मिक संकेत (allegory) विशेष-विशेष स्थलों पर ही है। इसके अतिरिक्त 'पदमावत' में सामाजिक रीतियों, वात्सल्य-वर्णन आदि लोकपक्ष की भावनाओं का भी सुन्दर चित्रण हुआ है।

'चित्ररेखा' एक छोटी सी प्रेम-कहानी है जिसमें चन्द्रपुर नगर के राजा चन्द्रभानु की पुत्री चित्ररेखा और कन्नौज के राजा कल्याण सिंह के पुत्र प्रीतमसिंह कुँवर की कहानी वर्णित है। 'पदमावत' की भाँति 'चित्ररेखा' विषादांत नहीं है। इसमें बताया गया है कि दैव की कृपा से शोक के भीतर से कभी-कभी सुख या अद्भुत संयोग उत्पन्न हो जाता है और जो सच्चे प्रेमी हैं उनका विछोह आनन्द में परिवर्तित हो जाता है।[१] यही इस छोटे से प्रेम-काव्य का मार्मिक संदेश है। 'पदमावत' की भाँति इसमें भी यत्र-तत्र आध्यात्मिक संकेत उपलब्ध होते हैं।

निष्कर्ष रूप में, कहा जा सकता है कि हिन्दी के सूफ़ी कवियों में जायसी सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका 'पदमावत' हिन्दी साहित्य-जगत् को एक अनुपम देन है। इसमें इतिहास और कल्पना का मणि कांचन संयोग हुआ है। एक ओर यदि इसमें लौकि-

---

१. "दई आँन उपराजा सोग माँह सुख भोग।
अवस ते मिलैं विछोही जिन्ह हिय होइ वियोग॥
सं० साहित्याचार्य पं० शिवसहाय पाठक-'चित्ररेखा' पृ० १११

कता का चित्रण हुआ है तो दूसरी ओर इसमें अलौकिक घटनाओं का भी सुन्दर समावेश है।

मंझन

मंझन ने 'मधुमालती' शीर्षक प्रेमगाथा का प्रणयन किया है। इधर 'मधुमालती' की एक और हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई है जो रामपुर रियासत के राजकीय पुस्तकालय को सुशोभित कर रही है। इस प्रति का केवल प्रथम पृष्ठ ही उपलब्ध नहीं है। इसमें 'पदमावत' की भाँति ईश्वर-वन्दना, मुहम्मद साहव एवं उनके चारों मित्रों की प्रशंसा है। शाहेवक्त के स्थान पर शाह सलीम का उल्लेख है। शेखवदी शेख मुहम्मद एवं गुलाम गौस की प्रसंशा भी पीर के रूप में हुई है; इन सबके अन्त में निर्गुण की महिमा का गान है। जो प्रतियाँ कला-भवन के स्वाधिकार में हैं वे यहीं से आरम्भ होती हैं, अतः उनसे इसका रचनाकाल स्पष्ट नहीं हो पाता; किन्तु रामपुर रियासत के राजकीय पुस्तकालय वाली इस प्रति से यह निश्चित हो जाता है कि इस काव्य का सृजन शेरशाह के पुत्र शाह सलीम के राज्यकाल में सन् ६५२ (१५-४५ ई०) हिजरी में हुआ था।[1] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'मधुमालती' की रचना 'पदमावत' के पश्चात् हुई है जब कि आ० रामचन्द्र शुक्ल,[2] स्व. जगमोहन वर्मा[3] एवं सत्यजीवन वर्मा[4] आदि ने इसकी रचना 'पदमावत' के पूर्व मानी है।

'मधुमालती' से "मलिक मंझन के जन्मस्थानादि का स्पष्ट परिचय नहीं मिलता और न उनके पिता अथावा मित्रादि की ओर किया गया ऐसा कोई संकेत ही मिलता है जिसके आधार पर उनके सामाजिक जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ सके।"[5] पं. परशुराम चौवे द्वारा लिखित ये पंक्तियाँ मंझन की सामाजिक स्थित का वास्तविक वोध कराती हैं। वैसे इनके निवास-स्थान के संवन्ध में डा० सरला शुक्ल ने एक स्थल पर लिखा है, "मंझन कवि के निवास-स्थान के वारे में एक स्थल पर संकेत मिलता है कि अनूपगढ़ नामक कोई नगर उसका निवास-स्थान था जो संभवतः

१. 'संवत नौ सौ वावन जव भैऊ, सतौं पुरख कलि परिहरि गैऊ।
तौ हम चित्त उपजा अभिलाखा, कथा एक वांधउ रस भाखा॥'
स० डा० शिव गोपाल मिश्र-'मधुमालती' पृ० १४.

२. आ० रामचन्द्र शुक्ल-'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृ० ९८.

३. सं० श्री जगन्मोहन वर्मा- उसमान कृत 'चित्रावली' (भूमिका) पृ० ३-४-५

४. श्री सत्यजीवन वर्मा-'आख्यानक काव्य'-नागरी प्रचारिण पत्रिका, सं० १९८२, भाग ६, पृ० २८७.

५. सं०-श्री परशुराम चतुर्वेदी-'सूफ़ी-काव्य-संग्रह' पृ० १३५.

६. 'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य', पृ० ३३५-३३६.

गढ़ी की भाँति सुरक्षित और दृढ़ था; जिसकी पूर्व दिशा में बहराइच नगर है तथा उत्तर-पश्चिम में लंकागढ़ के सदृश सुदृढ़ खाईं है।

डा० श्याम मनोहर पाण्डेय ने ग्वालियर गढ़ को इनका निवास स्थान सिद्ध करते हुये लिखा है, "ग्वालियर-गढ़ की छाया में शेख़ गौस मुहम्मद के आश्रय में मलिक मंझन के चित्त में यह अभिलाषा उपजी थी कि 'कथा एक बाँधउ रस भाखा' "[1]

'मधुमालती' में मनोहर और मधुमालती के प्रेम-सम्बन्ध का वर्णन किया गया हैं। इसमें कवि ने साक्षात् दर्शन से प्रेम का उद्भूत होना दिखाया है। इनका प्रेम मर्यादित है। अप्सराओं की सहायता से यद्यपि राजकुमार का मधुमालती से मिलन रात्रि में होता है किन्तु वे मर्यादा या संयम का उल्लंघन नहीं करते। वे संभोग तब तक नहीं करते जब तक मधुमालती के माता-पिता कन्यादान करके उसे मनोहर की पत्नी बनने की आज्ञा नहीं देते।

एक ओर जहाँ कवि ने दाम्पत्य प्रेम में एकनिष्ठता की महत्ता का प्रदर्शन किया है दूसरी ओर वहीं उसने प्रेमा और मनोहर की दृढ़ता द्वारा सदाचार का आदर्श भी उपस्थित किया है। ताराचन्द्र और मधुमालती का माता-पिता के अनुमोदन के पश्चात् भी विवाह-सूत्र में बँधने से अस्वीकार करना उनकी चारित्रिक दृढ़ता का द्योतक है।

चूँकि कवि नायक-नायिका के मिलन के पश्चात् ताराचन्द्र और प्रेमा की ओर आकृष्ट हो जाता है अतः 'मधुमालती' में 'पदमावत' की भाँति ग्रहस्थ जीवन का चित्रण नहीं हो सका है। कथा में वर्णनात्मकता का अंग अधिक है। प्रेम में संयोग की अपेक्षा वियोग को अधिक महत्त्व दिया गया है; साथ ही यह तथ्य भी निरुपित किया गया है कि विरह के माध्यम से ही मनुष्य ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। 'पदमावत' की भाँति इसमे भी रहस्यात्मकता के दर्शन होते हैं मंझन के अनुसार सम्पूर्ण जगत् एक ऐसे रहस्यमय सूत्र में बँधा है जिसका अवलंबन लेकर जीवन उस प्रेम मूर्ति तक पहुँच सकता है। इस समस्त जगत् में उसी एक की ज्योति छायी है। उसी का दर्शन पाकर खुदा के बन्दे मग्न हुआ करते हैं। जगत् और ब्रह्म की व्यापकता का परिचय इन सूफ़ी कवियों ने सर्वत्र दिया है।

दाऊद, कुतुबन, जायसी आदि सूफ़ी कवियों ने रानियों के सती होने का वर्णन किया है किन्तु मंझन ने मधुमालती को सती नहीं कराया है। इसका कारण उन्होंने स्वयं इस प्रकार दिया है—

"उतपति जग जेती चलि आई,
पुरुष मारि ब्रज सती कराई।

१. 'सूफ़ी-काव्य विमर्श'-पृ० ११८.

मैं छोहन्ह यहि मार न पारेउ,
सही मरिहि जो कलि औतारेउ ॥
सति सुनी संसार सुभाऊ,
जो मरि जियै सो मरै न काऊ ॥"[१]

अर्थात् मंझन का अभिमत है कि कलियुग में समस्त प्राणी नाशवान हैं अतः मधुमालती को मारने का अधिकार वह अपने हाथों में क्यों ले; वह तो स्वयंमेव मर जायेगी किन्तु सत्य और प्रेम ये अनादि और अनन्त हैं।

समग्र रूप में, हम कह सकते हैं कि कवि मंझन ने 'मधुमालती' में प्रेम का जो पुनीत रूप चित्रित किया हैं वह अनुपम और अद्वितीय है।

उसमान

जायसी और मंझन के पश्चात् सूफ़ी-कवियों में उसमान का नाम आता है। इनका उदय जहाँगीर के शासन-काल में हुआ था। ये गाजीपुर निवासी शेख हुसेन के पुत्र थे। यह शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य परम्परा में हुए हाजी बाबा के शिष्य थे। इन्होंने सन् १०२२ हिज़री (१६१३ ई०, में 'चित्रावली' शीर्षक प्रेमगाथा की करना की[२] जिसमें नेपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूप नगर की राजकुमारी चित्रावली की प्रणय-गाथा वर्णित है।

उसमान को भूगोल का यथेष्ट ज्ञान था। 'चित्रावली' में वर्णित अंग्रेजों का वर्णन[३] उसमान की बहुज्ञता का प्रतीक है। इस सम्बन्ध में श्री जगन्मोहन वर्मा लिखते हैं, "उस समय अंग्रेजों को आये इस देश में बहुत थोड़े दिन हुए थे। ईस्ट इन्डिया कम्पनी सन् १६०० में लन्दन में बनी थी और १६१२ में सूरत में कम्पनी ने अपना गुदाम बनाया था। उसके एक वर्ष बाद १६१३ का रचा हुआ यह ग्रन्थ है। उस समय में कवि का एक साधारण गाजीपुर ऐसे छोटे नगर में रहकर अंग्रेजों के विषय में इतनी जानकारी रखना कोई साधारण बात नहीं है।"

'चित्रावली' में प्रेमोदय चित्र-दर्शन द्वारा होता है। सुजान और चित्रावली एक दूसरे के चित्र को अवलोक कर परस्पर मोहित हो जाते हैं। इसमें प्रयास नायिका की

१- सं०-डा० शिव गोपाल मिश्र-'मधुमालती' पृ० १६४.

२- "सन् सहस्र बाइस जब अहे, तब हम बचन चारि एक कहे।"-'चित्रावली' पृ० १४

३- "बलंद्वीप देखा अंगरेजा, जहाँ जाइ नहि कठिन करेजा।
ऊँच-नीच धन-सम्पत्ति हेरा, मद बराह भोजन जिन केरा॥"
वही, पृ० १६०.

४- वही (भूमिका) पृ० १७

ओर से ही होता है क्योंकि सुजान का मढ़ी प्रस्थान तो एक प्रकार से वेदना-शान्ति का प्रयास था। चित्रावली के खोज-प्रयास से ही वह सही मार्ग (ब्रह्म-प्राप्ति रूपी मार्ग पर) अग्रसर होता है।

'पदमावत' की भाँति इसमें भी लोक कर्तव्यों एवं सम्बन्धों का चित्रण हुआ है। सुजान, चित्रावली एवं कँवलावती का प्रेम पूर्णतः लोक-बाह्य नहीं है अपितु इसमें प्रेम के सामाजिक पक्ष पर भी दृष्टि रखी गयी है। कवि उसमान द्वारा चित्रित संयोग के चित्र मंझन की भाँति भावात्मक न होकर अश्लीलता से सम्पृक्त हैं।

'चित्रावली' को हम 'पदमावत' की छाया कह सकते हैं। 'पदमावत' में जिन–जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है उन्हीं विषयों का 'चित्रावली' में भी विस्तृत वर्णन है; किन्तु यह कथा पदमावत की भाँति ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध न होकर कल्पनाप्रसूत है। इस सम्बन्ध में श्री जगन्मोहन वर्मा का निम्न–लिखित कथन द्रष्टव्य है– "कवि ने इस ग्रन्थ में ठौर-ठौर पर वेदान्त और अद्वैतवाद की झलक दिखलाने में कमी नहीं की है। कथा ऐतिहासिक घटना से नहीं ली गयी, बल्कि कल्पनाप्रसूत है। नैपाल के राजसिंहासन पर एक भी पँवार राजा नहीं हुआ है। कथा विचारने से आध्यात्मिक प्रतीत होती है और इसीलिये ग्रन्थ में सुजान को शिव का अवतार लिखा गया है।"[१] कवि ने सुजान को एक साधक के रूप में चित्रित ही नहीं किया है बल्कि पौराणिक शैली का अवलम्बन लेकर उसने उसे परमयोगी शिव के अंश से उत्पन्न कहा है। महादेव जी राजा धरनीधर पर प्रसन्न होकर वर देते हैं 'देखु देत हौं आपन अंसा, अब तोरे ह्वै निजु बंसा।[२] इस प्रकार कल्पना के प्राधान्य के साथ–साथ इसकी कथा में आध्यात्मिकता रखने का भी पूर्ण प्रयास हुआ है। कँवलावती और चित्रावली अविद्या और विद्या का प्रतीक हैं। सुजान का अर्थ ज्ञानवान है। साधनाकाल में अविद्या को दूर रखे बिना सत्यज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती; इसी कारण सुजान ने चित्रावली के प्राप्त न होने तक कँवलावली के साथ समागम न करने की प्रतिज्ञा की थी।

सारांश में, कहा जा सकता है कि 'चित्रावली' की प्रेमकथा ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक है जिसका प्रणयन सूफ़ियों की मसनवी शैली के आधार पर हुआ है और जिसमें सामाजिक भावों का चित्रण होने के साथ-साथ आध्यात्मिकता का भी पूर्ण समावेश हुआ है।

जान कवि

शेखावटी के जान कवि का हिन्दी साहित्य-जगत् में उदय कतिपय वर्ष पूर्व

---

१. 'चित्रावली' (भूमिका) पृ० १५–१६

२. वही, पृ० १९.

हुआ है। इसके पहले अभी तक विद्वान इनके पिता क्यामखानी नवाब अलफखाँ को ही 'जान कवि' की संज्ञा से अभिहित करते रहे थे परन्तु श्री अगरचन्द नाहटा ने अपनी विभिन्न खोजों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि अलफखाँ स्वयं जान कवि न होकर इनके पिता थे। क्यामखाँ रासो की निम्नलिखित पंक्तियों से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है-

'कहत जान अब बरनिहौं, अलिफ खान की जात।
पिता जानि बढ़ि ना कहौं, भाखौं सच्ची बात॥'

फतहपुर के शासक अपनी उदारता और विद्या-प्रेम के लिये विख्यात रहे हैं, नवाब अलफखाँ का घराना भी इससे वंचित नहीं है। दान में छोड़ी हुई विस्तृत गोचर-भूमि इनकी प्रजा-हितैषिता की साक्षी है। 'जानकवि' के बड़े भाई दौलत खाँ का लिखा हुआ 'वैद्यक-ग्रंथ अनूप' संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में सुरक्षित है। कवि के पितामह नवाब ताज खाँ (द्वितीय) की सहोदरा बहिन ताज अपने समय की प्रसिद्ध कवयित्री थीं। इनकी शिक्षा एवं संग से 'जानकवि' के हृदय में भी बाल्यकाल से कविता के बीज अंकुरित हो उठे थे।

जानकवि मुसलमान होते हुए भी हिन्दुत्व से ओतःप्रोत थे। इनमें धार्मिक कट्टरता लेशमात्र भी न थी। इन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक ही पिण्ड से उत्पन्न हुआ कहा है, दोनों के रक्त-चर्मादि में कोई भेद भाव नहीं है; किन्तु इनके कर्मों में भिन्नता है। इसी कर्मगत पृथकता के कारण ही इन्हें भिन्न-भिन्न नामों (हिन्दू-मुसलमान) की संज्ञा दी गयी है।[1]

जानकवि के जन्म तथा मृत्यु के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी समस्त रचनाओं के रचनाकाल शाहेवक्त जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब की प्रशंसा और पिता अलफ खाँ के जन्म-मृत्यु की तिथियों के आधार पर इनके काल का अनुमान १७ वीं शताब्दी के मध्य से १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य या इसके आसपास लगाया जा सकता है। इनके गुरु हांसी निवासी शेखचिश्ती थे।

कृतियाँ

राजस्थानी कवि होने के कारण इनकी रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के विभिन्न संग्रहालयों में उपलब्ध होती हैं। जुलाई सन् १९४४ में डॉ० वीरेन्द्र वर्मा ने जयपुर के श्री रावत सारस्वत के पास से जानकवि के ७० हस्तलिखित ग्रंथों

१. 'येक पिंड इन दुहुन को, ना अन्तर रत चाम।
पै करनी नाहिन मिलै, ताते न्यारे नाम॥'

का गुटका हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद में मंगाया था जिसे एकेडमी द्वारा खरीद लिया गया। पहले ये समस्त ग्रंथ एक ही जिल्दबद्ध पोथी के रूप में थे किन्तु अब इन्हें अलग-अलग कर दिया गया है। ये समस्त ग्रंथ अभी हस्तलिखित रूप में ही 'हिन्दुस्तानीएकेडमी, प्रयाग' संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ[1] भी राजस्थान के विभिन्न संग्रहालयों में उपलब्ध हुई हैं। इस प्रकार जानकवि के अब तक के उपलब्ध समस्त ग्रंथों की संख्या ७८ है। इनकी सर्वप्रथम रचना सं० १६६९ की 'कँवलावती' तथा अन्तिम रचना सं० १७२१ की 'जफरनामा' है। कवि ने 'कथा पुहुप-बरिषा' तथा 'कथा रूपमंजरी' में ग्रंथों का रचना काल प्रारम्भ में तथा शेष सभी का उनके अन्त में दिया है। इनकी रचनाएँ मौलिक तथा अनूदित दोनों रूपों में हैं।

जानकवि का अध्ययन अति विस्तृत था। अपने पूर्व तथा वर्तमान की प्रचलित समस्त साहित्यिक धाराओं के विषयों पर आपने रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। सूफ़ी तथा असूफ़ी कवियों की प्रेम-पद्धति, संतों की दार्शनिक एवं नीतिपूर्ण उपदेशात्मक पद्धति, रीति-कालीन कवियों की काव्य-शास्त्रीय पद्धति को अपनाते हुए मुक्तक, कथा-काव्य, रत्न-परीक्षा विषयक, संगीत सम्बन्धी, वैद्यक सम्बन्धी, कामशास्त्र तथा अन्य विविध विषयों पर आपने अनेक ग्रंथ प्रणीत किये हैं। इन सब में सर्वाधिक संख्या प्रेमाख्यानों की है। श्री चतुर्वेदी जी के मतानुसार इनके २१ ग्रंथों की गणना प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत की जा सकती है।[2]

कवि की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि इन्होंने अपने पूर्व और वर्तमान में प्रचलित अरबी-फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि की कथाओं को ग्रहण कर अनेक ग्रंथों का सृजन किया है; यथा-देवलदे की कथा' अमीर खुसरो ने लिखी थी। 'लैला-मँजनू की कथा' फैजी अमीर खुसरो तथा निजामी ने प्रणीत की थी। 'नल-दमयंती की कथा' यहाँ की प्रसिद्ध पौराणिक कथा रही है। 'छिताई-कथा' मध्ययुग की एक लोक-प्रचलित कथा है।

जानकवि की द्वितीय प्रमुख विशेषता यह है कि ये आशुकवि थे। इन्होंने कई ग्रंथों की रचना दो-तीन दिनों या दो अढ़ाई अथवा तीन प्रहरों में की है, जिनका कवि ने अपने कई ग्रंथों में उल्लेख किया है।[3] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने

१. ये आठ ग्रंथ हैं– "बुद्धि सागर, रसमंजरी, ज्ञानद्वीप, कविवल्लभ, क्यामखाँरासो, अलिफ खाँ की पैड़ी, मदन विनोद और संगीत गुनदीप ॥
२. 'सं०-श्री परशुराम चतुर्वेदी-सूफ़ी-काव्य-संग्रह-' पृ० १५४.
३. "सोलह सै पचहत्तरै जहाँगीर कैं राज।
तीन घौंस में जानकहि, यहु साज्यौ सब साज ॥" सूफ़ी-काव्य संग्रह पृ०– १५५.

लिखा है, "इस कवि की विशेषता इसकी रचनाओं की पंक्तियों की द्रुतगामिता में देखी जा सकती है। जान पड़ता है, इसकी प्रत्येक पंक्ति तत्क्षण अपने आप बनती चली गयी है। कथानक की रूपरेखा इस कवि के केवल संकेत मात्र से ही भरती चली जाती है और कुछ काल में एक प्रेमगाथा प्रस्तुत हो जाती है। फिर भी इसकी रचनाएँ कोरी तुकबन्दियाँ नहीं कही जा सकतीं। उनके बीच-बीच में कुछ ऐसी सरस पंक्तियाँ आ जाती हैं जो किसी प्रौढ़ एवं सुन्दर काव्य का अंग बन सकती हैं और उनकी संख्या किसी प्रकार कम भी नहीं कही जा सकती है।"[1]

अस्तु, हम कह सकते हैं कि शैली एवं विषयों की विविधता के कारण सूफी-कवियों में जानकवि का विशिष्ट स्थान है। जितने प्रेमाख्यान जानकवि ने लिखे हैं उतने ग्रंथ हिन्दी के सम्पूर्ण सूफी-काव्य में भी उपलब्ध नहीं होते। अभी तक जानकवि के केवल तीन-चार ग्रंथ ही प्रकाशित हो पाये हैं और समस्त ग्रंथ अभी अप्रकाशित हैं। आशा है कि शेखावटी के धनी-मानी सेठ एवं राजस्थान के साहित्यिक विद्वान उनको प्रकाशित करने के लिये सचेष्ट होंगे।

कवि शेख नबी—

कवि शेख नबी द्वारा रचित 'ज्ञानदीप' शीर्षक प्रेमगाथा उपलब्ध होती है, जिससे ज्ञात होता है कि उन्होंने इसका सृजन सम्राट जहाँगीर के शासनकाल में हिजरी सन् १०२३ में किया था।[2] कवि ने अपना निवास-स्थान जौनपुर सरकार के दोसपुर थाने के अन्तर्गत 'मऊमेउ' नामक स्थान पर बताया है।[3]

ग्रंथ के प्रारम्भ में परम्परानुसार निर्गुण ब्रह्म की उपासना एवं शाहेवक्त की प्रशंसा करके कवि ने कथा आरम्भ की है। नैमिसार निर्मिश्चिक के राजा राय-सिरोमनि के यहाँ शंकर की कृपा से 'ज्ञानदीप' नामक पुत्र अवतरित हुआ। एक दिन आखेट खेलते हुए वह अकेला मार्ग में भटक गया। सिद्धनाथ योगी ने उसे प्रतिभाशाली अवलोककर संसार से विमुख करना चाहा किन्तु वह उन नीरस सिद्धान्तों की ओर आकर्षित न हो सका; अतः सिद्धनाथ ने उसे संगीत द्वारा वश में करना चाहा। उन्होंने ज्ञानदीप को योगी के वेश में उसकी बेसुध अवस्था में विद्यानगर के राजा सुरदेव के संगीत-अखाड़े में पहुँचा दिया। वहाँ के राजा की

---

१ 'सूफी-काव्य-संग्रह' पृ० १५३

२. 'एक हजार सन् रहे छतीसा, राज सुलहो गनहु बतीसा।' सूफी-काव्य-संग्रह', पृ० १६९.

३. 'मऊमेउ' दोसपुर थाना, जाउनपुर सरकार सुहाना।
तहँवा शेख नबी कवि कहो, सब्द अमर गुन बिगल यहाँ।'-वही

कन्या देवजानी उस पर मोहित हो गयी। आगे संपूर्ण ग्रंथ में फिर इन्हीं दोनों की प्रेम-कहानी वर्णित की गयी है।

अन्य कथाओं की अपेक्षा 'ज्ञानदीप' की कथा के संगठन में कुछ अन्तर है। कवि ने साक्षात् दर्शन के द्वारा प्रेम का आविर्भाव दिखाया है। साक्षात् दर्शन भी अकस्मात नहीं होता प्रत्युत गुरू सिद्धनाथ द्वारा कराया जाता है। गुरू सिद्धनाथ उसे योग्य-साधना के लिये उपयुक्त ठहराते हैं किन्तु नीरस ज्ञान-चर्चा (इश्क-हक़ीकी) में साधारणतः किसी का मन नहीं लगता; ज्ञानदीप को ज्ञानचर्चा से विमुख होते देख सिद्धनाथ ने रसरंग (इश्क मजाजी) की ओर उसे आकर्षित किया और इसी हेतु गुरू ने उसे परम सौन्दर्य की प्रतीक देवजानी के निकट पहुँचाया। कथा का प्रारम्भिक भाग अन्य कथाओं से कुछ अंशों में अन्तर रखता है; नायक विरह-पीड़ित होकर स्वेच्छा से गृहत्याग नहीं करता अपितु गुरू के द्वारा उपयुक्त पात्र समझा जाकर उससे गृहत्याग करवाया जाता है। कथा में आश्चर्यजनक तत्त्वों की योजना भी कम नहीं है। सुरज्ञानी को सिद्धि प्राप्त है, वह एक माया-अश्व निर्मित कर अपने मंत्र-ज्ञान का परिचय देती है, जो आरम्भ में छलपूर्वक और फिर नित्य स्वेच्छा से ज्ञानदीप को देवजानी के पास पहुँचाता है। राजा सुख-देव यह प्रसंग ज्ञात होने पर क्रोधित होकर ज्ञानदीप को पेटी में बन्द करके नदी में फिकवा देता है; बाद में ज्ञानदीप से पुत्रवत प्रेम हो जाने पर राजा मानराय की पुत्र-वियोग में मृत्यु होती है। इन घटनाओं की संयोजना में एक ओर तो कवि देवजानी और ज्ञानदीप का विरह प्रदर्शित कर उनके प्रेम का महत्त्व प्रदर्शित करता है, दूसरी ओर राजा मानराय ऐसे सहृदय पात्र की संयोजना से कथा में करुण भावों का संचरण करता है। नलोपाख्यान की भाँति ज्ञानदीप की खोज का भी एकमात्र साधन स्वयंवर की घोषणा समझा गया है। काल्पनिक कथानक के साथ ही आश्चर्यतत्त्वों की योजना कौतूहल-वृद्धि में सहायक हुई है।

'ज्ञानदीप' में अन्य प्रेमाख्यानों की भाँति वस्तु-वर्णन की अधिकता नहीं है। कवि ने नगर, गढ़, जलक्रीड़ा, आदि का वर्णन नहीं किया है। देवजानी के सौन्दर्य का वर्णन, राग-रागिनी-वर्णन एवं मंत्र-ज्ञान-चर्चा अवश्य उपलब्ध होती है। इसमें संयोग की अपेक्षा वियोग-श्रृंगार का चित्रण अधिक है। नायक-नायिका के मिलन का वर्णन मात्र उपलब्ध होता है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि 'ज्ञानदीप' में कवि ने इस तथ्य की अभिव्यक्ति की है कि 'इश्क-मजाजी' के माध्यम से जीव को 'इश्क-हक़ीक़ी' की ओर प्रेरित किया जा सकता है।

कवि कासिम शाह

कवि कासिम शाह ने 'हंस—जवाहिर' नामक प्रेमगाथा का सृजन किया है जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम इमानुल्लाह था, जो निम्न जाति के थे। इनका निवास-स्थान दरियाबाद नामक नगर था जो अवध सूबे के अन्तर्गत लखनऊ जिले में है।[1] 'हंस—जवाहिर' का रचना काल ११४९ हिज्री (सं० १७९२) है।[2] इसमें कवि ने अपने पीर आदि का ऐसा कोई विशेष परिचय नहीं दिया है जिसके आधार पर उसकी गणना सूफ़ी-सम्प्रदाय के किसी प्रमुख वंश के अन्तर्गत की जा सके। शाहे-वक्त के रूप में कवि ने दिल्ली सम्राट मुहम्मदशाह के रूप एवं ऐश्वर्य का वर्णन किया है।

'हंस—जवाहिर' में बलखनगर के शासक बुरहानशाह के पुत्र हंस और चीन देश के राजा आलमशाह की पुत्री जवाहर की प्रेम-कहानी वर्णित है, जो पूर्ण काल्पनिक है। कवि ने घटना-स्थल के लिये बलख, चीन, रूस आदि अभारतीय क्षेत्रों का चयन किया है किन्तु इन स्थलों के निवासी पात्रों का नामकरण, उनका रहन-सहन तथा उनके रीति-रिवाज अधिकतर भारतीय ही हैं। कथा की घटनाओं में कोई विशेष नवीनता नहीं है। राजा का पुत्राभाव, आशीर्वाद के द्वारा पुत्रोत्पत्ति, जन्म-कुण्डली, प्रेमोत्पत्ति, मार्ग की कठिनाइयाँ, गुण, शब्द या परेवा की सहायता विरोधी तत्त्वों का दमन, जीवन की निस्सारता, शाश्वत मिलन आदि की घटनाएँ पुराने ढंग पर ही वर्णित हैं। नवीनता केवल यह है कि अन्य प्रेमगाथाओं में गुरू या किसी सिद्ध की चर्चा सहायक के रूप में हुई है किन्तु इसमें कवि ने गुरु वीरनाथ की चर्चा विरोधी के रूप में की है।

'हंस-जवाहिर' में प्रेम का आविर्भाव स्वप्न-दर्शन और तत्पश्चात् गुण-श्रवण के आधार पर हुआ है। इसमें संयोग की अपेक्षा वियोग की प्रधानता है क्योंकि रति-क्रियाओं के व्यापार को उतना विस्तार उपलब्ध नहीं हो सका है जितना कि हृदय के उल्लास और वेदना के विवरण को मिला है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि अपने पूर्ववर्ती सूफ़ी प्रेमकाव्यों की प्रायः समस्त विशेषताओं से युक्त 'हंस—जवाहिर' कुछ नवीनताओं को (जैसे घटनास्थल के लिये अभारतीय क्षेत्रों का चयन, गुरू की चर्चा विरोधी रूप में करना आदि

---

१. है लखनऊ अवध मंझियारा, दरियाबाद नगर उजियारा।
दरियाबाद मांझ मम ठाऊँ, इमानुल्लाह पिताकर नाऊँ॥" 'सूफी-काव्य-संग्रह' पृ० १७६.

२. 'ग्यारह से उनचास जो आजा, तब यह प्रेमकथा कवि साजा॥" वही

नवीनताओं को) भी लिये हुए है। घटना-स्थल के लिये चीन, बलख, रूस जैसे प्रदेशों को लेने के कारण कथा में चमत्कार एवं कौतूहल का समावेश अन्य ग्रंथों की अपेक्षा अधिक हो गया है।

नूर मुहम्मद–

कवि नूर मुहम्मद का उपनाम कामयाब था। फ़ारसी में ये 'कामयाब' नाम से ही कविता करते थे और लगभग सन् १७८० तक विराजमान थे। जैसे जायसी जायस नगर में रहने लगे थे वैसे ही कवि नूर मुहम्मद ने 'सबरहद' नामक स्थान को अपना निवास-स्थान बना लिया था।[१] अपने जीवन के अंतिम दिनों में ये अपनी ससुराल भादो (फूलपुर, आजमगढ़) में रहने लगे थे। शाहे वक्त के रूप में कवि ने सम्राट मुहम्मद शाह की प्रशंसा की है।

कवि की रचनाएँ फारसी और हिन्दी दोनों भाषाओं में हैं। फारसी भाषा में इन्होंने 'दीवान', 'रौजतुल हकायक' आदि अनेक ग्रंथों का सृजन किया था जो असावधानी के कारण नष्ट हो गये। हिन्दी भाषा में रचित इनकी सर्वप्रथम प्रेमगाथा 'इन्द्रावती' है जिसकी रचना इन्होंने अपने यौवनकाल में की थी। 'इन्द्रावती' के पश्चात् इन्होंने 'नल–दमन' और 'अनुराग–बाँसुरी' शीर्षक प्रेमगाथाओं की रचना की।

कवि नूर मुहम्मद द्वारा प्रणीत प्रेमगाथाओं की कथावस्तु ऐतिहासिक न होकर पूर्णतः काल्पनिक एवं साथ ही रूपक युक्त है। 'राजकुँवर' साधक है। गुरुनाथ तपस्वी और मार्ग-प्रदर्शक एवं आठ सखा शरीर के साथ रहने वाले इन्द्रियविकार हैं। राजकुँवर की रानी 'सुन्दर' शारीरिक मोह-जाल का प्रतीक है जिसकी उपेक्षा करके साधक राजकुँवर स्वप्न में अलौकिक ब्रह्म की प्रतीक इन्द्रावती को उपलब्ध करने का प्रयास करता है। राजकुँवर को मार्ग में सात बीहड़ वन मिलते हैं। इन सातों वनों का वर्णन करते समय कवि ने इन्द्रिय-विकारों-रूप, गंध, स्पर्श, रस, शब्द आदि का वर्णन किया है। इन समस्त वनों पर राजकुँवर की विजय साधक की शारीरिक वासनाओं पर विजय का प्रतीक है। देहजनित विषय-वासनाओं एवं इन्द्रियजनित भोगों की आकांक्षा लेकर साधना में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, इसी सत्य का उद्घाटन राजकुँवर निम्नलिखित शब्दों में करता है-

'तुम सब कहँ मैं साथ लगाएउँ, जाइ न सकउँ लाज मैं पाएउँ।"[२]

अतः राजकुँवर अपने आठों साथियों को देहन्तपुर में छोड़ देता है।

'देहन्तपुर' में दैहिक वासनाओं के त्याग के पश्चात् आगे के मार्ग में राजकुँवर

---

१ 'कवि अस्थान–कीन्ह जेहि ठांउ, सो वह ठांऊ सबरहद नांऊ।"
–'सूफ़ी–काव्य–संग्रह' पृ० १८१.

२. सं० श्यामसुन्दरदास 'इन्द्रावती' (प्रथम भाग) पृ० २६.

(साधक) का सहायक है कायापति। सहायक का नाम कवि ने अति मर्मज्ञता से कायापति रक्खा है। शारीरिक वासनाओं का स्वामी ही साधना में सबसे बड़ा योग-दाता है। इस प्रकार कायापति के समुद्र पार कर साधना-मार्ग में अग्रसर होने पर 'चाइ बसा जिउपुर वियोगी' साधक की समस्त चेतनाएँ आत्म-केन्द्रित हो जाती हैं। वह परमात्मा के विरह का निरन्तर अनुभव करता हुआ हृदय-दर्पण में उसके दर्शन का प्रयास करता है।

'मन-फुलवारी' में चेता नामक मालिन के सहयोग से राजकुँवर को इन्द्रावती के दर्शन होते हैं। इधर इन्द्रावती भी राजकुँवर की ओर आकर्षित हो जाती है और वियोग का अनुभव करती है। दृढ़ निश्चयी साधक राजकुँवर अन्त में सब पर विजय पाकर मरजीया होकर आराध्य की प्राप्ति करता है।

'इन्द्रावती' में ऐकान्तिक प्रेम की गूढ़ता और गंभीरता के साथ-साथ जीवन के अन्य अंगों का भी चित्रण हुआ है। दाम्पत्य-प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य की अन्य वृत्तियों का भी समावेश है। माँ के यहाँ की स्वच्छन्दता, सतीत्व की महत्ता, स्वामि-भक्ति, वीरता, यात्रा, युद्ध आदि का सुन्दर चित्रण हुआ है। जिस प्रकार कवि उस-मान ने 'चित्रावली' के अन्तर्गत 'काम-शास्त्र' पर एक पृथक अध्याय की रचना की है उसी प्रकार नूर मुहम्मद ने भी 'इन्द्रावती' में 'औषधि शीर्षक' एक पृथक अध्याय की रचना की है।

'इन्द्रावती' में केवल कतिपय पात्रों एवं स्थानों का नामकरण ही ऐसा है जो रूपकात्मक होने के कारण अध्यात्म की ओर संकेत करता है किन्तु अनुराग-बाँसुरी' में प्रत्येक पात्र एवं स्थान का नाम विशेष अर्थ व्यंजित करता है।

'मूरति नगर' काया का प्रतीक है। जिसका स्वामी 'जीव' है। 'जीव' का एक मात्र आधार या प्रिय-पुत्र 'अन्तःकरण' है। 'संकल्प' एवं 'विकल्प' नामक दो प्रधान प्रवृत्तियाँ अन्तःकरण के दो मित्र हैं। इनके अतिरिक्त मन, बुद्धि, चित्त, अहं-कार भी उसके साथी हैं। उसका सहज आकर्षण 'अविद्या', 'माया' या अपनी पत्नी 'महामोहनी' के प्रति है किन्तु उसके जीवन का लक्ष्य 'स्नेह-नगर' के स्वामी दर्शनराय की पुत्री 'सर्वमंगला' की प्राप्ति है। इस रागिनी का परिचय 'अन्तःकरण' को श्रवण के द्वारा मिलता है। वह उसके लिये विरहाकुल हो उठता है। 'बूझ' ने कुँवर का भेद जानकर जीव को बताया। जीव एवं संकल्प-विकल्प ने उसे प्रेम-पथ से विचलित करना चाहा किन्तु बुद्धि ने अन्तःकरण को साहस एवं उत्साह दिलाया। अन्तःकरण स्नेह गुरु का शरणागत होकर उपदेशी सुवा की सहायता से अभीष्ट मार्ग की ओर अग्रसर हुआ। मार्ग में कामुकी, मनभावनी, रूपसनेही, रंगसनेही और बाससनेही आदि ने उसे पथभ्रष्ट करने का प्रयास किया किन्तु सफल न हो सके। 'ध्यानदेहरा' में

एकाग्रचित होकर 'सर्वमंगला' का ध्यान करने से उसे सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् उन दोनों का मिलन हो जाता है। स्पष्ट है कि इसमें समस्त जीवन का प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है।

'अनुराग-बाँसुरी' में कवि ने संयोग शृंगार का वर्णन नहीं किया है। महामोहिनी को पति-वियोग का दुःख है। मनभाविनी की कला अन्तःकरण पर नहीं चली। सर्वमंगला अन्तःकरण की हो जाती है किन्तु गृहस्थ के रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती। महामोहनी का वियोग, अन्तःकरण का संताप एवं सर्वमंगला की वियोग–मूलक आतुरता ही सर्वत्र व्याप्त है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि कवि नूर मुहम्मद ने ऐतिहासिक या पौराणिक कथा का आधार लेकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया है प्रत्युत उनकी प्रेमकथाओं की कथावस्तु पूर्णतः काल्पनिक एवं रूपक के गुणों से समन्वित है। पात्रों के भावात्मक नामकरण ने कवि के रूपक को स्पष्ट करने में पूर्ण योग दिया है।

कवि हुसेन अली

कवि हुसेन अली कृत 'पुहुपावती' नामक प्रेमगाथा उपलब्ध हुई है जिसके प्रारंभिक पृष्ठ नहीं है, अतः न तो निर्गुण परमात्मा, मुहम्मद, चार मीत एवं शाहे वक्त की प्रंशसा ही प्राप्त होती है और न कवि के परिचय के सम्बन्ध में ही कोई विशेष बात ज्ञात होती है। केवल इससे इतना ज्ञात होता है कि कवि 'हरिगाँव' नामक ग्राम का निवासी था और कन्नौज निवासी केशव लाल कवि के काव्य–गुरु थे।

इनकी प्रेमगाथा का रचना-काल हि० सन् १२३८ है।[1] इसमें काशीपुर के राजा मानिकचन्द्र और जम्बूद्वीप की राजकुमारी पुहुपावती की प्रेम-कथा वर्णित है। यह कथा शुद्ध प्रेमाख्यान है। अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानों की भांति इसके नायक-नायिका के मिलन में किसी प्रकार की विघ्न-बाधा उपस्थित नहीं होती। ग्रंथ की प्रति अपूर्ण है अतः कथा के अंत के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता; किन्तु प्राप्त प्रतिलिपि सुखान्त ही है।

ग्रंथ में केवल शृंगार-रस उपलब्ध होता है। संयोग–वर्णन यद्यपि अश्लील नहीं है किन्तु उसमें आनन्द–संचार की क्षमता भी नहीं है केवल रीतिकाल से प्रभावित काव्य–चमत्कार है, अनुप्रास की छटा है; उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है—

'छकि मदमाह भये सतगारे, गये उघरि घट लाज के वारे।'
हँसि–हँसि हेरत मद मतमाते, वलकि–वलकि मुख निकसहिं वातें।

---

१. 'ग्यारह सै अरतिस सनी, पुहुपावती कविता तव भनी'।
उद्धृत डॉ० सरला शुक्ल 'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य' पृ० ४९६

बोलत वचन ललक लिपटाहीं, माते नैनन फिरहिं फिराहीं।
निपट लजीली नवल सुरवाला, हँसि-हँसि झुकै हिए मदपाला।।
छाके मद छबि परै न छाकू, अस मद पियो न होे विपाकू।।

शेख निसार

शेख निसार द्वारा फारसी-लिपि में लिखित 'यूसुफ-जुलेखा' है जो 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में सुरक्षित है। इससे ज्ञात होता है कि इनका जन्म शेखपुर नामक गाँव में हुआ था।[1] शेख निसार ने जिस समय अपने काव्य का प्रणयन किया था उस समय दिल्ली सुल्तान शाह आलम राज्याधिपति था। 'निसार वस्तुतः कवि का एक उपनाम मात्र था; उनका वास्तविक नाम गुलाम अशरफ था।'[2]

'यूसुफ-जुलेखा' के अतिरिक्त कवि शेख निसार ने हिन्दी, फारसी, तुर्की, संस्कृत एवं अरबी-भाषाओं में आठ अन्य ग्रन्थ और भी लिखे हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) मेहर निगार (आख्यानक काव्य) (२) रस मनोज (शृंगार रसात्मक ग्रन्थ) (३) दीवान (४) अहसन जौहर (फारसी मसनवी) (५) स्त्रोदी (संगीत ग्रन्थ) (६) नस्त्र नामक फारसी गद्य ग्रन्थ (७) नसाब-एक संग्रह ग्रन्थ और (८) यूसुफ-जुलेखा।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कृति 'यूसुफ-जुलेखा' ही है। इसकी रचना कवि ने संवत् १८४७ में ५७ वर्ष की अवस्था में की थी। पौषमास की पूर्णिमा को कवि ने इसे लिखना आरम्भ किया था और सात दिवस में समाप्त कर लिया था।[3]

शेख निसार को इस ग्रन्थ की रचना करने की प्रेरणा विरह से प्राप्त हुई थी। उनको जीवनपर्यन्त दुःख सागर में निमज्जित रहना पड़ा क्योंकि नव वर्ष की अवस्था में ही उनके पिता का देहान्त हो गया था और फिर धीरे-धीरे इनके तीनों भाइयों का भी स्वर्गवास हो गया। इसके पश्चात् इनका बाइस वर्ष का लतीफ नामक प्रिय पुत्र कालकवलित हो गया। उस समय से ये विक्षिप्त से हो गये और इन्हें समस्त संसार शून्यवत व नीरस प्रतीत होने लगा। इनका लौकिक प्रेम ईश्वर-प्रेम की ओर

---

१. 'शेखपुर अति गाँव सुहावा, शेख निसार जनम तहँ पावा।'
उद्धृत 'सूफी-काव्य-संग्रह', पृ० १९७।

२. वही, पृ० १९८।

३. 'अट्ठारह सै सैंतालिसा, सम्वत् विक्रम सेन नरेसा।
सत्तावन अस बीते आउ, तब उपजेउ यह कथा कै चाउ।
सात दिवस मह कीन्ह समाप्त, दुरमति नाम रह्यो सो सम्मत।' 'सूफी-काव्य-संग्रह', पृ० २००।

उन्मुख हो गया और इनका रोम-रोम विरह में तड़पने लगा, जिसका प्रदर्शन इन्होंने 'यूसुफ जुलेखा' के माध्यम से किया।

कवि निसार ने अन्य सूफ़ी–कवियों की भाँति प्रचलित भारतीय कथाओं को अपने काव्य का उपजीव्य न बनाकर कुरान में वर्णित 'यूसुफ-जुलेखा' की कथा को ग्रहण किया हैं किन्तु कवि निसार द्वारा लिखित कथा में और कुरान में प्रस्तुत कथा में अन्तर है। जुलेखा की सम्पूर्ण कथा नख–शिख-वर्णन, यौवनागमन, स्वप्न दर्शन, विरह-वेदना तथा 'जुलेखा' का वजीर से व्याह-सम्बन्ध, इन बातों की कुरान में चर्चा तक नहीं है। इसी प्रकार जुलेखा का अपने पति से सतीत्व की रक्षा करना, यूसुफ के लिये सर्वस्व त्यागकर तपस्या करना, नेत्रहीन तथा सौन्दर्यहीन होना, विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन, अन्त में मिलन, गृहस्थ-जीवन, यूसुफ एवं जुलेखा का निधन आदि वृतान्त भी कुरान में नहीं हैं। कवि ने इन प्रसंगों का समावेश इसे चली आती हुई कथा-परम्परा से मिलाने के हेतु ही किया है।

'यूसुफ-जुलेखाँ' में जिस प्रेम-पद्धति का वर्णन है वह अपने आरम्भ में तो 'ऊषा' अनिरुद्ध के प्रेम के समान तथा प्रयत्नकाल में 'सावित्री-सत्यवान' के आख्यान-तुल्य है। अधिकांश सूफ़ी प्रेमाख्यानों में जिस प्रेम-पद्धति का वर्णन है उसका आरम्भ नायक की ओर से ही होता है; किन्तु निसार के प्रेमाख्यान में यह नवीनता है कि इसमें ईश्वरीय गुणों एवं सौन्दर्य का प्रतीक नायिका न होकर नायक है, जिसके सौन्दर्य को स्वप्न में अवलोक कर नायिका प्रेम विमोहित हो जाती है। प्रियतम की प्राप्ति का प्रयत्न भी नायिका की ओर से ही होता है। नायक उसके सौन्दर्य एवं प्रेम के प्रति विमुख है। जुलेखा के कठिन प्रयत्नों, विरह तथा तपस्या को अवलोककर भारतेन्दु बाबू द्वारा लिखित इस पंक्ति 'पगन में छाले परे, नांघिबे को नाले परे, तऊ लाल लाले परे रावरे दरस को' की सत्यता सिद्ध हो जाती है। कथा के पूर्वार्द्ध में वर्णित नायिका का प्रेम सर्वथा-ऐकान्तिक है। वह तीन बार स्वप्न में यूसुफ के दर्शन करती है। तीसरी बार उसे यह ज्ञात होता है कि उसका प्रियतम मिस्र देश में है। उसका पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाने पर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न भी जुलेखा की ओर से ही होता है। मिस्र के वजीर से उसका विवाह हो जाता है किन्तु मार्ग में वजीर को अवलोककर उसे अपने भ्रम का ज्ञान होता है और वह फिर विरहिणी हो जाती है।

किन्तु जुलेखा की इस प्रेम-पीर का कोई प्रभाव यूसुफ पर दृष्टिगत नहीं होता। नायिका का प्रेम पूर्णत: ऐकान्तिक है। मिस्र में निन्दित तथा पति द्वारा परित्यक्त होने पर भी वह चालीस वर्ष तक युसुफ के प्रेम में मनसा-वाचा-कर्मणा रत रहती है। अपनी सम्पत्ति, सामर्थ्य तथा सौन्दर्य सब कुछ खोकर अति वृद्धावस्था में नष्टप्राय ज्योति लेकर वह यूसुफ के दर्शनार्थ जाती है। उसकी इस तपस्या में प्रेम

का पुनीत रूप दृष्टिगत होता है। वह हृदय में आशा का मन्द ज्योति दीपक लिये यूसुफ से मिलने को उत्सुक है। अन्त में यूसुफ से जुलेखा का विवाह हो जाता है और उसके निधन पर वह भी प्राणत्याग कर देती है। विवाहोपरान्त जुलेखा की विरक्ति प्रदर्शित करने का अभिप्राय सम्भवत: कथा में अलौकिकता का समावेश करना है।

निष्कर्ष रूप में, हम कह सकते हैं कि 'यूसुफ-जुलेखा' अपने ढंग की एक अनुपम कृति है जिसके कथानक का चयन भारतीय कथाओं से न होकर शामी जाति से हुआ है। कवि कासिम शाह कृत 'हंस-जवाहिर' में केवल घटना क्षेत्र ही विदेशी हैं पात्रों का नामकरण, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि भारतीय ही हैं किन्तु कवि शेख निसार की रचना 'यूसुफ-जुलेखा' की कथावस्तु, घटना-क्षेत्र, पात्रों का नामकरण, रहन-सहन आदि सभी बातें विदेशी हैं।

शाह नजफ अली

इधर 'प्रेम-चिनगारी' शीर्षक एक प्रेमगाथा उपलब्ध हुई है जिसके रचयिता शाह नजफ अली सलोनी है। इनके जन्म एवं मृत्यु सम्वत् का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं है। ये रायबरेली के निवासी थे और रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ इनके आश्रयदाता थे।

'प्रेम-चिनगारी' के अतिरिक्त इन्होंने 'अखरावटी' शीर्षक ग्रन्थ की भी रचना की है किन्तु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। 'प्रेम-चिनगारी' की प्राचीन पाण्डुलिपि फारसी लिपि में श्री अख्तर हुसेन निजामी को 'रीवाँ' में उपलब्ध हुई है। 'अखरावटी के कतिपय छन्द भी उनके पास हैं। 'अखरावटी' के बत्तीसवें छन्द में इसका रचनाकाल हिज़री सन् १२२४ दिया गया है। 'प्रेम-चिनगारी' इसके बाद की रचना है। इसकी रचना-तिथि सन् १२६१ है।

ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने निर्गुण-वन्दना, मुहम्मद साहब की प्रशंसा, चार खलीफाओं एवं इमामहसन तथा हुसेन का गुणगान एवं पीर की चर्चा की है। कवि ने मौलाना रूमी की मसनवी की दो हिकायतों का हिन्दी में अनुवाद किया है। मौलाना रूमी की पहली कथा में मानव को बाँसुरी मानकर सूफ़ी अद्वैतवाद का स्पष्टीकरण किया गया है। दूसरी कथा हजरत मूसा और गड़रिये की है जिसमें निर्गुणवाद की चर्चा है।

इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें शृंगार-रस के स्थान पर शान्तरस उपलब्ध होता है।

डा० गणपति चन्द्रगुप्त के शब्दों में "इसमें लौकिक प्रेम का सर्वथा अभाव है। गड़रिये की ईश्वर के प्रति दास्य-भाव की भक्ति-भावना का प्रकाशन है तथा

प्रेमकथा-काव्य की अन्य कई प्रवृत्तियाँ इसमें नहीं मिलतीं। सर्वथा सूफी मसनवियों पर आधारित हिन्दी-काव्य का यह प्रथम उदाहरण है।"[१]

ख्वाजा अहमद

कवि ख्वाजा अहमद ने 'नूरजहाँ' शीर्षक प्रेमगाथा की रचना की है जिसमें इन्होंने अपनी जन्म-तिथि सन् १८३० ई० (सं० १८८७ वि०) बतलायी है। इनका निवास-स्थान बाबूगंज नामक ग्राम है जो प्रतापगढ़ जिले की प्रतापगढ़ तहसील के अन्तर्गत स्थित है। यहाँ इनके दादा कहीं अन्यत्र से आकर बसे थे। इनके पिता का नाम लालमोहम्मद था। 'नूरजहाँ' की रचना-तिथि सन् १९०५ ई० (सं० १९६२ वि०) है। इसकी समाप्ति कवि ने अपनी मृत्यु से दो वर्ष पूर्व की थी। इस प्रकार इन्होंने लगभग ७५ वर्ष की आयु प्राप्त की थी।

नूरजहाँ नाम से इसके ऐतिहासिक कथानक का भ्रम होता है किन्तु इसका कथानक ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक है। कवि कासिम शाह की भाँति ख्वाजा अहमद ने भी ईरान, खुतान, रूम जैसे दूरस्थित प्रदेशों को घटनास्थल के लिये चुना है। पात्रों के नामकरण भी इन प्रदेशों के अनुसार ही हैं किन्तु उनके रहन-सहन एवं संस्कारों का विशेष उल्लेख कवि ने नहीं किया है।

कथा-संगठन की दृष्टि से यह अन्य ग्रन्थों से पृथक है। अन्य प्रेमगाथाओं में नायक-नायिका में स्वप्न-दर्शन, साक्षात्-दर्शन या गुण-श्रवण के द्वारा प्रेम का प्रादुर्भाव होता है किन्तु इसमें खुरशेद एवं नूरजहाँ एक दूसरे को स्वप्न में न अवलोककर खुरशेद नूरजहाँ को और गुलबोस कुरशेद को स्वप्न में देखते हैं, अतः खुरशेद और गुलबोस के प्रयत्न में साम्य नहीं है। अन्त नायक-नायिका के मिलन से होने के कारण कथा सुखान्त है।

कथा के अन्त में कवि ने ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य तथा उसके रहस्य का उद्घाटन भी किया है। उनके मतानुसार जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। कायागढ़ में ही नयनपुर, सरनदीप, खुतान देश एवं गढ़पति का निवास है। सीप के मध्य तत्त्व-रूप में जिस प्रकार मोती की स्थिति है उसी प्रकार काया के मध्य तत्त्व के रूप में वह ज्योति-स्वरूप परमात्मा नूरजहाँ के रूप में स्थित है।[२]

---

१. 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'– पृ० ५६६

२. "देखउ यदि काया के मांही, दूसर घाट अवर कहुँ नाहीं।
काआ मांझ नयनपुर घाटा, देखेउ सरनदीप के बाटा ॥
रूम खुतन काआ के (नैन) मांझा, काआ मांझ भोर औ सांझा।
सब गढ़पति काआ के माहीं, दूसर ठांउ लखी कहुँ नाहीं।
नूरजहाँ काआ के जोती, काआ समुद सीप जहँ मोतीं ॥"
—'सूफी-काव्य-संग्रह', पृ० २१२

अस्तु, कहा जा सकता है कि 'नूरजहाँ' ऐतिहासिक न होकर कल्पना पर आधारित प्रेमगाथा है जिसमें भावात्मकता की अपेक्षा वर्णनात्मकता अधिक है। साथ ही घटनास्थल के लिये चुने गये क्षेत्र विदेशी हैं और पात्रों का नामकरण अपने क्षेत्रानुसार ही है।

शेख़ रहीम

कवि शेख़ रहीम ने 'भाषा-प्रेमरस' शीर्षक प्रेमगाथा की रचना की है। ये बहराइच जिले के अन्तर्गत स्थित जोंबल नगर के निवासी थे। ये हनफ़ीमत के शेख अन्सारी जाति के थे। इनके पिता का नाम यारमुहम्मद तथा दादा का नाम शेख रमजान था। जब इनकी आयु केवल पाँच वर्ष की थी तभी इनके पिता का देहान्त हो गया था; इनके नाना खुदाबख्श ने इनका पालन-पोषण किया। इनके पूज्य गुरु सैयद विलायत अली थे। इनके ग्रन्थ-रचना के समय सम्राट सप्तम एडवर्ड का देहान्त हो चुका था और उनके पुत्र पंचम जार्ज का शासन-काल आरम्भ हो गया था। कवि ने अपनी प्रेमगाथा का रचनाकाल 'तीन बारह सन् १९ ईसा' (१९१५ ई० अर्थात् सं० १९७२ वि०) दिया है।[1]

'भाषा-प्रेमरस' में राजा की लड़की चन्द्रकला तथा मंत्री के लड़के प्रेमसेन की प्रणय-गाथा वर्णित हुई है। उनका प्रेम साक्षात् दर्शन से उद्भूत बचपन का प्रेम है जिसका समाप्त होना असम्भव सा है क्योंकि लड़कपन का प्रेम—'लरिकाई का प्रेम कहो अलि कैसे छूटै।'

'भाषा-प्रेमरस' का कथानक इतिहास से ग्रहीत न हो का कल्पना पर आधारित है जिसमें संयोग का अधिक चित्रण न होकर वियोग का आधिक्य है। खण्डों के नामकरण में कवि ने अपने फारसी ज्ञान का परिचय दिया है; यथा 'आत्म परिचय' के लिये वह 'हालमुसन्निफ़' लिखता है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि पंचम जार्ज के समय में होने के कारण कवि शेख रहीम आधुनिक प्रेमगाथाकारों में आते हैं और इनके द्वारा प्रणीत 'भाषा-प्रेमरस' ने प्राचीन सूफ़ी काव्य-धारा को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

कवि नसीर

कवि नसीर गाजीपुर जिले के जमानियाँ गाँव के रहने वाले थे। इनका

१. "एडवर्ड सतए जगजाता, भयो सरग महँ जिनकर थाना।
पंचम जार्ज तेहि सुत न्याई, जगमा कीरति जिनकर छाई।
तीन बारह सन् उनइस ईसा, बरनूँ कथा सुमिरि जगदीसा॥" —'सूफ़ी-काव्य-संग्रह,' पृ० २१४।

२. सं० डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' 'सूर-संचयन' पृ० ४।

जीवन स्वयं एक दुःखकथा है। बचपन में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। माता ने इनका पालन-पोषण किया तथा एक मौलवी को रखकर इन्हें धार्मिक शिक्षा दिलवायी। यथासमय इनका विवाह एक धनसम्पन्न स्त्री से कर दिया गया। तत्पश्चात् इनकी माता का भी स्वर्गवास हो गया। इसके उपरान्त इनके तीन सन्तानें हुई जो कालकवलित हो गयीं और उन्हीं के शोक में इनकी पत्नी भी परलोक सिधार गयी। इसके पश्चात् इन्होंने क्रमशः दो और विवाह किये किन्तु द्वितीय पत्नी दो मास और तृतीय पत्नी दो वर्ष पश्चात् काल का ग्रास बन गयी। तत्पश्चात् दुखित होकर भ्रमण करते हुए ये कलकत्ता पहुँचे और सुन्दरिया पट्टी की कोठी नं० १०७ में ठहरे। वहाँ के निवासी मुहम्मद शफ़ी नाम के सौदागर ने इन्हें दुखित जानकर इनका चित्त बहलाने के लिये अनेक प्रेम कथाएँ सुनायी, जिनमें से इन्हें फारसी कवि जामी की 'यूसुफजुलेखा' सर्वाधिक आकर्षक लगी। इन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि फिगार नामक शायर ने उसका उर्दू अनुवाद भी किया है। फिगार शायर की रचना 'इश्कनामा' के ही आदर्श पर इन्होंने भी अपनी रचना 'प्रेमदर्पण' का सृजन आरम्भ कर दिया। इसकी रचना-तिथि हिजरी सन् १३:५ (सं० १९७४) है।

यद्यपि कथा का आधार 'कुरान' में वर्णित यूसुफ जुलेखा का प्रेमाख्यान है किन्तु कवि ने निसार की भाँति उसमें कुछ अन्तर ला दिये हैं। निसार की 'यूसुफ-जुलेखा' में सौदागर की सुन्दरी कन्या का उल्लेख नहीं है। सम्भवतः कवि नसीर ने इस घटना का उल्लेख इसी उद्देश्य से किया होगा कि यूसुफ (परब्रह्म) के सौन्दर्य का स्पष्टीकरण हो जाय। मिस्र में सौदागर की कन्या के समान कोई सुन्दर नहीं था किन्तु वह भी यूसुफ को देखकर आश्चर्य-चकित हो गयी। यूसुफ ने उसे परमेश्वर के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट किया; इस घटना का समावेश कवि की अपनी मौलिकता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों की कृतियों में एक अन्तर यह भी है कि 'यूसुफ-जुलेखा' ग्रंथ में यूसुफ-जुलेखा का पाणिग्रहण नबी याकूब की दुआ से हुआ था जबकि 'प्रेम-दर्पण' में यह संस्कार जिबरील की आज्ञा से सम्पन्न होता है।

कवि नसीर ने यूसुफ और जुलेखा दोनों को ही ब्रह्म का प्रतीक माना है। यूसुफ का सौन्दर्य चित्रण करते हुये वह लिखता है—

"जनों विधना निज जोत दिखावा, यूसुफ ओट में आप समावा।'

इसी प्रकार जुलेखा का नखशिख-वर्णन करते हुए उसने कहा है कि—

'अस समतोल रही वह गाता, जोत साँच जनो धरे विधाता।'

अस्तु, कहा जा सकता है कि 'प्रेमदर्पण' 'इश्कनामा' और 'यूसुफ'-जुलेखा' के आदर्श पर प्रणीत होने पर भी इनसे पृथक है।

उपर्युक्त प्रेमगाथाओं के अतिरिक्त इधर 'कामरूप की कथा' तथा 'कथा कुँवरावत' शीर्षक दो प्रेमगाथाएँ और उपलब्ध हुई हैं। 'कामरूप की कथा' के

सृजनकर्त्ता के सम्बन्ध में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका। ग्रन्थ की पाण्डुलिपि काशी नागरी प्रचारिणी के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें अवधपुर के राजा के पुत्र कुँवर कामरूप एव सरनद्वीप के शासक कामराज की पुत्री कामकला के प्रेम का चित्रण है।

'कथा कुँवरावत' के रचनाकार का नाम अली मुराद है। कवि के सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात होता है। इस प्रेमगाथा में कुँवर और अमर नगर के राजा इन्द्र की पुत्री फूलमती के प्रेम का वर्णन किया गया है। अन्य कवियों की अपेक्षा इसके रचयिता का ध्यान सूफ़ी-सिद्धान्तों एवं प्रेम-पंथ के निरूपण की ओर अधिक है। कथा दुखान्त है। राजकुँवर की मृत्यु हो जाने पर फूलमती तथा वासुमती दोनों पत्नियाँ सती हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि हिन्दी के इन प्रमुख सूफी-कवियों ने उपयुक्त प्रेमगाथाओं का स्रजन करके हिन्दी में प्रेमकाव्यों की एक धारा ही प्रवाहित कर दी है जो बीसवीं शताब्दी तक धीरे-धीरे प्रवाहित होती जा रही है।

३. २. सूफ़ी-काव्य : वर्ण्य-विषय काव्यादर्श और महत्ता

वर्ण्य-विषय

जब किसी साहित्य-धारा में परिवर्तन होता है तो अभिव्यक्तीकरण के अन्य विषयों के साथ-साथ उसके वर्ण्य-विषय में भी परिवर्तन का होना अनिवार्य हो जाता है। वीरगाथाकालीन काव्य का वर्ण्य-विषय युद्ध, वीरता, श्रृंगार एवं आश्रयदाताओं की प्रशंसा से सम्बद्ध था। सिद्ध एवं नाथ काव्य के वर्ण्य-विषय का सम्बन्ध हठयोग साधना यौगिक-क्रियाओं एवं सरल शैली में अपने भावों को जनसाधारण तक प्रेषित करने से था। संत-काव्य का वर्ण्य-विषय अध्यात्म-प्रेम, रहस्यानुभूति और हिन्दू-मुसलमानों में ऐक्य स्थापित करना था। सूफी-काव्य का वर्ण्य-विषय इन सबसे पृथक है, उसके वर्ण्य-विषय की अनेक विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार हैं—

यद्यपि अधिकांश प्रेमाख्यानों (चंदायन,पद्मावत, मधुमालती, चित्रवली आदि) का स्रोत भारतीय है किन्तु साथ ही इस्लाम एवं शामी परम्परा से भी यूसुफ-जुलेखा' 'प्रेमदर्पण' जैसे प्रेमाख्यानों का कथानक ग्रहण किया गया है। साथ ही यह द्रष्टव्य है कि इन प्रेम कथानकों के वर्णन में भी भारतीय वातावरण तथा संस्कृति का चित्रण रहता है।

सूफ़ी-कवियों का वर्ण्य–विषय ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनों ही है। ऐतिहासिक कथानकों के रूप में रत्नसेन एवं पद्मावती तथा देवलदेवी एवं खिज्र खाँ की प्रम-कथा को सूफ़ी-कवियों ने अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। अन्य कथाओं

के मध्य भी इन कवियों ने ऐतिहासिक घटना के स्थान पर कहीं-कहीं केवल ऐतिहासिक नाम ही मिल जाता है; उदाहरणार्थ 'छीता' शीर्षक प्रेमाख्यान को प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें अलाउद्दीन का नाम ऐतिहासिकता का परिचायक है किन्तु उसका चरित्र ऐतिहासिक न होकर कवि-कल्पित है। इसी प्रकार ख्वाजा अहमद द्वारा लिखित 'नूरजहाँ' का नाम ऐतिहासिक होते हुए भी रचना पूर्णरूपेण काल्पनिक है। अधिकांश सूफ़ी–काव्य-'मधुमालती,' 'चित्रावली' 'इन्द्रावती', 'अनुराग-बांसुरी' 'हंस-जवाहर' 'भाषा प्रेमरस,' 'पुहुपावती' आदि कल्पनाप्रसूत हैं।

सूफ़ी-कवियों द्वारा प्रणीत समस्त रचनाएँ एक प्रकार से कथारूपक के अन्तर्गत आती हैं। कथारूपक के रहस्य का उद्घाटन कभी-कभी कवि स्वयं कर देता है जैसा कि जायसी कासिमशाह, कवि नसीर ने किया है और कभी-कभी कोई कवि अपनी कहानी के पात्रों के नाम ही ऐसे रख देता है जिससे समस्त गूढ़ बातें क्रमशः प्रकट होती जाती हैं; उदाहरणस्वरूप नूर मुहम्मद कृत 'अनुराग-बाँसुरी' को लिया जा सकता है।

इन प्रेमाख्यानों के वर्ण्य-विषय की प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें 'इश्क-मजाज़ी के द्वारा 'इश्क-हकीकी' का प्रतिपादन किया गया है। जिनमें प्रेम-भावना की उत्पत्ति स्वप्न-दर्शन, चित्रदर्शन, गुण-श्रवण या साक्षात दर्शन से होती है। नायक नायिका के सौन्दर्य पर विमोहित होकर मिलन के लिये आतुर हो जाता है और फिर लक्ष्य-प्राप्ति के हेतु सर्वस्व त्याग कर बाधाओं को सहर्ष सहने को सन्नद्ध हो जाता है। अनेक विघ्न-बाधाओं को झेलता हुआ वह अपने पथ पर अग्रसर होता है और सफलता पाकर पुनः अनेक अड़चनों को पारकर स्वदेश प्रत्यावर्तन करता है।

इन कथानकों में प्रेमी के पथ का सहायक कोई परी, देव अथवा पक्षी आदि रहता है। साधक का मार्ग प्रदर्शन कोई गुरू या पीर करता है। मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाएँ साधना में विघ्न उपस्थित करने वाले प्रलोभनों का संकेत हैं। विकट दुर्गों पर विजय प्राप्त करना अथवा घोर युद्धों में सफल होना साधक की शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियां के विरोध में उसकी सफलता का सूचक है तथा प्रिय मिलन ईश्वरोपलब्धि का प्रतीक है।

इन काव्यों के वर्ण्य-विषय की एक अन्य प्रमुख विशेषता प्रेम और रूप का अनिवार्य सम्बन्ध है। अधिकांशतः प्रेमारम्भ का मूल कारण रूप-सौन्दर्य ही है जो खुदा के नूर की ओर संकेत करता है। ईश्वरीय सौन्दर्य की अवतारणा अधिकांश सूफ़ी-कवियों ने अपनी नायिकाओं में की है। यह सौन्दर्य ही साधक को अपनी साधना की ओर प्रेरित करता है और अन्त में उस अनन्त सौन्दर्यशाली परमेश्वर में वह साधक अवस्थित हो जाता है। उपलब्ध प्रेमकथाओं में यूसुफ ही एक ऐसा

नायक है जो उस खुदा के नूर का प्रतीक है। अन्य प्रेमख्यानों में भी कवियों ने अपने नायक को नायिका के रूप गुण के अनुसार ही चित्रित करने का प्रयास किया है, जिससे सम्भवतः यह व्यंजित होता है कि मनुष्य खुदा के नूर का प्रतिबिम्ब है। नायक का सुन्दर एवं आकर्षक होना इस तथ्य को भी स्पष्ट करता है कि सच्चे साधक के प्रति ईश्वर स्वयं आकृष्ट होता है।

इन प्रेमकथाओं में नायक-नायिकाओं को सांसारिक सम्बन्धों के प्रति उदासीन दिखाया गया है। इसका कारण सम्भवतः इश्क-हक़ीक़ी के सम्मुख इश्क-मजाज़ी को हेय प्रदर्शित करना था। इन काव्यों के नायकों पर योगियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। समस्त प्रेमाख्यानों के नायक योगी होकर ही निकले हैं और योग-साधना से ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है।

समस्त प्रेमख्यानककाव्य फ़ारसी-मसनवियों के ढंग पर प्रणीत हुए हैं। सर्वप्रथम स्तुतियाँ की गयी हैं जिनमें क्रमानुसार ईश्वर, मुहम्मद साहब, खलीफ़ा, गुरु एवं शाहे वक्त की स्तुति का प्राधान्य है। इसके पश्चात् लेखक अपना व्यक्तिगत परिचय देता है। कथा प्रधान पात्रों के परिचय से प्रारंभ होती है। नायक का जन्म अनेक पूजा दान एवं यत्न के पश्चात् होता है और अधिकतर वह एकलौता ही रहता है। आगे मसनवी की प्रणाली पर ही इनमें प्रसंगों के नाम पर सर्गों का नाम दिया गया है परन्तु प्रकृति-वर्णन भारतीय ढंग पर ही हुआ है। लगभग समस्त काव्यों में बारह-मासे का समावेश हुआ है। वस्तु-वर्णनों में हाट-वर्णन, समुद्र-यात्रा-वर्णन तथा जल-क्रीड़ा-वर्णन विशेष हैं।

कथा का अन्त संयोग हो जाने पर भी अधिकांशतः दुखान्त ही होता है। इससे कवि सम्भवतः संसार की अनित्यता की ओर संकेत करता है। इसके विपरीत कतिपय कवियों ने कथा को दुखान्त करने की परम्परा पर खेद प्रकट किया है और अपनी रचना का अन्त सुखान्त ही रखा है; ऐसे कवियों में कवि मंझन, कवि जान उसमान, नूर मुहम्मद, ख्वाजा अहमद एवं शेख रहीम का नाम उल्लेखनीय है।

हिन्दी के प्रायः समस्त सूफ़ी-कवियों की लोकदृष्टि बड़ी सजग थी। अपने आस-पास के विस्तृत वातावरण से कहीं अदृश्य की निराधार विस्तृत कल्पना इन कवियों ने नहीं की। इनकी रचनाओं में भारतीय जीवन एवं संस्कृति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत भी भारतीय प्रकृति-छटा के दृश्य हैं। षड्ऋतु एवं बारहमासे के वर्णन में भारतीय गार्हस्थ्य जीवन की समस्याओं एवं प्रकृति के उपकरणों का चित्रण है। नूरमुहम्द ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने आँख के लिये 'नरगिस' का उपमान अपनाया है। भारतीय सामाजिक जीवन के आनन्दोल्लास एवं मर्यादा के प्रतीक त्योहारों, उत्सवों सामाजिक रीतियों एवं संस्कारों का वर्णन भी इन प्रेमाख्यानों में यत्र-तत्र प्राप्त होता है। छठी, नामकरण, लग्न-विचार,

पाटी-पूजन, सगाई, व्याह (भाँवर, लहकौर एवं सुहागरात) तथा अन्त में निधन एवं सती होने का वर्णन इन कवियों ने अत्यन्त सजीव एवं मार्मिक किया है। माता—पिता की सेवा, स्त्री का समाज में स्थान, श्वसुर-गृह का भय आदि सामाजिक समस्याओं पर भी इन कवियों ने अपने विचार प्रकट किये हैं।

इन प्रेमाख्यानों के वर्ण्य—विषय में एक यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें सिंहलयात्रा या उसके अभाव में किसी अन्य यात्रा का वर्णन अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश के चरित—काव्यों की कतिपय कथानक रूढ़ियों का भी इनमें समावेश हुआ है ; यथा—उजाड़नगर या वन में किसी सुन्दरी से साक्षात्कार, फिर राक्षस के हाथों से उसे छुड़ाना, नायिका—चित्र—निर्माण, पशु—पक्षियों का मनुष्य की बोली में बोलना एवं उनकी भाषा समझना, नायक—नायिका के मिलन में अकिधांशतः शुक का योग आदि रूढ़ियाँ अपभ्रंश-सहित्य से आयी हैं।

इन काव्यों के वर्ण्य-विषय पर रस की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि इन प्रेम-काव्यों में शृंगार—रस का परिपाक हुआ है जिसमें संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों का यथास्थान वर्णन है। शृंगार-रस प्रधान इन काव्यों में नायक के उत्कर्ष को अंकित करने के लिये कहीं—कहीं वीर, वीभत्स और भयानक रसों का भी वर्णन हुआ है किन्तु उनसे शृंगार-रस के चर्वण में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं होता।

सूफ़ी—कवियों ने अवधी भाषा का ही प्रयोग प्रमुख रूप से किया है। केवल जानकवि इसके अपवादस्वरूप हैं, उन्होंने व्रजभाषा का प्रयोग अधिक किया है। कवि निसार ने भी 'यूसुफ-जुलेखा' में विरह—वर्णन के अन्तर्गत कवित्त, सवैयों का प्रयोग व्रजभाषा में किया है।

इन प्रेमाख्यानों की रचना अधिकांशतः दोहा—चौपाई के क्रम से हुई है तथा चौपाइयों के क्रम में विशेष कर पाँच चौपाइयों से लेकर सात या नौ तक के अन्तर में दोहा रखे गये हैं। चौपाई का प्रयोग भी एक अर्द्धाली के समान हुआ है जिसके अन्त में दोहे का प्रयोग है। जानकवि ने बरवै, कवित्त, चौपाई आदि छन्दों में भी अपनी काव्य-रचना की है। कवि निसार ने बारहमासे के अन्तर्गत कवित्त और सवैये प्रयुक्त किये हैं ; अन्यथा उपरोक्त विशेषताएँ लगभग सभी प्रेमगाथाओं में समान हैं।

निष्कर्ष रूप में, हम कह सकते हैं कि इन प्रेम-काव्यों का वर्ण्य विषय साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से अनुपम है। इन प्रेमगाथाओं के सृजन ने जहाँ साहित्यिक विकास में योग मिला है वहीं दूसरी ओर उनके काव्य में सामाजिक सांस्कृतिक एवं गार्हस्थ्य जीवन भी साकार हो गया है। लोक—भाषा में प्रणीत ये कथाएँ केवल प्रेम—कथाएँ न रहकर धर्म—कथाएँ भी बन गयीं क्योंकि

ये सूफी सिद्धान्त एवं साधना के नियमों से अनुप्रमाणित हैं। इन लौकिक प्रेम-कथाओं में दिव्य प्रेम की झाँकी है जिसके कारण ये रहस्यात्मकता से परिपूर्ण हैं। जीवात्मा ईश्वरीय अंश है एवं सम्पूर्ण विश्व में उसी की सुषमा व्याप्त है। अस्तु, जीवात्मा ईश्वर से ऐक्य प्राप्त करने के लिये सदैव व्याकुल रहती है। गुरु से ईश्वर जीव और जगत् का वास्तविक रूप जानकर जब मानव हृदय में ईश्वर प्रेम उद्दीप्त हो उठता है तब कठिन साधना के पश्चात् वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। बस यही इन हिन्दी के सूफ़ी काव्यों का वर्ण्य विषय है।

काव्यादर्श

साहित्यकार एक जागरूक प्राणी होता है अतः उसका जीवनदर्शन उसकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है। साहित्य समाज की अभिव्यक्ति होने के साथ-ही-साथ उसके मार्ग निर्धारण का कार्य भी करता है। साहित्यकार किसी-न-किसी आदर्श से प्रेरित होकर ही साहित्य सृजन में प्रवृत्त होता है। साहित्य रचना के आदर्शों के विषय में अनेक आचार्यों एवं विद्वानों ने अपने अभिमत दिये हैं। आचार्य मम्मट के मतानुसार यश, द्रव्य, व्यवहार ज्ञान-दुखः, नाश, परोपकार और कान्ता सम्मित उपदेश काव्य रचना के मूल आदर्श हैं।[१]

आचार्य भामह का मत है कि काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का साधन है।[२] साहित्यदर्पणकार ने भी भामह के कथन का समर्थन किया है।[३]

पाश्चात्य विद्वान आइ० ए० रिचर्ड्स का मत अंशतः ममस्ट से मिलता है। उनका विचार है कि कवि अपनी कविता 'स्वान्तः सुखाय' या उपदेश देने के लिये करते हैं अथवा दोनों दृष्टिकोणों से भी।[४]

इसके विपरीत टालस्टाय का विचार है कि काव्य का सृजन नीति और

१-"काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदेशिवेतर क्षतये।
सद्यः परनिवृत्तये कांतासम्मिततयोपदेश युजे।"
व्याख्याकार- डा० सत्यव्रत सिंह- 'काव्यप्रकाश'-१। २ पृ० ५.

२-"धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यकलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्त्तिञ्च साधु काव्य निवेषणम्"
-'काव्यालंकार' १। २.

३-"चतुर्वर्ग फल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।"
व्याख्याकार- डा० सत्यव्रत सिंह-'साहत्य-दर्पण'- पृ० ९.

४-The Poets either wish to instruct or to delight or to combine the two (both)
-'Principles of Literary Criticism' P.68.

धर्म का उपदेश देने के लिये होता है।[१]

आइ० ए० रिचर्ड्स की भाँति हिन्दी साहित्य में भी यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी का काव्यादर्श 'स्वान्तः-सुखाय' काव्य-रचना करना था तो भी उनका लक्ष्य समाज-हित से ओतःप्रोत था ; जैसा कि उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से व्यंजित होता है–

"कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम जो सब कहँ हित होई।"[२]

स्पष्ट है कि तुलसी का काव्यादर्श समाज-कल्याण को ध्यान में रखकर स्वान्तःसुखाय काव्य सृजन करना था।

प्रत्येक युग के कवियों के काव्यादर्श में अन्तर है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक युग की राजनैतिक ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाता है, जिस कारण उस युग के काव्यादर्श में भी परिवर्तन हो जाता है। वीरगाथाकाल का काव्यादर्श अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करना था। सिद्ध युग ने काव्य को जीवन के लिये प्रयोजनीय माना था। उनका विचार था कि कविता जन जीवन का चित्र है ; अतः वे सरल भाषा में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति, योग–क्रियाओं का वर्णन एवं बाह्याडम्बरों की अलोचना करके धर्म के सहज स्वरूप की अभिव्यक्ति को ही काव्य के लिये विशेष उपयोगी मानते थे। इस प्रकार सहज सरल शैली में आडम्बर रहित ढंग से स्वभावनाओं की अभिव्यक्ति ही सिद्ध जैन कवियों का काव्यादर्श था।

सिद्ध–कवियों के पश्चात् नाथ–कवियों का काव्य आता है। नाथ–कवियों की रचना का आदर्श रहस्यात्मकता, लौकिकता की तीव्र आलोचना एवं पारलौकिक तत्त्व की भक्ति का चित्रण करना था। विद्यापति की काव्य–रचना का आदर्श प्रेम व श्रृंगार है। इन्होंने लोक-भाषा को सर्वाधिक उपयुक्त माना है।

संतों का काव्यादर्श ब्रह्म का गुण गान, बाह्याचारों की आलोचना एवं सहज, सरल भाषा-शैली में अपने भावों की अभिव्यक्ति करना था। इन कवियों ने काव्य के महत्त्व को वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक वह ब्रह्म के स्मरण में सहायक हो, अन्यथा

१–'In every age and in every human society, there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the values of the feelings transmitted by art'.
-'What is Art' (Oxford) P.128-129.

२–टीकाकार-हनुमान प्रसाद पोद्दार-"रामचरित मानस"-बालकाण्ड, पृ० ४६, पद सं ५.

उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। संतों ने आध्यात्मिक जीवन की उन्नति एवं विकास के लिये काव्य के महत्त्व को स्वीकार तो किया है पर काव्य ही सब कुछ है इस भाव की व्यंजना उन्होंने कहीं भी नहीं की है। दरिया साहिब मारवाड़ के निम्नलिखित शब्दों में संतों का काव्यादर्श सुन्दरता पूर्वक व्यंजित हुआ है–

"सकल कवित्त का अर्थ है सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन राम का कर लीजै दिन रात॥" [१]

डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने संतों के काव्यादर्श का विवेचन करते हुये लिखा है, "संतों ने हृदय की अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिये काव्य को माध्यम बनाया। उनकी कविता में हृदय की सत्यता का चित्रण हुआ है। कविता के लिये हृदय की सत्यता और कल्पना की आवश्यकता होती है; यह हृदय की सत्यता पूर्णरूप से संतों के काव्य में विद्यमान है।" [२]

उपर्युक्त संस्कृत, अंग्रेजी एवं हिन्दी के आचार्यों एवं विद्वानों के काव्यादर्शों पर दृष्टि रखते हुए सूफी-काव्य के आदर्श पर विचार करने पर हम देखते हैं कि-हिंदी के सूफ़ी-कवियों के काव्य में उपर्युक्त समस्त आदर्शों का समन्वय हो गया है। यद्यपि उनका प्रमुख काव्यादर्श अपने आध्यात्मिक विरह एवं प्रेम का चित्रण करना था किन्तु इसके साथ ही उनका काव्यादर्श यश की लालसा, लोक-हित एवं समाज-कल्याण, कान्तासम्मित उपदेश तथा सूफ़ी-सिद्धान्तों एवं इस्लाम-धर्म के प्रचार की भावना से भी संपृक्त था।

संत-कवियों में काव्य-रचना के प्रति यश की कोई कामना नहीं रही है। कविता को वे आध्यात्मिक विचारों की अभियक्ति का साधन मानते हैं। कबीर का मत है कि–

'जनि यह जानहु गीत है,
यह निज ब्रह्म विचार।'

किन्तु सूफी-कवियों में यश की लालसा भी रही है। यद्यपि उन्होंने भी काव्य के माध्यम से अपने आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति की है तथापि साथ-ही-साथ वे स्थान-स्थान पर यह भी कहते हैं कि इसे साधारण कविता मत समझो, यह मेरे सम्पूर्ण परिश्रम का फल है। इस सम्बन्ध में प्रेममार्गी-शाखा के प्रतिनिधि कवि जायसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

१–दरिया साहब की बानी-पृ० ६.
उद्धृत डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित-'हिन्दी-सन्त-साहित्य' पृ० १०६.
२–वही पृ० ११६.

"ओ मैं जानि गीत अस कीन्हा,
मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा।"[1]

स्पष्ट है कि सूफ़ी-कवियों के काव्य- सृजन में उनकी यश की लालसा का भी योग रहा है।

सिद्ध, नाथ एवं संत कवियों ने हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संघर्षों को समाप्त करने के लिये झाड़-फटकार की शैली अपनायी थी; किन्तु उदेशात्मक शैली का मानव-हृदय पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि अप्रत्यक्ष शैली का; अतः वे इन संघर्षों को दूर करने में सफल न हो सके। इस कमी की पूर्ति सूफ़ी-कवियों ने की। उन्होंने झाड़-फटकार की शैली में अपना संदेश न देकर कान्तासम्मित मधुर उपदेश दिया। वस्तुतः उनका उद्देश्य हिन्दू जनता को इस्लाम धर्म की ओर आकृष्ट करना था; इसके लिये उन्होंने भारतीय कथा, चरित्र एवं भाषा को अपनाया और इनके माध्यम से उन्होंने सूफ़ी–सिद्धान्तों एवं इस्लाम-धर्म का निरूपण किया। उनके कान्तासम्मित मधुर उपदेशों का भारतीय जनता पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि प्रत्यक्ष रूप से इस्लाम-धर्म को स्वीकार न करते हुए भी वे अप्रत्यक्ष रूप से सूफी-सिद्धान्तों, इस्लाम-धर्म एवं उसकी संस्कृति की ओर आकर्षित हो गये।

इसके अतिरिक्त लोक-हित समाज-कल्याण करना भी इनके काव्य का एक प्रमुख आदर्श था। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य स्थापित करने के लिए इन कवियों ने दोनों की प्रेम पद्धतियोंएवं संस्कृतियों में समन्वय कर दिया है, यथा-ईरानी प्रेम-पद्धति में नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र रहता है और भारतीय प्रेम-पद्धति में नायिका का; किन्तु सूफ़ी-कवियों ने तुल्यानुराग की अवस्था को दिखाकर दोनों आदर्शों में समन्वय स्थापित कर दिया है। इस प्रकार ईरानी प्रेम-पद्धति में पारवारिक एवं सामाजिक प्रेम की प्रतिष्ठा के लिये कोई स्थान नहीं रहता किन्तु भारतीय प्रेम-पद्धति तो आदि से ही लोक-संबद्ध और व्यवहारात्मक रही है। उसकी प्रभा जीवन के भिन्न-भिन्न भागों में फूटती और प्रज्वलित होती है; उदाहरणार्थ राम के द्वारा पुल-बाँधना, रावण पर आक्रमण करना आदि को हम केवल प्रेमिका को पाने का प्रयत्न ही नहीं कह सकते, वल्कि उनमें एक प्रकार का लोक-हित और शौर्य भी निहित है। सूफ़ी-कवियों ने अपने काव्य में इरानियों के ऐकान्तिक प्रेम के साथ-साथ भारतीय प्रेम-पद्धति के मुख्य अंग लोक-व्यवहार का भी समावेश कर दिया है। सूफ़ी-काव्य में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें भारतीय संस्कृति के अनुरूप लोकपक्ष को उभारा गया है, यथा–विहंगम के द्वारा नागमती ने अपने पति राजा रत्नसेन के लिये जो संदेश प्रेषित किया है उसमें भारतीय संस्कृति का रूप निखर उठा है। वह पति से संभोग की अभिलाषा भी नहीं करती, उसकी कामना

१– सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल– 'जायसी–ग्रंथावली' (उपसंहार खण्ड) पृ० ३०१.

है कि उसका शरीर धूल बनकर उसके पति के चरणों के नीचे पड़ जाय।[1] भारतीय नारी के त्याग एवं अभिलाषा का यह चरम चित्र है।

लोक-हित एवं समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित होने के कारण ही उन्होंने प्रेम के वासनात्मक रूप को प्रधानता न देकर उसके पुनीत रूप को अधिक महत्त्व दिया है। उनका विरह और प्रेम अध्यात्म का प्रतीक है जो दाम्पत्य-प्रेम के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है।

लोक-हित एवं समाज-कल्याण को काव्यदर्श मानने के कारण ही सूफ़ी-कवियों ने जन-समाज के भावों को अपनाया है। इन प्रेम-गाथाओं में प्रेम-भावना का सम्बन्ध यद्यपि राज परिवार से है किन्तु इनमें जन-साधारण की भावनाओं की अवहेलना कहीं नहीं की गयी है; यथा नायिकाओं का विरह केवल राजरानियों का विरह नहीं है जिसकी व्यथा क्रीड़ा द्वारा कम की जा सके। उन्हें भी अपने पति का अभाव उसी प्रकार पीड़ित करता है जिस प्रकार साधारण स्थिति की नारी को; उदाहरणार्थ नागमती अपने पति के विरह में एक साधारण नारी की भाँति जलती है। वह विरह में केवल अपने सुख की बात न कहकर जनसमाज की बात कहती है।[2]

अस्तु हम कह सकते हैं कि सूफ़ी-कवियों का काव्यादर्श पीछे बताये गये मम्मट, भामह, विश्वनाथ एवं पाश्चात्य विद्वानों टॉलस्टॉय तथा आइ० ए० रिचर्ड्स आदि के द्वारा निरूपित आदर्शों का एक समन्वित रूप है। उसमें यदि एक ओर मम्मट के यश, कान्तासम्मित उपदेश, समाजगत दुःखों का नाश कर कल्याण की भावना एवं भामह के द्वारा बताये गये काव्यादर्श धर्म का समावेश है तो दूसरी ओर टॉल्स्टॉय का अभिमत भी इनके काव्य पर चरितार्थ होता है, क्योंकि उनके काव्य का आदर्श सूफ़ी एवं इस्लाम-नीति और धर्म का उपदेश देना भी था। रिचर्ड्स की भाँति वे भी काव्य के माध्यम से उपदेश देने के पक्षपाती थे किन्तु उनका उपदेश शुष्क न होकर मधुर कान्तासम्मित था, जिसने भारतीय-जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इस प्रकार इनका काव्यादर्श आध्यात्मिक विरह एवं प्रेम का चित्रण करने के साथ-साथ यश, लोकहित, कान्तासम्मित उपदेश तथा सूफ़ी एवं इस्लाम-नीति और धर्म का प्रचार करना भी था।

महत्ता–

प्रत्येक युग के काव्य का कुछ-न-कुछ महत्त्व होता है; यथा वीरगाथाकालीन

१– 'यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन! उड़ाव'।
मकु तेहिं मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव॥ –'जायसी-ग्रंथावली'–नागमती-वियोग–वर्णन–खण्ड, पृ० १५५, क० सं० १२.

२– 'पुष्य नखत सिर ऊपर आवा।
हौं बिनु नाह मँदिर को छावा।' वही पृ० १५२, कवित सं० ४.

काव्य का महत्त्व वीरों के सुप्त भावों को जाग्रत करने की दृष्टि से है। सिद्ध एवं नाथ-काव्य का महत्त्व साधना एवं सरल शैली में भावों की अभिव्यक्ति करने के कारण है। संत-काव्य की महत्ता ब्रह्म के गुण-गान एवं दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से अपने भावों के चित्रण की दृष्टि से है। इसी प्रकार सूफ़ी-काव्य की भी कतिपय दृष्टियों से अपूर्व महत्ता है।

इसकी सर्वप्रमुख महत्ता यह है कि इसमें लोक-कथाओं को काव्य का उपजीव्य बनाया गया है जिससे मौलिक कथा-परम्परा नष्ट होने से बच गयी। दूसरे, इन प्रेमाख्यानों में लोक-गीतों के तत्त्वों के समावेश के अतिरिक्त विभिन्न राग-रागनियों के आधार पर कुछ गीतों की रचना भी हुई है। अली मुराद इस कला में विशेष पटु थे। उनके काव्य में होरी, वसन्त और मल्हार के गीत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इन गीतों के माध्यम से भी कवि ने आध्यात्मिक तथ्यों का उद्घाटन किया है। इसी परम्परा में हम इन कवियों के द्वारा लिखे गये वारहमासा आदि को ले सकते हैं। लोग-गीतों की इस परम्परा को वनाये रखकर सूफ़ी-कवियों ने निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि की है।

इसके अतिरिक्त प्रवन्ध-काव्यों का प्रामाणिक रूप में प्रवाह इन सूफ़ी-काव्यों से ही प्रारंभ होता है। यद्यपि इनसे पूर्व रासो ग्रंथ अवश्य थे किन्तु एक तो वे भाषा और भाव की दृष्टि से इतने सुन्दर नहीं हैं और दूसरे उनकी प्रामाणिकता में भी संदेह है। स्वयं 'पृथ्वीराज रासो' जिसका कि रासो-काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है, के अनेक अंशों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। वस्तुतः प्रवन्धकाव्यों का वास्तविक रूप सूफ़ी-काव्य से प्रवाहित हुआ है।

यद्यपि महाकाव्यों में अधिकांशतः किसी राजा या महापुरुष की जीवनी का वास्तविक चित्रण रहता है, काल्पनिक कथानक को अधिक प्रश्रय नहीं दिया जाता है किन्तु इन कवियों ने काल्पनिक कथानक को भी वह विस्तार एवं रमणीयता प्रदान की है कि कथानक प्रवन्ध-काव्य के अनुकूल हो गया है। कथानक के घटना एवं वर्णन प्रधान होने के कारण इन प्रवन्ध-काव्यों में दृश्य काव्य की भाँति चमत्कार भी वर्तमान रहता है।

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने प्रेमाख्यानक-काव्यों की एक पृथक धारा ही प्रवाहित कर दी है। भारत की प्रेमाख्यान-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है; ऋग्वेद में यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, अहिल्या आदि प्रेम-कहानियों में इसके वीज उपलब्ध होते हैं। उपनिषद् काल में ऋग्वेद की रचनाओं का स्पष्टीकरण प्रेम-कहानियों के रूप में हुआ है। संस्कृत के ललित-साहित्य में 'कुमार-सम्भव', 'मेघदूत', 'कादम्वरी', 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम् आदि प्रमुख प्रेमाख्यानों की उपलब्धि होती है। अपभ्रंशकालीन जैन चरित्र काव्य एवं वौद्ध-साहित्य की जातक एवं अवदान कथाओं में प्रेमाख्यानों के द्वारा नीति

एवं धर्मोपदेश देने का प्रयास दिखायी देता है। वीरगाथाकालीन रासो-साहित्य भी प्रेमाख्यानों का एक स्वरूप है। किन्तु पृथक प्रेमाख्यानों की परम्परा कभी नहीं रही। हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने अपने प्रेमकाव्यों की रचनाकर प्रेमाख्यानों की परम्परा प्रचलित की, जो बीसवीं सदी तक प्रवाहित होती आ रही है।

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों के इन प्रेमकाव्यों की यह एक विशेष महत्ता है कि यद्यपि इनमें नायिका के नखशिख वर्णन में एवं स्त्री-पुरुष की काम-क्रीड़ा के चित्रण में कामशास्त्र का वर्णन हुआ है और यह वर्णन कहीं-कहीं अश्लील भी हो गया है किन्तु वह सामाजिक मान्यताओं के प्रतिकूल कहीं नहीं है। इनका दाम्पत्य-प्रेम का चित्रण इस भाव को व्यंजित करता है कि परमात्मा को केवल प्रेम के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। परम सौन्दर्य की प्रतीक नायिका को प्राप्त कर वह (नायक) भोग-विलास में ही रत नहीं हो जाता, प्रत्युत पुनः अपने कर्त्तव्य के संसार में वापस आता है; जहाँ प्रेम एवं न्याय का प्रसार ही उसका कर्त्तव्य होता है। सपत्नियों में प्रेम-भावना इसी परमार्थ एवं लोकार्थ का समन्वय जो उसके जीवन का अंग बन जाता है, वह जीवन की समस्त कटुता परमप्रेम' की पावन धारा से धो डालता है।

ये प्रेमाख्यान लौकिकता से ओतप्रोत होने के साथ-साथ अध्यात्म की महत्ता से भी युक्त हैं। इनमें 'इश्क़-मजाज़ी' के माध्यम से जीव को 'इश्क़-हक़ीक़ी' की ओर उन्मुख किया गया है। इस प्रकार सूफ़ी कवियों ने समाज को लौकिकता से ऊपर आध्यात्मिकता की ओर जाने के लिये प्रेरित किया। ईश्वरीय प्रेम के साथ-साथ विश्व-प्रेम की भागीरथी को प्रवाहित करने में भी इन हिन्दी सूफ़ी कवियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके इन प्रेमाख्यानों के फलस्वरूप हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक संघर्ष बहुत कुछ समाप्त हो सके और उनके मध्य ऐक्य सम्भव हुआ।

सूफ़ी-काव्य की यह भी एक महत्ता है कि उसने हिन्दी, उर्दू, बंगला और पंजाबी सभी साहित्यों को प्रभावित किया है। ज्ञानमार्गी संतों की साधना-पद्धति में हमें जो माधुर्य-भाव दृष्टिगोचर होता है वह सूफ़ियों की ही देन है। यद्यपि वह माधुर्य-भाव उपनिषद् एवं भागवत् आदि ग्रंथों में भी उपलब्ध होता है किन्तु वह साकार रूप में है। निराकार ब्रह्म से पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित कर भावाभि-व्यक्ति की परिपाटी इन संत कवियों को सूफ़ी-काव्य से मिली है। इसी प्रकार छाया-वाद एवं रहस्यवाद में भी हमें सूफ़ी-भावना का दर्शन मिलता है। सूफ़ियों की भाँति छायावादी एवं रहस्यवादी कवियों ने भी प्रकृति के नाना रूपों में विश्वात्मा की छाया को अनुभव किया और अपनी उस अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से की।

हिन्दी-साहित्य की भाँति उर्दू-साहित्य में भी प्रेमाख्यान-काव्य प्रचुर

परिमाण में लिखे गये हैं। उर्दू-साहित्य का इतिहास' के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उर्दू के प्रारम्भिक कवि कुली 'कुतुबशाह' अली मुहम्मद 'जीव' एवं काजी मुहम्मद 'बहरी' मूलतः सूफ़ी थे। उन्होंने मुख्यतः फारसी की मसनवियों का ही अनुकरण किया है। सूफ़ी कवि सृष्टि को ईश्वर के ही सौन्दर्य का प्रदर्शन मानते हैं। उनकी दृष्टि में संसार के विविध नाम और रूप उसी की महत्ता प्रदर्शित करते हैं। हम सब उसी प्रकाश-पुंज की किरणें हैं। इसी भाव की अभिव्यक्ति उर्दू के प्रारम्भिक कवि मुहम्मद कुलीशाह 'कुतुब' ने इस प्रकार की है—

"सम्पूरन है तुझ जोत सों सब जगत,
नहीं खाली है नूर थे कोई शै'।

अर्थात् अखिल विश्व उसी की ज्योति से दीप्त हो रहा है; कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो उसके प्रकाश से विहीन हो। इसी प्रकार मीरतकी 'मीर' ने भी अपनी निम्नलिखित पंक्ति में सर्वत्र उसी का प्रकाश देखा है—

'जलवा है उसी का सब गुलशन में जमाने के।'

मीरतकी 'मीर'।

सूफ़ी कवि किसी धर्म को बुरा नहीं मानते हैं बल्कि उनका मत है कि सभी भिन्न-भिन्न साधनों से एक ही ओर यात्रा कर रहे हैं। सभी शेख और ब्रह्म उसी की क्षत्र-छाया में रहते हैं। शेख का खुदा और ब्राह्मण का ईश्वर कोई भिन्न नहीं है। चोटी, दाढ़ी या अन्यवेश-भूषा से उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह तो प्रकाश के समान सर्वत्र फैला हुआ है; अतः सृष्टि का कण-कण उसी से प्रकाशित है। 'मीर दर्द ने इसी भाव को अपनी निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यंजित किया है—

'बसते हैं तेरे साया में सब शेख और ब्रह्मन।
आबाद तुझी से तो है घर दैरों हरम का।'

सूफ़ी-कवियों की भाँति इन्होंने भी धार्मिक भेद-भाव को स्वीकार न कर प्रेम की उच्चता को ही अपने साहित्य में निरूपित किया है। वे इस्लाम और इस्लामेतर रीतियों में कोई अन्तर नहीं मानते। उनका विचार है कि केवल हिन्दू और मुसलमान ही क्या? अपितु मनुष्यमात्र के कार्य सम्पादन में ईश्वरीय प्रेम ही मूल कारण है—

"कुफ़र रीति क्या और इस्लाम रीति,
हर एक रीति में इश्क का राज है।"

हिन्दी और उर्दू साहित्य की भाँति बंगला-साहित्य पर भी सूफ़ी-प्रेमाख्यानों का प्रभाव परिलक्षित होता है। फारसी की मसनवियों से प्रेरणा ग्रहण कर बंगला के सूफ़ी कवियों ने भी अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं। साथ ही उन्होंने फारसी एवं

हिन्दी के कतिपय प्रेमाख्याओं का बंगला में अनुवाद भी किया है। दौलत काजी की 'लोर-चन्द्राणी' अलालोल की 'पदमावती' अमीर हमजा की 'मनोहर-मालती' तथा मुहम्मद खान की 'मृगावती एवं 'लयला-मजनू' आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूफी प्रेमाख्यानक काव्य हैं। इन कवियों ने भी सूफ़ियों की भाँति अपनी रचनाओं के अन्तर्गत प्रेम-साधना की व्याख्या की है।

इसी प्रकार पंजावी साहित्य में भी सूफी प्रेमाख्यानक काव्य सृजित हुआ है। 'ससिपून्' हीररांझा' 'सोहिनी-महिवाल' जैसी प्रेम-कहानियों के आधार पर पंजाबी मुस्लिम कवियों ने अत्यन्त रोचक प्रेम काव्य लिखे हैं तथा कभी-कभी काव्य रूपक का भी रूप दे दिया है।

निष्कर्ष रूप में, कहा जा सकता है कि ये हिन्दी के सूफ़ी-काव्य साहित्य-क्षेत्र में अपनी विशेष महत्ता रखते हैं। इन प्रेम-काव्यों के कारण मौलिक कथा-परम्परा एवं लोक-गीत नष्ट होने से बच गये हैं। इन प्रेमाकाव्यों ने अपनी प्रेमाख्यानों की एक पृथक् धारा ही प्रवाहित कर दी है जो बीसवीं सदी तक प्रवाहित होती आ रही है। इन प्रेमाख्यानक काव्यों में व्यंजना के आधार पर वस्तु का जो विवेचन हुआ है वह अनुपम एवं अद्वितीय है। इतने बड़े काव्यों का रहस्यरूप में निर्वहण असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। हिन्दी एवं उर्दू साहित्य में उनकी इस प्रेम और रहस्य भावना का अमिट प्रभाव है।

हिन्दी-साहित्य में स्थान

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि सूफ़ी काव्य की प्रेम-भावना एवं रहस्य भावना ने हिन्दी-साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है। वस्तुतः सूफ़ीमत ज्ञान और भक्ति का मध्य मार्ग था जिसमें निर्गुणोपासना की प्रधानता होते हुए भी सगुणोपासना का बड़ा मधुर समन्वय था। सूफ़ी-कवि अद्वैतवाद सिद्ध और योगियों की साधना पद्धति से प्रभावित हुए थे परन्तु यह प्रभाव एकपक्षीय ही न था; सूफ़ियों ने भी भारतीय समाज, धर्म एवं साहित्य पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला है। हठयोग द्वारा योगियों में जिस निर्गुण ब्रह्म की स्थापना हुई थी उसी को कबीर आदि ज्ञान-मार्गी संतों ने अपनाया। यद्यपि योगियों ने सिद्धों के अनेक पाखण्डों का परिष्कार किया। परन्तु उनमें भी अनेक पाखण्डों का समावेश हो गया। वे चमत्कारों तथा सिद्धों के स्वामी बनना चाहते थे परन्तु वास्तव में वे उनके दास थे। ज्ञानमार्गी संत इन जंजालों से तो पृथक् रहे किन्तु प्रेममार्गी सूफ़ियों के प्रेमाकर्षण से वे अपने को वंचित न रख सके। ज्ञानमार्गी संतों की साधना-पद्धति में हमें जो माधुर्य-भाव मिलता है वह सूफी-काव्य की ही देन है। यद्यपि 'भागवत्' आदि ग्रंथों में गोपी-कृष्ण के प्रेम में माधुर्य भाव ही है किन्तु 'भागवत्' में इस-माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति

साकार कृष्ण को लेकर हुई है जबकि सूफ़ियों का प्रणय निराकार के प्रति है। सूफ़ी-मत की यही परिपाटी ज्ञानमार्गी संतों के प्रेम में अभिव्यक्त हुई है। उनका प्रेम भी निराकार ब्रह्म को लेकर है।

सूफ़ी–काव्य का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव दो रूपों में पड़ा–(१) काव्य के रूप में, और (२) अध्यात्म के रूप में। अधिकांशतः सूफ़ी–काव्य अवधी–भाषा में सृजित हुआ है। मलिक मुहम्मद जायसी प्रेममार्गी कवियों के प्रतिनिधि माने गये हैं और गोस्वामी तुलसीदास जी रामभक्ति शाखा के। जायसी ने 'पदमावत' का सृजन अवधी–भाषा में सात अर्द्धालियों के उपरान्त एक दोहे के क्रम से किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'रामचरित मानस' शीर्षक महाकाव्य को अवधी-भाषा में ही चौपाई और दोहे के क्रम में लिखा है। यद्यपि उन्होंने एक अर्द्धाली का अधिक प्रयोग किया है परन्तु इससे पद्धति में कोई अन्तर नहीं आता।

हिन्दी साहित्य पर सूफ़ी–काव्य का दूसरा प्रभाव अध्यात्म रूप में है। निर्गुण धारा के पश्चात् भक्तिक्षेत्र में सगुणधारा विकसित हुई। सगुण-धारा की दो शाखाएँ हुई–'रामभक्ति-शाखा और कृष्णभक्ति शाखा। कृष्णभक्ति शाखा पर सूफ़ियों के रहस्यात्मक प्रेम का विशेष प्रभाव पड़ा है। शब्द की जिस व्यंजना-शक्ति से सूफ़ी कवि काम लेते हैं वही कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों में सक्रिय दिखयी पड़ती है। कृष्ण केवल माखनचोर ग्वाल–बाल नहीं हैं और न गोपियाँ अहीरनी हैं वरन् कृष्ण ब्रह्म के प्रतीक हैं और गोपियाँ जीवात्माओं की। इस प्रकार गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति आकर्षण एवं प्रेम जीवात्माओं के ब्रह्म के प्रति प्रेम का प्रतीक है।

कृष्ण-भक्तों की परम्परा में मीरा के पदों में सूफ़ी-प्रेम का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित होता है। मीरा की भक्ति मधुर्य-भाव की है। उनकी वाणी में वेदना कूट–कूटकर भरी हुई है। गिरिधर लाल कृष्ण उनके प्रियतम हैं और ये उनकी पत्नी। किन्तु यह प्रियतम कौन है ? क्या यह प्रियतम लौकिक व्यक्ति की भाँति देश-काल से सीमिति ब्रज निवासी कृष्ण हैं ? नहीं, वरन् उनका प्रियतम परम अध्यात्म ब्रह्म है। उनके पदों में प्रेम–पीर की जो अभिव्यक्ति हुई है। वह सूफ़ियों की प्रेम-पद्धति के अनुसार ही है क्योंकि उनकी साकारोपासना में निराकारोपासना की झलक मिलती है ; निराकारोपासना में प्रेम-साधना सूफ़ियों की ही देन है।

यद्यपि रीतिकाल सूफ़ी-काव्य की इस प्रेम-परम्परा के अनुकूल न था क्योंकि इस काल में अलौकिक प्रेम की अपेक्षा लौकिक भोग-विलास को अधिक महत्त्व दिया गया था किन्तु प्रेम की अन्तर्भेदिनी-शक्ति को पहिचानने वाले कतिमय कवि इस काल में भी हुए हैं जिनमें घनानन्द, बोधा, आलम और ठाकुर प्रसिद्ध हैं। सूफ़ियों के प्रेम और विरह का इन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। घनानन्द ने अपनी कविताओं में सुजान को ब्रह्म का प्रतीक मानकर अपनी भावाभिव्यक्ति की है। सूफ़ी

कवियों की भाँति इन्होंने भी नायिका को ब्रह्म का प्रतीक माना है ; अन्तर केवल इतना है कि सूफ़ियों में विरह के पश्चात् मिलन होता है किन्तु घनानन्द लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही भगवत्प्रेम में लीन हुए । घनानन्द का प्रेम साक्षात् दर्शन से उद्भूत हुआ प्रेम है । वे सुजान के प्रेम में ऐसे पगे थे कि 'जब ते निहारे घन आनंद सुजान प्यारे, तब ते अनोखी आगि लगी रही चाह की ।'[१]

रीतिकाल में केवल रीतिमुक्त कवियों के काव्य में ही सूफ़ी-प्रभाव दिखायी देता है किन्तु बीसवीं शताब्दी में छायावाद एवं रहस्यवाद के प्रवेश के साथ ही काव्य—क्षेत्र में पुनः सूफ़ी-भावना का अधिकार हो गया । इस काल में सूफ़ियों की भाँति सर्वप्रथम यूरोप के ईसाई सन्तों ने प्रकृति के नाना रूपों में जिस विश्वात्मा की छाया को अनुभव किया, उसे उन्होंने सांकेतिक शब्दों में प्रतीकों के माध्यम से चित्रित किया । इसका सर्वप्रथम अनुकरण बंगाल में हुआ ; जहाँ इसे छायावाद की संज्ञा से अभिहित किया गया । कवीन्द्र रवीन्द्र ने छायावाद की इस प्रतीकमयी भाषा को अपनाकर विश्व के अणु-अणु में परब्रह्म की छाया के जो चित्र अंकित किये, उनसे संसार मुग्ध हो गया । हिन्दी-साहित्य भी इस ओर आकृष्ट हुआ और पुनः वही प्रियतम आलम्बन बना । कौन जाने वह क्या है ? परन्तु सर्वत्र उसी की छाया छिटक रही है । उषा में उसी का हास, सांध्य-वेला में उसी का लालित्य, चाँदनी में उसी का रूप, लहरों में उसी की सिहरन और वायु में उसी का संचार प्रतीत हुआ । सूर्य और चन्द्र उसी के नेत्र हैं ; तारे उसकी मुस्कान के कण हैं ; सुमन उसी के रोमांकुर तथा विश्व में उसी की ज्योति है । उसकी भव्यविभूति और रम्यच्छटा के दर्शन अणु-अणु और पत्ती-पत्ती में होने लगे । कविलोक मुग्ध हो गया और भावावेश में छायामयी वाणी का ही प्रयोग करने लगा ; जिसका अवसान रहस्यपूर्ण ही होता था । इस प्रकार पुनः वही चित्रभाषा निखरकर सामने आयी ; प्रतीकों का बोलबाला हुआ और अन्योक्तियाँ काव्य में चार-चाँद लगाने लगीं ।

वह विश्वात्मा दीखता नहीं परन्तु उसका सौन्दर्य सर्वत्र अवलोकित होता है, इस भावना ने प्रेम को उद्दीप्त कर दिया । प्रेम के जाग्रत होते ही विरह का अनुभव हुआ और प्रेम की पीर जग पड़ी ; जिससे कवि हृदय की वीणा का तार-तार झंकृत हो गया और सर्वत्र उन्मत्तता सी छा गयी । एक विचित्र भूमि के ही चित्र सामने आने लगे । ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्रियतम पास ही तो है ; यदि आलिंगन नहीं होता तो क्या, अन्तः-अभिसार तो हो रहा है । इस प्रकार वह अव्यक्त सत्ता पुनः चिरप्रतीक्षा, चिरचिन्तन, चिरमिलन और चिरमादकता का विषय बन गयी । प्रेमोपासना में परब्रह्म के प्रतीक बनते ही सुरा, सुराही और साकी के प्रतीकों

१—भाष्यकार—साहित्याचार्य चन्द्रशेखर मिश्र शास्त्री—'घनानन्द कवित्त' पृ० १०३, कवित्त सं० १८.

का भी आगमन हुआ।

सम्पूर्ण विश्व में एक सर्वोच्च सत्ता व्याप्त हो रही है। विश्व उसी के सौन्दर्य का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। कवि जब संसृति में सर्वत्र उस छटा को देखता है तो आनन्द-विभोर होकर उसे व्यक्त करना चाहता है परन्तु सामान्य भाषा में व्यक्तीकरण न हो सकने के कारण वह लक्षणा के आधार पर प्रतीकों द्वारा उसे व्यक्त करता है; इसके लिये उसे साम्याधार पर रूपक एवं अन्योक्ति आदि का भी आश्रय लेना पड़ता है, अतः उसकी भाषा चित्रमयी हो जाती है। उसकी लेखनी उसी असीम ब्रह्म का चित्रांकन करती है। कवि के हृदय में उस असीम के प्रति इतना अधिक प्रेम हो जाता है कि वह स्वयं उससे नाता जोड़ने की कामना करने लगता है; उसका हृदय रहस्यमय बन जाता है। इस प्रकार छायावाद का पर्यवसान रहस्यवाद में ही होता है।

इस छायावाद और रहस्यवाद को सूफी-काव्य ने अत्यधिक प्रभावित किया है। ईश्वर और सृष्टि के सम्बन्ध में विश्व में चार प्रकार की धारणाएँ मानी गयीं हैं—प्रथम, ईश्वर एक है और उसी ने सम्पूर्ण विश्व को बनाया है। द्वितीय, ईश्वर है परन्तु विश्व का कर्ता नहीं; इसमें कर्म की प्रधानता है। तृतीय, एक व्यापक ब्रह्म है; मायावश उसी से विश्व निसृत हुआ है अतः दृश्य-जगत ब्रह्ममय है। इसके अनुसार संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चतुर्थ धारणा के अनुसार एक व्यापक ब्रह्म है और विश्व उसी से उत्पन्न हुआ है। वह स्वयं प्रेम और सौन्दर्य रूप है अतः विश्वात्मा प्रेम का विषय है और विश्व उसी के सौन्दर्य का प्रदर्शन है। चूंकि प्रथम–तीनों में चित्रांकन का अभाव है अतः ये तीनों छायावाद एवं रहस्यवाद के अनुकुल नहीं हैं। चतुर्थ धारणा अवश्य इसके अनुकूल है क्योंकि उसी के अनुसार विश्व ईश्वरीय सौन्दर्य का मूर्तरूप है अतः चित्रांकन हो सकता है; ईश्वर प्रेमरूप है अतः उससे मिलन की चाहना हो सकती है। स्पष्ट है कि यह धारणा सूफ़ियों के ही अनुसार है। सूफ़ी समस्त विश्व में ब्रह्म की छटा ही तो देखते हैं और छायावादी भी सर्वत्र उसी की झलक पाते हैं। इसके अनन्तर मिलन की कामना से विरहवश जो प्रेम की पीर जगती है वह सूफ़ियों के अतिरिक्त और है कहाँ? अस्तु कहा जा सकता है कि छायावाद एवं रहस्यवाद पर सूफीमत का व्यापक प्रभाव है।

श्रीमती महादेवी की रचनाओं में निराकार के प्रति जो अभिव्यक्ति हुई है, प्रेम–पीड़ा, विरह—विकलता और मिलन की जो कामना दिखायी देती है सूफ़ी–पद्धति के ही अनुसार है। इस काल में मधुभरे मधुकलशों के साथ मधुशालाओं में जो मधु पायी और मधुमायिता दीख पड़े वह सब हिन्दी सूफ़ी कवियों के मूल स्रोत उमरख़ैयाम, हाफ़िज़, शीरा जी तथा अन्य ईरानी सूफ़ियों का ही अनुकरण है। जैसे, सूफ़ी कवि कहते हैं कि सर्वत्र उसी ब्रह्म का जलवा है उसी प्रकार छायावादी एवं रहस्य–

बन्दी कवियों का भी यह विचार है कि वह असीम ब्रह्म सर्वत्र प्रकाश रूप में प्रकाशित हो रहा है। उसी की आभा का कण कान्तिमानों को कान्ति दे रहा है। रात्रि में तमसावृत्त निस्सीम गगन में टिमटिमाते तारक-दीपकों की ज्योति और निशानाथ की रजत समान ज्योत्स्ना तथा प्रभाकर की स्वर्णिम प्रभाराशि उसी की आभा का तो परिचय दे रहे हैं।[१]

समग्र रूप में कहा जा सकता है कि सूफ़ी-काव्य का हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय स्थान है। उसने भक्तिकाल से लेकर आधुनिककाल तक के हिन्दी-साहित्य को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित किया है। वस्तुतः सूफ़ी-कवियों ने जो काव्य-सृजन किया है वह स्वयं हिन्दी साहित्य कोश का एक अमूल्य अंग है। जायसी का 'पदमावत काव्य तो एक अमरकृति है ही, इसके अतिरिक्त अन्य प्रेमाख्यानक काव्य और मुक्तक काव्य भी सदैव हिन्दी—साहित्य के अलंकार रहेंगे। ये काव्य हमें आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करने के साथ-साथ हिन्दू मुस्लिम एकता की शिक्षा और विश्वप्रेम की स्मृति भी दिलाते रहेंगे।

---०००---

१– "तेरी आभा का कण नभ को देता, अगणित दीपक दान।
दिन को कनक राशि पहनाता, विधु को चाँदी–सा परिधान।"
-यामा, रश्मि, पृ० १०८.

४ | सूफी–काव्य में प्रतीक–योजना के प्रेरक तत्त्व

साहित्य जीवन से भिन्न नहीं वरन् वह उसका मुखरित रूप है। इसी कारण साहित्य को 'समाज का दर्पण' की संज्ञा दी गयी है। चूँकि मानव–स्वभाव की अस्थिरता के कारण प्रत्येक युग के समाज में कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहता है अतः इसी कारण उस युग के साहित्य में भी परिवर्तन हो जाता है। साहित्य में नव-युग का आगमन होता है, उसमें नयी–नयी प्रवृत्तियाँ आती हैं तो वह युग आवश्यकतानुसार नवीन प्रतीकों का सृजन करता है और प्राचीन प्रतीकों को नये अर्थों के आयाम में प्रस्तुत करता है। प्रतीकों के नवीन चयन, अभिनव परिवर्तन और विकास के पीछे युग विशेष की सांस्कृतिक परिस्थिति, मनोवृत्त और देशकाल का पर्याप्त योग रहता है। हमारा वैदिक–युग आरण्यक जीवन व्यतीत करने वाले ऋषियों का युग था। अतः उस युग के साहित्य में प्राकृतिक उपकरणों–वायु, सूर्य, अग्नि, वृक्ष, लता और पत्र-पुष्प आदि को प्रतीक-रूप में ग्रहण किया गया है। वाल्मीकि, व्यास कालिदास आदि संस्कृति–कवियों ने भी प्रतीकों का चयन अधिकांशतया प्रकृति से ही किया है। हिन्दी के आदि कवि भी संस्कृत के उपजीवी रहे। बनावासी साधनात्मक रहस्यवादी सिद्धों ने अपनी साधना की विरोधाभासात्मक अभिव्यक्ति के लिये वनों में सुलभ पर्वत, अहेरी, शवरी, मोर-पंख, गुन्जा-माला, गंगा–जमुना, साँप, मेढ़क आदि को प्रतीक रूप में अपनाया। भारतीय संत–कवि आत्मदृष्टा रहे हैं। आत्म-द्रष्टाओं द्वारा अनुभूत सत्य सर्वधसारण जनता की समझ में तभी आ सकता है जबकि वह सीधे–सरल प्रतीकों अथवा प्रतीकात्मक रूपकों द्वारा व्यंजित किया गया हो; अतः अपने आध्यात्मिक चिन्तन को सहजग्राह्य बनाने के लिये उन्होंने दैनिक जीवन से प्रतीक ग्रहण किये। दूध दुहना, हलचलाना, आखेट-करना, कपास-चुनना, चर्खा-कातना मधुकरी–माँगना, वस्त्र-बुनना आदि दैनिक चर्याओं और दाम्पत्य–प्रेम आदि जीवन के अन्य कार्य–व्यापारों के प्रतीकों द्वारा उन्होंने ऊँची-से-ऊँची और गहरी-से-गहरी बात कह दी है।

'छायावाद' अपने उठे हुए सांस्कृतिक स्तर के कारण नव परिवर्तित रूप में

काव्य का प्रकृत्यात्मक प्रतीकवाद की ओर परिष्कृत प्रत्यावर्तन है। प्रगतिवाद में चूंकि मार्क्सवादी आदर्शों को उपजीव्य बनाया गया था अतः प्रगतिवादी साहित्य में मार्क्सवादी विदेशी प्रतीकों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है; लाल रंग, हथौड़ा, कुदाली, हसिया आदि प्रतीक निस्संदेह रूप से ग्रहण किये गये प्रतीक हैं। काले और जोश में आग–बबूले मार्क्सवादी मजदूरों का जलते कोयलों के प्रतीक में प्रयोगवादी चित्र द्रष्टव्य है—

जल उठे है तन–वदन से,
क्रोध में शिव के नयन से।
खा गये निशि का अन्धेरा,
हो गया खूनी सवेरा।
जग उठे मुर्दे बेचारे,
बन गये जीवित अंगारें।
रो रहे थे मुह छिपाये,
आज खूनी रंग लाये।[1]

चूंकि 'नयी कविता' वर्ण्य-विषय की दृष्टि से प्राचीन कविताओं से सर्वथा भिन्न है अतः इसमें प्रतीकों को नये अर्थों के आयाम में प्रस्तुत किया गया है; यथा- 'सर्प' समान्य रूप से कुटिलता, वक्रगति एवं विषमयता के लिये प्रयुक्त होता रहा है परन्तु अज्ञेय जी ने उसे मानव-जीवन की निकटताओं, भयंकरताओं, कुण्ठाओं आदि के लिये प्रतीकरूप में उपस्थित किया है। इसी प्रकार सूर्य को अभी तक 'तेजस्विता' का और सिद्ध, नाथ, संत आदि कवियों के साहित्य में 'पिंगला नाड़ी' का प्रतीक माना जाता था किन्तु 'नयी कविता' में इसे 'प्यार' के प्रतीकार्थ व्यवहृत किया गया है।[2]

वस्तुतः सभ्यता के विकास के साथ–साथ जिन प्रतीकों ने जन्म ग्रहण किया था, युग परिवर्तन के साथ वे अधिकांशतया नवीन अर्थों से सम्पृक्त होते गये हैं; साथ ही नवीन प्रतीकों का भी उद्भव होता गया है। अस्तु, कहा जा सकता है कि प्रत्येक युग के काव्य को प्रतीकों के प्रयोग के लिये अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक

---

१. केदार नाथ अग्रवाल-'कोयले'
उद्धृत डा० संसार चन्द्र–'हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति' पृ० ७४.

२. श्री विनोदचन्द्र पाण्डेय-
'इस दुर्ग से दीखा,
लाल प्यार का डूबता सूरज,
चुप रहा,
कुछ कह न पाया।

एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रेरणा प्राप्त होती है। मध्ययुगीन सूफ़ी-काव्य में भी प्रयुक्त प्रतीकों का कारण उसकी युगीन परिस्थितियां थीं, जो इस प्रकार हैं–

४·१ देशकाल (वातावरण) और परिस्थिति

देशकाल (वातावरण) और परिस्थिति से तात्पर्य उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक बातों से है। इस्लाम–धर्म के आगमन के समय भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त डाँवाडोल थी। हर्ष के साम्राज्य-पतन के पश्चात् उत्तरी भारत में कई छोटे–छोटे राज्यों की स्थापना हुई। एकछत्र शासन तथा केन्द्रीय संघबद्धता विनष्ट हो गयी। कोई भी राज्य-शक्ति इन्हें एकसूत्र में न बाँध सकी।

दसवीं और ग्यारहवीं सदी तक अराजकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इसी बीच भारत पर विदेशियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। मुहम्मदबिन कासिम प्रथम आक्रमणकर्त्ता था। इसके पश्चात् महमूद गजनवी का आक्रमण हुआ। विसेंट स्मिथ ने गजनवी के आक्रमणों की संख्या १७ मानी है।[१] उनके मतानुसार सोमनाथ का आक्रमण महमूद की सोलहवीं चढ़ाई के दौरान हुआ था।[२] वस्तुतः मुहम्मदबिन कासिम का आक्रमण तो केवल सिंध पर हुआ था, वास्तविक विदेशी आक्रमण महमूद गजनवी के ही थे। इन्हीं आक्रमणों ने भारत की सभ्यता और कला को उजाड़ना प्रारम्भ कर दिया था। डॉ० ईश्वरी प्रसाद का कथन हैं कि गजनवी के साथ अलबरूनी नामक एक प्रसिद्ध इतिहासकार आया था, उसने अपने आश्रयदाता महमूद गजनवी के सम्बन्ध में लिखा है—"उसने भारत के वैभव को सम्पूर्ण रूप से मिटा सा दिया। साथ ही उसने आश्चर्य के वे कारनामें किये जिससे कि हिन्दू धूल के कणमात्र रह गये; अथवा लोगों के मुँह पर केवल पुराने जमाने की एक कहानी मात्र रह गयी।"[३]

इसके अनन्तर मुहम्मद गोरी के रूप में भारत के दुर्भाग्य का उदय हुआ। उसने सम्बत् १२१३ एवं १२१४ में पृथ्वीराज और जयपाल को पराजित करके भारत

1. The computation of Sir Henry Elliot that Mahmud made seven–teen expeditions may be accepted.

The Oxford History of India. P. 205

2. The most celebrated and interesting of Mahmud's expeditions was the sixteenth, undertaken with the object of sacking the temple ef Somnath.

The Same P. 208

३. 'मेडीवल इन्डिया'–डॉ० ईश्वरी प्रसाद पृ० ६२.

की रही सही सत्ता भी नष्ट कर दी। बंगाल तक विजय प्राप्त करने के पश्चात् गोरी ने कुतुबुद्दीन ऐबक को वाइसराय के रूप में दिल्ली में नियुक्त किया।

सन् १२०६ से १२१० ई० तक भारत पर गुलाम-वंश के बादशाह कुतुबुद्दीन ऐबक ने राज्य किया। गुलाम-वंश के राज्य में ही चंगेज खाँ का विनाशकारी आक्रमण हुआ। इस वंश के शासकों में बलबन अत्यन्त कठोर शासक था।

इसके पश्चात् खिजली-वंश का उदय हुआ। इसका प्रमुख शासक अलाउद्दीन बहुत क्रूर व्यक्ति था। हिन्दुओं का उसने पूर्णरूप से विनाश करने का प्रयत्न किया। वह यद्यपि धर्मान्ध था परन्तु हिन्दुओ के दमन के साथ-ही-साथ उसने इस्लाम के धर्माधिकारियों पर भी अपना प्रभुत्व जमाया, जिससे मुस्लिम साम्राज्य की जड़ें और भी दृढ़ हो गयीं।

खिजली-वंश के अनन्तर भारत वर्ष के राजसिंहासन पर तुगलक-वंश का पदार्पण हुआ। इसके शासक फीरोज तुग़लक ने हिन्दुओं से धार्मिक कट्टरता का व्यवहार किया। तुग़लक-वंश के पश्चात् सल्तनत लोदी-वंश के हाथ में आ गयी। बाबर ने भी इस्लाम के प्रचार के लिये हिन्दुओं के सिर कटवा-कटवा कर ढेर लगवा दिये। हिन्दुओं के प्रति वह भी बड़ा कटु और क्रूर था। बाबर के पश्चात् हुमायूँ शासक हुआ किन्तु शेरशाह सूरी हुमायूँ को पराजित कर स्वयं भारत का शासक बन बैठा। वह अति न्यायप्रिय तथा धर्मनिरपेक्ष बादशाह था। प्रजा में यह सर्वप्रिय शासक था। इसके राज्यकाल में सर्वत्र शान्ति थी। शेरशाह के समय में ही सूफ़ी-कवि जायसी का आविर्भाव हुआ जिन्होंने 'पदमावत' जैसे अनुपम ग्रंथ की रचना कर हिन्दी के सूफी-साहित्य को अमूल्य निधि अर्पित की।

किन्तु शेरशाह के उत्तराधिकारियों में कोई योग्य शाशक न हो सका, अतः हुमायूँ उन्हें पराजित कर पुनः भारत का शासक बन गया। हुमायूँ के पश्चात् अकबर राजसिंहासन पर आसीन हुआ। वह हिन्दुओं के प्रति उदार था। अकबर के पश्चात् जहाँगीर और शाहजहाँ का शासनकाल आया किन्तु वे अकबर की तुलना में हिन्दुओं के प्रति किञ्चित कठोर थे। इनके पश्चात् औरंगजेब का शासन काल आया। उसके शासन काल में तो धार्मिक कट्टरता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इस्लाम धर्म को स्वीकार न करने पर वह हिन्दुओं, सिक्खों आदि को जिन्दा चुनवा देता था। औरंगजेब के पश्चात् योग्य शासकों के अभाव में मुगल-वंश का पतन हो गया और धीरे धीरे भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूफ़ी-काव्य के सृजन के समय भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विषम थी। यद्यपि कुरान में स्पष्ट लिखा है कि किसी

धर्म पर विश्वास लाने के लिये किसी को मजबूर नहीं किया जा सकता[१] किन्तु अपने धर्म के प्रसार के लिये मुसलमानों ने तलवार का आश्रय लिया। इतिहासकार जी० एस० सर देसाई इस्लामी शासकों की नीति की चर्चा करते हुए लिखते हैं, "वे केवल राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति से ही संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने केवल विजेता और लुटेरों के रूप में हिन्दुस्तान के मैदानों में प्रवेश नही किया अपितु वे धर्म के लिये जूझने वालों के रूप में आये। उनकी धारणा 'काफिरों' के देश में अपने पवित्र धर्म के प्रचार करने की थी।"[२] जो इनके धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध कुछ कहता था, उसे मौत के घाट उतार दिया जाता था; उदाहरणस्वरूप मंसूर हल्लाज को लिया जा सकता है। मंसूर हल्लाज भारत आये थे।[३] उन्होंने गुजरात में पर्यटन किया था।[४] मंसूर के अन-अल्-हक (मैं ही सत्य हूँ) ने उन लोगों को क्रुद्ध कर दिया जो इस्लाम के कट्टर हिमायती थे। 'कुरान शरीफ' के 'सूरे इखलास' में खुदा के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि 'अल्लाह एक है। अल्लाह बेपरवाह है। न उससे कोई पैदा हुआ, न वह किसी से पैदा हुआ और न कोई उसकी समता का है'[५] किन्तु मन्सूर ने अपने को ही सत्य कहा, इसे कट्टर उलमा सह नहीं सके और सन् ९२२ ई० में उनका कत्ल कर दिया गया। वस्तुतः हल्लाज पर वेदान्त का प्रभाव दिखायी पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भारत में आकर वेदान्त का अध्ययन किया था और यहाँ से जाकर उन्होंने 'अनअल्हक' का संदेश दिया, जो वेदान्त का 'अहम् ब्रह्मास्मि' ही है[६] उनका कहना था कि मैं वही हूँ जिसकोप्यार करता हूँ; जिसे प्यार करता हूँ वह मैं ही हूँ। हम एक शरीर में दो प्राणवत् है। यदि तू मुझे देखता है तो उसे देखता है और यदि उसे देखता हैं तो हम दोनों को देखता है। उनकी इस भावना ने ही उन्हें सूली पर चढ़वा दिया। सूफ़ी-कवियों ने इस्लाम की इस कट्टरता एवं शासकों की क्रूरता से आत्मरक्षा के लिये प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया। फारिज ने स्पष्ट कहा है कि प्रतीकों की ओट लेने से धर्म-बाधा टल

---

१. 'अलकुरान' (सेल) पृ० ५९६.
२. अनु० राधे मोहन अग्रवाल—'मराठों का नवीन इतिहास' (न्यू हिस्ट्री ऑफ दी मराठाज)' पृ० १८
३. 'ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ परशिया'—ब्राउन, पृ० ४३१
४. ए० एम० ए० शुस्त्री-'आउट लाइन ऑफ इस्लामिक कल्चर' पृ० ३५२ (१९५४)
५. श्री अहमद बशीर-'तर्जुमा कुरान शरीफ' पृ० ६०७
६. लेख, डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी-'इंडिया एण्ड दी अरब वर्ल्ड' पृ० १८ 'अमृत बाजार पत्रिका', पूजा, नवम्बर, १९५७, में प्रकाशित।

जाती है।[1] फारिज़ का यह कथन सूफ़ियों पर पूर्णरूप से चरितार्थ होता है; उन्होंने प्रतीकों की आड़ में इस्लाम के कर्मकाण्ड का शिकार किया किन्तु उन पर किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं हुआ। उनको दण्ड तो तब दिया गया जब वे मैदान में आकर खुले आम 'ग़ैर इस्लामी' बातों का प्रचार और इस्लाम की भर्त्सना करने लगे। हल्लाज़ के प्राणदण्ड का प्रधान कारण उसका 'अन-अल्-हक' नहीं, बल्कि उसका खुले आम अपने को हक[2] प्रतिपादित करना था। यदि वह अपने को हक साबित करने के चक्कर में न पड़ता और प्रतीकों की ओट में अपने विचारों को प्रतिपादित करता तो कभी उसको प्राणदण्ड न मिलता। हक के दावेदार अनेक सूफ़ी निकले जो अपने को हल्लाज़ से कम 'अनअल्हक' नहीं समझते थे किन्तु उन्होंने कभी हल्लाज की खुली प्रणाली को ग्रहण नहीं किया। उनको प्रतीकों से प्रेम था; उन्होंने उनकी आड़ में ही अपने विचारों को व्यक्त किया।

अस्तु, स्पष्ट है कि प्रतीकों के प्रयोग से सूफ़ियों ने इस्लाम की कट्टरता और शासकों के अत्याचार से अपनी रक्षा की। धीरे-धीरे प्रतीकों का प्रचार सूफ़ियों में इतना व्यापक और इतना गहरा हो गया कि सभी पंथों ने मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा की और उनके प्रतीकों के आवरण में ही अपने मत का प्रदर्शन किया। फल यह हुआ कि सूफ़ी-काव्य प्रतीकों से ओतप्रोत हो गया और उसका समस्त वैभव प्रतीकों पर ही अवलम्बित हो गया।

सामाजिक स्थिति

राजनीतिक परिस्थितियों की भाँति तत्कालीन सामाजिक स्थिति भी अति दयनीय थी। मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से लेकर ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के संस्थापन तक भारतीय जीवन निरन्तर उत्पीड़ित होता रहा। आर्यों की कार्य कुशलता और सामाजिक व्यवस्था में निहित व्यापकता नष्ट हो चुकी थी। समाज में जाति का निर्धारण कर्म से नहीं, बल्कि जन्म से होता था। छुआ-छूत और ऊँच-नीच ने एक ऐसी विषमता को जन्म दिया जिसका मूल स्वर वैदिक समाज-व्यवस्था से पृथक् था। डॉ० बड़थ्वाल ने हिन्दू-समाज के भीतर के इस संघर्ष पर प्रकाश डालते हुए एक स्थल पर लिखा है, "जो नियम समाज में शांति, मर्यादा और व्यवस्था रखने के लिये बनाये गये थे, वे इस प्रकार के समाज में वैषम्य और क्रूरता के विधायक बन गये। जीवन के कार्यक्रम के चुनाव में व्यक्तिगत प्रवृत्ति का प्रश्न ही न रहा। जिस वर्ण में व्यक्ति विशेष ने जन्म पा लिया, उस वर्ण के निश्चित कार्यक्रम को छोड़कर और सब मार्ग उसके लिये बन्द हो गये। शूद्र जो निम्नतम वर्ण में थे,

---

1. R. A. Nicholson, 'Studies in Islamin Mysticism' Page 232.
2. Khan Sahib, 'Studies in Tasawwuf' Page 132.

सभ्य समाज के सब अधिकारों से वंचित रह गये। वेद और धर्मशास्त्रों के अध्ययन का उन्हें अधिकार न था। उनमें से भी अंत्यजों के लिये देव-दर्शनार्थ मंदिर-प्रवेश भी निषिद्ध था। उनका स्पर्श तक अपवित्र समझा जाता था।"[1] इस प्रकार उस समय की हिन्दुओं की सामाजिक प्रगति में सर्वप्रमुख वाधा जाति-प्रथा की थी।

इसके विपरीत इस्लाम की समाज-व्यवस्था में ऊँच-नीच और बड़े-छोटे क सम्बन्ध जाति से अथवा वर्ण से नहीं था, वल्कि अधिकार और शक्ति ही उसको निर्णायिका थी। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "प्रथम वार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामन करना पड़ा रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अव तक उनकी वर्ण-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नयी जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ, उपजातियाँ बनती जा रही थीं तथापि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी-न-किसी प्रकार चलती ही जा रही थी, किन्तु अव उनके सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था।"[2]

इस युग में नारी की दशा भी अत्यन्त शोचनीय थी। अन्य वस्तुओं के सदृश नारी भी सम्पत्ति समझी जाती थी। वह केवल भोग की सामग्री थी। सुन्दर नारियों के लिये विकट युद्धों का आयोजन होता था। इस प्रकार नारी का कामुक रूप ही इस युग में देखा जाता था। राजपूतों में तो कन्या की हत्या तक कर डालने की प्रथा थी। वाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा, जौहर-प्रथा, नारीहरण आदि अनेक ऐसी प्रथाएँ प्रचलित थीं जो उसकी स्थिति को और दयनीय वनाती जा रही थीं। इस प्रकार उस समय समाज की दशा अति शोचनीय थी।

धार्मिक स्थिति

इस युग में हिन्दू समाज में अनेक धार्मिक-सम्प्रदाय विद्यमान थे, जिनमें प्रधान हैं—वैष्णव, शैव और शाक्त। इसके अतिरिक्त बौद्ध और वेदों के कर्मकाण्डी विद्वान थे। इन धर्म-साधनाओं में परस्पर प्रवल विरोध था। वैष्णवों और शैवों में शैवों तथा शाक्तों में, बौद्धों तथा कर्मकाण्डियों में भयंकर संघर्ष चलता रहता था।' वैष्णव विष्णु को सर्वप्रमुख मानते थे तथा शिव, ब्रह्मा आदि को उसके आधीन स्वीकार करते थे। शैव शिव को प्रमुख स्थान देते थे और विष्णु तथा ब्रह्मा को उसके आधीन समझते थे। शाक्त शक्ति का स्थान सवसे ऊँचा मानते थे और शिव आदि को उसके आश्रित स्वीकार करते थे।

इसके अतिरिक्त तांत्रिक सिद्धों की साधना—जो मूलतः शाक्त थे, अत्यन्त

१— अनु० श्री परशुराम चतुर्वेदी—'हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय' पृ० ७.

२— 'मध्यकालीन धर्म-साधना'—पृ० ६०.

विकृत तथा पापाचार से भरी हुई थी। वे शक्ति की पूजा करते तथा मांस-भक्षण, सुरापान एवं व्यभिचार को साधना के रूप में स्वीकार करते थे। इसके अतिरिक्त ये सिद्ध लोग सामान्य जनता को सिद्धियों के चमत्कार दिखाकर उन्हें सिद्धियों का प्रलोभन देकर बहकाते थे। स्पष्टतः इस प्रकार की साधना समाज को पतन के पथ पर अग्रसर कर रही थी।

हिन्दू मूर्ति-पूजक थे; वे अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर उनकी तरह-तरह से उपासना करते थे; किन्तु मुसलमान मूर्ति-पूजा के विरोधी थे और एक खुदा पर विश्वास करते थे। मूर्ति-पूजा के विरोधी होने के कारण मुस्लिम शासकों ने मंदिरों का विध्वंस करना प्रारम्भ कर दिया दिया था। महमूद गजनवी जैसे आक्रमणकारियों ने भी—जिसका कि उद्देश्य धन लूटना था, यहाँ की मूर्तियों को तोड़ा था। महमूद गजनवी से सोमनाथ मंदिर के पुजारी ने यह कहा कि आप मूर्ति मत तोड़िये, उसके बदले में जितना धन आपको चाहिये, ले लीजिये। इस पर महमूद ने उत्तर दिया था कि मैं मूर्ति तोड़ने वाला हूँ, मूर्ति बेचने वाला नहीं और यह कहकर उसने मूर्ति तोड़ दी। कुतुबुद्दीन का इतिहासकार लिखता है कि मंदिरों को तोड़कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवा दी गयीं। जनता भी धीरे-धीरे अत्याचार सहने में अभ्यस्त होती गयी। हिन्दुओं के पतन में एक और अध्याय जुड़ गया। भारतीय इतिहास के पन्ने कलात्मक मन्दिरों के विध्वंस से भरे पड़े हैं।[1]

अस्तु, कहा जा सकता है कि तत्कालीन युग की धार्मिक दशा भी अत्यन्त संघर्षपूर्ण थी।

सांस्कृतिक स्थिति

धार्मिक स्थिति की भाँति तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति भी संघर्षपूर्ण थी। भारतवर्ष प्राचीनकाल से ही कला और संस्कृति का प्रेमी रहा है। अजन्ता की गुफाएँ, खजुराहों का मंदिर आदि आज भी उसके कला-प्रेम एवं संस्कृति के परिचायक हैं। किन्तु मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अपने आक्रमणों के दौरान में प्रसिद्ध मंदिरों एवं सांस्कृतिक स्थलों पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

मुस्लिम संस्कृति में दूसरे के धर्म एवं संस्कृति के लिये तनिक भी सहिष्णुता नहीं है। उनके यहाँ कुरान में इस सहिष्णुता को कुफ्र कहा गया है। किन्तु भारतीय संस्कृति में सहिष्णुता उसका एक प्रधान अंग है। तलवार के जोर से मुहम्मद साहब

---

1. 'The master pieces of the novel form of art cost a heavy price by reason of the destruction of ancient buildings and sculptures in other styles perhaps equally meritorious.' Quoted by Vincent A. Smith, 'The Oxford History of India' P. 238.

ने अरब में तो मुस्लिम संस्कृति का प्रचार कर लिया किन्तु उनके अनुयायी भारत में ऐसा नहीं कर सके। इसका कारण यह था कि भारतीय संस्कृति एक-दो दिन की संस्कृति नहीं थी और न उसकी शक्ति ही तलवार पर आधारित थी। उसकी जड़ें भारतीय जनता के हृदय में दृढ़ता के साथ जम चुकी थीं; उन्हें उखाड़ फेंकना इस्लाम क्या, किसी भी धर्म के बस की बात न थी। भारतीय संस्कृति न तो तलवार से काटी जा सकती है और न प्रलोभन से क्रय की जा सकती है। इस्लाम ने उसे तलवार से काटने का प्रयास किया; अँग्रेजों ने उसे प्रलोभन द्वारा खरीदने की कोशिश की; किन्तु दोनों ही असफल रहें।

सूफ़ी-कवियों ने इन सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संघर्षों को दूर करने का प्रयास किया। सूफ़ी राजसत्ता के विरोध में पहले ही परास्त हो चुके थे। वे यह अच्छी तरह जान गये थे कि राजसत्ता के विरोध में वे फल-फूल नहीं सकते, साथ ही भारत में जिस समय सूफ़ीमत का आगमन हुआ वह इस्लाम का ही एक अंग बन चुका था; अस्तु सूफियों का उद्देश्य भी इस्लाम का प्रचार करना था किन्तु उनका प्रचार प्रच्छन्न रूप से था।

यद्यपि सूफ़ी-कवियों के पहले सिद्ध, नाथ एवं सन्त कवियों ने भी इन संघर्षों को समाप्त कर हिन्दू-मुसलमानों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया था किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिल सकी। इसका कारण यह था कि उनकी शैली झाड़-फटकार की उपदेशात्मक शैली थी, जो भावनाओं की अपेक्षा तर्क और बुद्धि की कसौटी पर अधिक खरी उतरती थी; उदाहरणार्थ—संत कबीर की एक-दो साखियों की शैली को प्रस्तुत किया जा सकता है—

"पाँहण केरा पूतला करि पूजै करतार।
इही भरोसै जे रहे, ते बूड़े कालीधार॥"[१]

+ + +

"कबीर माला काठ की कहि समझावै तोहि।
मनन फिरावै आपणाँ कहा फिरावै मोहि॥"[२]

+ + +

"काकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दै, क्या बहरा हुआ खुदाय॥"

स्पष्ट है कि कबीर ने हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा एवं माला फिराना तथा मुसलमानों का मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ना इनका विरोध कर इनके बीच समन्वय

१— (सं०) बाबू श्यामसुन्दरदास—'कबीर-ग्रन्थावली' पृ० ४३.
२— वही, पृ० ४५.

स्थापित करने का प्रयास किया है, पर चूँकि इनमें भावों की अपेक्षा बौद्धिकता एवं उपदेशात्मकता अधिक थी अतः हिन्दू-मुसलमानों के बीच समन्वय लाने में इन्हें पूर्ण सफलता न मिल सकी। इसके विपरीत सूफ़ी-कवियों ने 'कान्तासम्मित' मधुर शब्दों एवं प्रतीकों के आवरण में अपने उपदेशों को जनता तक प्रेषित किया। इसके लिये उन्होंने भारतीय लोक-कथाओं एवं जन-भाषा को अपने प्रेम-काव्यों का उपजीव्य बनाया। उन्होंने दाम्पत्य-प्रेम को जो कि मानव-जीवन का एक प्रमुख कोमल अंग है, अध्यात्म का प्रतीक मानकर उसके माध्यम से विश्व-प्रेम का संदेश दिया। नारी (नायिका) को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उसे समाज में सर्वोच्च स्थान दिया। वस्तुतः इन कवियों के काव्य में नारी को प्रेम-साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया गया है भोग्यवस्तु के रूप में नहीं। वह उस प्रकार की साधन-सामग्री भी नहीं कहला सकती, जिस रूप उसे बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम देकर सहज-साधना के लिये अपनाया था। वह उन साधकों की दृष्टि में स्वयं एक सिद्धि बनकर आती है और इसी कारण उसे अलौकिक गुणों से युक्त बतलाया गया है। इस प्रकार इन प्रेमाख्यानक काव्यों में नारीत्व की शोभा है, नारी का माधुर्य है, नारीत्व के प्रति आदर है; वह वासनापूर्ति का साधन न बनकर ब्रह्म का प्रतीक बनकर आयी है। इस प्रकार नारी के प्रति समाज के उपेक्षापूर्ण भाव ने इन कवियों को नारी को प्रतीक रूप में अपनाने में योग दिया।

मुस्लिम शासक हिन्दुओं को काफ़िर कहकर उन पर अत्याचार करते थे किन्तु सूफ़ी-कवियों ने हिन्दुओं को उच्च स्थान दिया और उन्हीं को अपने काव्य में नायक-नायिका का पद दिया। उन्होंने हिन्दू नायक को जीव और हिन्दू नायिका को ब्रह्म का प्रतीक मानकर अपने भावों की अभिव्यक्ति की। हिन्दुओं को उच्च स्थान देने के स्थान देने के साथ ही उन्होंने मुसलमानों का स्तर निम्न रखा; यथा—जायसी ने अलाउद्दीन को माया का प्रतीक माना है।[१]

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि मुसलमान मूर्ति-पूजा एवं मंदिरों के विरोधी थे किन्तु सूफ़ी-कवियों ने मूर्ति-पूजा के प्रति अपना झुकाव प्रदर्शित किया। उनके काव्य के नायक-नायिका मूर्तियों को देवी-देवताओं का प्रतीक मान उनकी पूजा करते हुए दृष्टिगत होते हैं; यथा—जायसी के 'पदमावत' में रत्नसेन सिंहलद्वीप पहुँचने पर मंदिर के द्वार पर बैठकर अपनी उपासना द्वारा देव को मनाता है। वसंत-पूजा के अवसर पर पद्मावती अपनी सखियों सहित देव की पूजा करने एवं मनौती मनाने जाती है। जानकवि की 'छीता' शीर्षक प्रेमगाथा में नायिका छीता का अप-

१— 'माया अलादीन सुलतानू'
सम्पादक—आ० रामचन्द्र शुक्ल—'जायसी-ग्रन्थावली' (भूमिका) पृ० ५५.

हरण मंदिर में पूजा करने के लिये जाने पर ही होता है ।

इस प्रकार सूफ़ी-कवियों ने हिन्दू कथाओं, भाषा, उनके आचार-विचार आदि को प्रतीक-रूप में अपना कर भारतीय जनता को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास किया । इसका परिणाम यह हुआ कि इन प्रेमाख्यानों में प्रतीकों के आवरण में अभिव्यक्त मुस्लिम-धर्म एवं संस्कृति की ओर हिन्दू जनता आकृष्ट हुई और साथ ही इनका पारस्परिक सामाजिक वैमनस्य भी कम होता गया; यहाँ तक कि हिन्दू राजा अपनी लड़कियों का वैवाहिक सम्बन्ध भी मुस्लिम शासकों के साथ करने लगे; यथा—अकबर की पटरानी जोधाबाई राजपूत मानसिंह की बहन थी । इस प्रकार प्रतीकों के माध्यम से हिन्दू व मुसलमानों के मध्य सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता लाने में जो सहयोग इन सूफ़ी कवियों ने दिया, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

निष्कर्ष रूप में, हम कह सकते हैं कि सूफ़ी-कवियों को अपने काव्य में प्रतीकों के प्रयोग के लिये देशकाल (वातावरण) और परिस्थिति से अत्यधिक प्रेरणा उपलब्ध हुई । मुस्लिम शासक तलवार का आश्रय लेकर भी अपने धर्म का प्रचार करने में सफल न हो सके किन्तु सूफ़ी-कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से अपने मत का प्रचार करके मुस्लिम समाज, धर्म एवं संस्कृति की ओर भारतीय जनता को आकर्षित कर लिया । इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों के मध्य ऐक्य स्थापित करने में सूफ़ियों द्वारा अपनाये गये प्रतीकों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है ।

४.२ मनोवृत्ति

प्रतीक-योजना में देशकाल और परिस्थिति के योग के साथ-साथ कवि की मनोवृत्ति का भी प्रमुख हाथ रहता है । कवि जिस मनोवृत्ति का होगा, अपने काव्य के लिये वह उसी प्रकार के प्रतीकों का चयन करेगा; यथा—वीरगाथाकालीन कवियों की मनोवृत्ति युद्धात्मक थी अतः उनके काव्य में अधिकांशतया वीरता की भावनाओं को व्यक्त करने वाले प्रतीकों का ही प्रयोग हुआ है । सिद्ध एवं नाथ कवियों की मनोवृत्ति साधनात्मक थी अतः उनके काव्य में हमें प्रमुखतः साधनापरक यौगिक प्रतीकों का प्रयोग उपलब्ध होता है । संत-कवियों की मनोवृत्ति सुधारात्मक एवं अध्यात्मप्रधान थी अतः उन्होंने उपदेशात्मक एवं 'जीव' और 'ब्रह्म' का सम्बन्ध प्रकट करने वाले दाम्पत्य, वात्सल्य और दास्यमूलक प्रतीकों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार सूफ़ी-कवियों के काव्य में प्रयुक्त प्रतीक भी उनकी मनोवृत्ति के परिचायक हैं । उनकी मनोवृत्ति चूंकि सुधारात्मक होने के साथ-साथ अध्यात्म—विरह, प्रेम व सौन्दर्य के भावों से भी अनुप्राणित थी अतः उनके काव्य में विरह, प्रेम व सौन्दर्य के भावों को व्यंजित करने वाले प्रतीकों का प्रयोग हुआ है ।

अध्यात्म-विरह

सूफ़ियों का विरह विप्रलम्भ रूप में है; उनका समस्त काव्य विरह से आप्लावित है; मिलन के तो कहीं-कहीं छीटे मात्र हैं। इसका कारण यह है कि सूफी-कवि स्वयं परमात्मा के विरही थे। जायसी ने अपने अध्यात्म-विरह का वर्णन करते हुए बताया है कि परमात्मा के विरह में जलते रहने के कारण शरीर में न तो रक्त रह गया है और न मांस; जो मुझ जैसे विरही का मुख देखता है, उसे हँसी आ जाती है किन्तु जब वह मेरी उस विरह-व्यथा को सुनता है तो उसके नेत्रों से आँसू प्रवाहित होने लगते हैं।[१] वस्तुतः ईश्वर का विरह सूफ़ियों की प्रेम-साधना का प्रथम सोपान है—

"नैन विरह अंजन जिन सारा,
विरह रूप दर्शन संसारा।"

सूफ़ियों के मतानुसार जिनके हृदय में यह विरह होता है, उसके लिये यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है। इसमें परमात्मा का आभास अनेक रूपों में पड़ता है और तब वह देखता है कि सृष्टि के समस्त रूप, समस्त व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं।

अपने इस अध्यात्म-विरह के चित्रण के लिये सूफ़ियों ने प्रतीकों का आश्रय लिया। उन्होंने नायक को जीव और नायिका को ब्रह्म का प्रतीक मानकर परमात्मा के प्रति जीव के विरह को वर्णित किया हैं। नायिका के रूप-सौन्दर्य का चित्रण करते समय सूफ़ी-कवियों ने उस अनन्त के सौन्दर्य की ओर सुन्दर संकेत किया है जिसके विरह में समस्त सृष्टि जल रही है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि नायक (जीव) नायिका (ब्रह्म) के प्रतीकों के माध्यम से सूफ़ी-कवियों ने अपने अध्यात्म-विरह का सुन्दर चित्रण किया है और इनकी प्रतीक-योजना में इनके अध्यात्म-विरह ने सुन्दर योग दिया है।

प्रेम

सूफ़ी-कवियों के काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों के प्रयोग का द्वितीय कारण सूफ़ियों की प्रेमपरक मनोवृत्ति है। उनकी मान्यता है कि मनुष्य प्रेम के द्वारा ही स्वर्ग के योग्य बना है; अन्यथा वह केवल एक मुट्ठी राख है।[२] सूफ़ीमत बाह्याचार के विरुद्ध

१— "मुहम्मद कवि जौ विरह भा, ना तन रकत न मांसु।
जेइ मुख देखा तेइ हँसा, सुनि तेहि आयउ आँसु॥"
—सं०—आ० रामचन्द्र शुक्ल—'जायसी-ग्रन्थावली', स्तुति-खण्ड, पृ० ९ कविता सं० २३.

२— 'मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी नाहित काह, छार भरि मूठी।'
वही, मंडपगमन-खण्ड पृ० ७१, कवित्त २.

ईश्वर के प्रति उद्‌बुद्ध हुई नैसर्गिक अनुरक्ति का परिणाम था; अतः सूफ़ियों की सम्पूर्ण साधना प्रेम पर आश्रित है। उन्होंने ईश्वर को प्रियतम के रूप में माना; उनके लिये वह अमूर्त होता हुआ भी मूर्तिमान सौन्दर्य है; माधुर्य लोक का शासक है और प्रेम का प्रचारक है। वह प्रणय-पात्र बनकर केवल प्रियतम बनने का ही अधिकारी नहीं वरन् वह स्वयं भी प्रेमी के लिये तड़पने वाला है; इस प्रकार सूफ़ियों में ईश्वर और जीव की अभिन्नता है। जीव ईश्वर का ही अंश है अतः वही प्रेमी है और वही प्रियतम। प्रेमी कवि बरकतुल्ला ने कहा है कि वही ईश्वर कहीं प्रेमी और कहीं प्रियतम तथा कहीं स्वयं प्रेम है–

'कहीं माशूक कर जाना, कहीं आशिक सितां माना।
कहीं खुद इश्क ठहराना, सुनो लोगो सुखाबानी॥'[१]

किन्तु सूफ़ियों की यह मान्यता मुस्लिम-धर्म के विरुद्ध थी क्योंकि कुरान में प्रतिपादित ईश्वर का रूप निर्गुण था। कुरान के मतानुसार ईश्वर आराध्य है, उपास्य है, फिर भला वह माशूक (प्रियतम) कैसे हो सकता है? जो शासक है वह प्रेमी के लिये कैसे तड़प सकता है? जो स्वयं सर्वोपरि है; सम्पूर्ण चराचर विश्व भावरूप में जिसकी इच्छा मात्र का फल है; भला वह जीवात्मा से एकरूप कैसे हो सकता है? नमाज का त्यागकर उन्मादी की भाँति इश्क का राग आलापे जाना तथा हज आदि को छोड़कर केवल पीरों की सेवा में लीन रहना, यह सब परम्परा के विपरीत घोर उपद्रव था, जो धर्मध्वजों को सह्य न था। रक्त की प्यासी तलवार क्षणमात्र में उनका सारा उन्माद उतार देती; अतः प्राणदण्ड से अपनी रक्षा-हेतु सूफ़ियों ने प्रतीकों के आवरण में जीव और ब्रह्म के प्रेम का प्रतिपादन किया।

यद्यपि सूफ़ियों की रति का वास्तविक अवलम्बन ईश्वर ही है परन्तु प्रत्यक्षतः ऐसा मानना संकटापन्न था, अतः उन्होंने प्रतीकों का अवलम्बन ग्रहण किया। चूंकि माशूक का हुस्न अल्लाह का जमाल है जो किसी हसीन को अल्लाह का प्रतीक बनाता है। अल्लाह पुरुषविध है; मुहम्मद साहब को उसने किशोर[२] के रूप में ही दर्शन दिया था; अतः सूफ़ियों में बहुत समय तक किशोर को ब्रह्म का प्रतीक माना जाता रहा; बाद में सूफ़ियों के इस प्रतीक ने पाषंडियों के लिये व्यभिचार का मार्ग खोल दिया, अतः इस व्यभिचार से समाज को बचाने के लिये सूफ़ियों ने किशोर के स्थान पर नायिका को ब्रह्म के प्रतीक-रूप में स्वीकार किया; इस प्रकार सूफ़ियों ने सांसारिक प्रेम (दाम्पत्य-प्रेम) को दैवी-प्रेम का प्रतीक माना। उन्होंने अपने काव्य में

१– 'कौन्ट्रीब्यूशन टू हिन्दी लिट्‌रेचर' पृ० १३३.

2. The Religious Life and Attitude in Islam' P. 46.
—B.D.B. Macdonald.

किसी रमणी (नायिका) को ब्रह्म का प्रतीक मानकर जीव के ईश्वर विरह और प्रेम को व्यंजित किया। इस प्रकार उनकी साधना में वासना की दुर्गन्ध न होकर पूत-प्रेम का सौरभ सुरभित होता है।

अस्तु, स्पष्ट है कि सूफ़ियों की प्रेमपरक मनोवृत्ति के कारण उनके काव्य में प्रतीकों की विशेष नियोजना हुई है।

सौन्दर्य

सूफ़ी-कवि स्वभाव से सौन्दर्य-प्रेमी थे किन्तु कुरान में प्रतिपादित ईश्वर स्वच्छन्द शासक था जो कठोर दण्ड का विधाता था, अतः आपादग्रस्त लोगों को और भी भयावह था। भला ऐसा ईश्वर विपन्न मानवों को कैसे शान्तिप्रद हो सकता था? अतएव सूफ़ियों ने मधुर और कोमल अवलम्बन खोजा और वह उस सगुण ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता था क्योंकि वह प्रेमरूप है, परम सुन्दर है और उसका सौन्दर्य विश्व के कण-कण में व्याप्त है। 'गुलशने राज़' के लेखक का कथन है, "हमारे प्रियतम का सौन्दर्य अणु परमाणु तक के अवगुण्ठन में लक्षित होता है।"[1]

किन्तु मुस्लिम-धर्म में ख़ुदा के निर्गुण स्वरूप की मान्यता है जो नाम, रूप, गुणादि से रहित है, फिर भला उसके सौन्दर्य का अवलोकन कैसे किया जा सकता है? वह अमूर्त है अतः मूर्तिमान सौन्दर्य का दर्शन उसमें कैसे हो सकता है? हल्लाज जैसे सूफ़ियों द्वारा 'अनअल्हकवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने और यह कहने पर कि उसका सौन्दर्य ही संसार के कण-कण में विद्यमान है, उसे मुस्लिम अत्याचारियों द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया था; अतः सूफ़ी-कवियों ने यह स्पष्ट जान लिया कि यदि वे ईश्वर के सगुण रूप को अपनाकर उसके सौन्दर्य का चित्रण करेंगे तो उन्हें मुस्लिम धर्माधिकारियों का अत्याचार सहना पड़ेगा; उन्होंने इस अत्याचार से बचने के लिये नायिका को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उसके माध्यम से ब्रह्म के सौन्दर्य का चित्रांकन किया। इनके द्वारा चित्रित नायिका का सौन्दर्य परम प्रियतम के सौन्दर्य का प्रतीक है। वस्तुतः उनका (नायिका का) अंग-अंग उनके लिये प्रतीक का कार्य करता था, जिसे वे ही समझ पाते थे।[2]

समग्र रूप में, कहा जा सकता है कि सूफ़ी-कवियों की काव्यगत प्रतीक-योजना में उनकी अध्यात्मविरह एवं प्रेम व सौन्दर्यपरक मनोवृत्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

---

1. "If you cleave the heart of one drop of water there will issue from it a hundred pure oceans."

२– डा० विकलकुमार जैन–'सूफ़ीमत और हिन्दी-साहित्य' पृ० ७६.

४.३ पूर्ववर्ती परम्परा

कवि अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होने के साथ-साथ अपने पूर्व की साहित्यिक परम्पराओं से भी प्रेरणा ग्रहण करता है; सूफ़ी-कवि भी इससे अछूते नहीं हैं। उनके द्वारा काव्य में प्रयुक्त हुए प्रतीकों को देशकाल और परिस्थिति तथा मनोवृत्ति से तो प्रेरणा उपलब्ध हुई ही है, साथ ही अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं से भी योग मिला है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास में एक स्थल पर लिखा है, "हिन्दू और उनकी धार्मिक कट्टरता से ऊबकर उस युग के कुछ स्वतन्त्र विचारकों ने अध्यात्म के माध्यम से जगत् के सम्बन्धों को समझने के लिये पूर्ववर्ती परम्परा से प्राप्त सिद्धों, नाथ-योगियों के मार्ग को अपनाया।"[१] ऐसे विचारकों में सूफ़ी-कवियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे अपनी पूर्ववर्ती युग की समस्त परम्पराओं से प्रभावित हुए हैं। उनकी प्रतीक-योजना को प्रेरणा देने वाली एक तो अरबी फारसी-साहित्य की परम्परा है और दूसरी सिद्ध, नाथ एवं संत-काव्य की।

अन्य देशों के साहित्य की भाँति अरबी–साहित्य में भी सर्वप्रथम प्रेमकाव्य और वीरकाव्य की परम्परा उद्भूत हुई, किन्तु इस प्रेम–परम्परा में परमात्मा के परम प्रेम और आन्तरिक सूक्ष्म अनुभूतियों का चित्रण नहीं था। अरबी–साहित्य में स्फुट छन्दों तथा गज़लों के रूप में अपने विचारों का प्रतिपादन करने की प्रणाली बहुत प्राचीन थी किन्तु मसनवी–पद्धति पर ईश्वरीय प्रेम का प्रतिपादन करने की प्रणाली ईरान के सूफ़ी–कवियों की देन है। सूफ़ी–कवियों ने गज़लों के रूप में प्रेम–भाव की विवेचना की तथा मसनवी के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का स्पष्टीकरण किया। प्रेम-भावना आख्यानों द्वारा हृदयंगम कराने के लिये मसनवी–पद्धति सूफ़ी–काव्य में रूढ़ हो गयी। मसनवी की रचना सनाई तथा अत्तार ने की किन्तु रूमी का स्थान इस काव्य-पद्धति में सर्वोच्च है। उमर खैय्याम ने रूबाईयों द्वारा प्रेम का चित्रण किया। रूबाइयों के द्वारा सूफ़ियों के प्रेम का व्यक्तीकरण व्यक्तिगत उद्गारों के रूप में हुआ है। इसमें प्रेम-पात्र पुरुष ही है जो ब्रह्म का प्रतीक है।

अरबी जाति स्वभावतः कविता प्रेमी थी। इन कवियों का प्रमुख कार्य प्रोत्साहन प्रदान करना तथा वीरों का गुण गाना था। अन्य देशों की भाँति यहाँ के वीरगाथा काल के कवियों का भी अनिवार्य सम्बन्ध प्रेम, सुरा और प्रिय के नख–शिख वर्णन से था। इस प्रकार की कविता सूफ़ियों को परम्परा के रूप में मिली। सूफ़ियों को गज़ल में प्रेम और शराब का जो रंग मिला, उसी को अधिक परिष्कृत रूप में उन्होंने अपने काव्य में प्रदर्शित किया।

१– 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'—पृ० १६२.

अरबी साहित्य की अपेक्षा प्रेम और रहस्य तथा सूफी सिद्धान्तों का सम्यक् प्रतिपादन फारसी साहित्य में अधिक हुआ है। अरबों को परोक्ष और गुह्य में विशेष रुचि नहीं थी। उनका प्रेमकाव्य रहस्य प्रधान न होकर प्रगल्भ अधिक है। सूफ़ी साहित्य लिखा तो अरबी फारसी दोनों में गया है किन्तु उसका वास्तविक सौन्दर्य फारसी-साहित्य में ही अधिक है। फारसी-साहित्य में अरबी-साहित्य की अपेक्षा स्वछन्दता तथा रसात्मकता अधिक है जिसमें सुरा और साकी, बुलबुल और चमन का वर्णन व्याप्त है। चूंकि जीवात्मा माया के बंधन में है अतः वह शरीर की कारा को तोड़ कर प्रियतम से मिलने के लिये तड़प रही है। पिंजड़े में बन्द पक्षी भी इसी भाँति तड़पता है; अतः बुलबुल, कफस, आशियाना, सैयाद, कैदखाना और जंजीर आदि फारसी–काव्य में प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

प्रतीकोपासना (अग्नि, जल, वायु आदि के रूप में) तथा प्रतिमापूजन के प्रति जो घोर द्वेषभाव पैगम्बरी मतों में फैला हुआ था वह उदार व्यापक दृष्टि वाले सूफ़ियों को अत्यन्त अनुचित और घोर अज्ञानमूलक प्रतीक हुआ। उस कट्टरपन का शान्त विरोध प्रकट करने के लिए वे कभी-कभी अपने उपास्य प्रियतम की कल्पना 'बुत' (प्रतिमा) के रूप में करते थे; जितना ही इस बुत का विरोध किया गया उतना ही वह फारसी की शायरी में दख़ल जमाता गया। सूफ़ी बराबर "खुदा के नूर को हुस्ने बुँता के परदे में" देखते रहे। शायर लोग खुदा-खुदा करना और बुतों के आगे सिजदः करना दोनों बराबर ही समझने लगे।[1]

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी फारसी-साहित्य के इस भाव को ग्रहण कर प्रतीकोपासना को अपने काव्य में स्थान दिया। उनकी प्रेम-गाथाओं के नायक-नायिका 'बुतों' (मूर्तियों) को देवता का प्रतीक मानकर उनकी उपासना करते हुए दृष्टिगत होते हैं।[2]

बुत की भाँति ही फारसी-साहित्य में सुरा (मदिरा) का भी विशेष महत्त्व है। सुरा में वह शक्ति है जो इन्सान को कुछ काल के लिये भव-बंधन से मुक्त कर अनुपम उल्लास का स्वर्ग दिखाती है। प्रणय भी मदिरा का कार्य करता है। इसका उन्माद भी मनुष्य को उन्मादी बना देता है। उमर खय्याम ने लिखा है कि प्रेमी को दिन भर प्रणय में ही उन्मत्त रहना चाहिये एवं व्याकुल होकर भटकते रहना

---

१. "कर्हें में सिजदः बुतों के आगे, तू ऐ बरहमनी खुदा-खुदा कर।"
सम्पादक–आ० रामचन्द्र शुक्ल –जायसी-ग्रंथावली' पृ० १४० (भूमिका)

२. विशेष विवरण के लिए इसी अध्याय के मनोवृत्ति के पूर्व के तृतीय खण्ड को देखिये।

चाहिये ।[1] वस्तुतः सच्चा प्रेमी सदा प्रणय की मदिरा से मतवाला रहना चाहता है । उमर खय्याम ने लिखा है, "प्रेम की मदिरा हमें वहुत लाभ पहुंचाती है; उससे हमारे शरीर और प्राणों को शक्ति मिलती है एवं उसके पीने से रहस्य का उद्घाटन होता है; अतः मैं उसकी मदिरा का केवल एक घूँट पीना चाहता हूँ । उसके पश्चात् न मुझे जीवन की चिन्ता है और न मृत्यु की ।"[1]

इस प्रकार प्रणय रूपी मदिरा के उन्माद में मनुष्य मतवाला हो जाता है और आनन्द विभोर हो तल्लीनता को प्राप्त करता है । इसी उल्लास एवं तल्लीनता के कारण हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने शराब को प्रतीक माना है । सूफ़ियों का प्रधान-भाव रति है और रति का मुख्य उद्दीपन है सुरा । प्रणय रूपी सुरा और रति के आधार पर ही सूफ़ी-साहित्य का सृजन हुआ है । रति का जो आलम्वन है वही प्रियतम का प्रतीक है । यह प्रियतम ही साकी का काम करता है और प्रेम-मदिरा को पिलाकर प्रेमी को छका देता है । इस प्रेम-सुरा को पीकर फिर प्रेमी को अपने मरने जीने की भी चिन्ता नहीं रहती है ।[2]

किन्तु साकी शान से शराव का वितरण करे; इस्लाम की विधियों का उल्लंघन करे तथा हराम के प्रचार में लगा रहे और शेख साहव चुपचाप इसे देखते रहें; यह संभव नहीं । शेख, जाहिद, काजी और मुल्ला आदि धर्मध्वजी सदा हाथ में इस्लाम का झंडा लिये सूफ़ियों के प्रतिकूल आंदोलन करते रहे जिसका परिणाम यह हुआ कि शेख, मुल्ला, जाहिद आदि इस्लाम के उपासक फारसी-काव्य तथा तत्पश्चात् उर्दु-कविता में पाखण्ड एवं हास्य के प्रतीक वन गये । हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी इन प्रतीकों को लिया है । यद्यपि इन्होंने माया या कर्मकाण्डी काजियों मुल्लाओं एवं पंडितों के लिए प्रतीकों की योजना नहीं की है क्योंकि इनका उद्देश्य प्रतीकों के माध्यम से अव्यक्त को व्यक्त करना था, फिर भी एकाध स्थलों पर

---

१. "आशिक हमा रोज़ा मस्तो शैदा वादा ।
दीवानओं शोरीदओ रुसवा वादा ॥
दुर हुशयारी गुस्सये हर चीज खुरेम ।
चूँ मस्त शवेम हरचे वादा-वादा ॥" —ईरान के सूफ़ी-कवि-पृ० ५१-५२ ।

२. "मैं कुव्वते जिस्मों कुव्वते जानस्त मरा ।
मैं काशिफ़े असरारे निहांनस्त मरा ॥
दीगर तलवे दीनवों उकवा न कुनम ।
यह जुरआ पुर अज़ हर दो जहाँ मस्त मरा ॥" ईरान के सूफ़ी-कवि—पृ० ५१

३. "सुनु धनि ! प्रेम-सुरा के पिये, मरन जियन डर रहै न हिये ।"
सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल—'जायसी-ग्रंथावली'-पद्मावती-रत्नसेन-भेंट खंड पृ० १४१, कवित्त सं० ३५ ।

'दाढ़ी' आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य कर्मकाण्डवहुल काजियों के लिये किया गया है। शेख रहीम ने ऐसे ही व्यक्ति के लिये 'खरीदार' शब्द का प्रयोग किया है। ऐसे व्यक्ति अपनी श्रद्धा, भक्ति, पूजा, उपासना, वाह्य-आडम्वर एवं लोकाचार इन सभी के वदले में 'रव' या कर्त्ता से कुछ पाना चाहते हैं किन्तु न तो 'रव' वेचने वाला है और न विकने वाला ऐसे खरीदार उसे पा नहीं पाते।[1]

सारांश रूप में, हम कह सकते हैं कि हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने अरवी एवं फारसी-साहित्य में प्रयुक्त प्रेम-सुरा, नायिका, प्रतिमापूजन आदि को हृदयंगम कर उन्हें और अधिक परिष्कृत रूप में प्रयुक्त कर अपनी प्रेमगाथाओं को प्रतीकमय वना डाला है।

अरवी और फारसी साहित्य के प्रतीकों को अपनाने के साथ-साथ इन कवियों ने सिद्ध नाथ एवं संत काव्य के प्रतीकों को भी अपने काव्य का उपजीव्य वनाया है। इन्होंने सिद्धों एवं नाथों के चन्द्र (इड़ा नाड़ी) सूर्य (पिंगला नाड़ी) गंगा (इड़ा नाड़ी) यमुना (पिंगला नाड़ी) त्रिवेणी (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना) दशम द्वार (ब्रह्म-रन्ध्र) आदि प्रतीकों को यद्यपि स्वीकार किया है किन्तु उनसे भिन्न रूप में। उनके साहित्य में ये प्रतीक साध्य थे जवकि हिन्दी के सूफी कवियों ने इन्हें साधन रूप में अपनाया है। संतों, सिद्धों एवं नाथों ने अपने काव्य में इन प्रतीकों का जिस रूप में प्रयोग किया था उसे केवल योग साधना के सिद्धान्तों से परिचित व्यक्ति ही समझ सकते थे, साधारण जनता उनके इन प्रतीकात्मक अर्थों का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ थी, उनके लिये तो इनका काव्य एक मनोरंजन एवं चमत्कार की वस्तु थी, किन्तु हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने इन प्रतीकों का प्रयोग सरस रूप में किया है, यथा—

'वैदन्ह आइ नाटिका, वूझ विचारा पीर।
चाँद सुर्ज दुइ निर्मल, दोख न कुँवर शरीर''[2]

कुँवर मधुमालती के विरह में पीड़ित है किन्तु अन्य लोग उसकी इस वस्तुस्थिति से परिचित नहीं हैं अतः वे राजवैद्य को वुलाकर उसका परीक्षण करवाते है। वैद्य उसका परीक्षण कर कहता है कि चन्द्र (इड़ा) और सूर्य (पिंगला) (दोनों नाड़ियाँ) विल्कुल स्वस्थ हैं; इसे कोई भी रोग नहीं है। इस प्रकार यहाँ एक ओर तो चाँद और सूरज प्रेम-कथा से सम्वन्धित हैं और दूसरी ओर इड़ा और पिंगला के प्रतीकवाद से भी।

चन्द्र और सूर्य का ही नामान्तर गंगा-यमुना है। इनसे सम्वन्धित एक उदा-

१. 'मक्के गये हज्ज करि आये कपटी मन फिर संगे लाये।
मक्के और मदीने जावैं खरीदार रव का ना पावैं।—'भाषा प्रेमरस'—शेख रहीम उद्धृत डॉ० सरला शुक्ल—'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य, पृ० ११८।

२. 'मधुमालती' पृ० ४७

हरण द्रष्टव्य है-

"तुम्ह गंगा जमुना दुई नारी लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिली दूनहुँ और मानहुँ सुख भोग।"[१]

यहाँ गंगा-जमुना शृंगार पक्ष में तो पदमावती और नागमती की प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से कवि ने कहा है कि पद्मावती और नागमती को मिलकर रहना चाहिये और अपने पति रत्नसेन की सेवा करते हुए सुख भोग प्राप्त करना चाहिये। दूसरी ओर इन पंक्तियों में इड़ा-पिंगला के प्रतीकवाद का भी पूरा समर्थन है।

स्पष्ट है कि हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने सिद्ध, नाथ एवं संत साहित्य के यौगिक प्रतीकों को सरस रूप में ग्रहण कर अपनी रहस्यानुभूतियों की अभिव्यक्ति की है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली है। सिद्धों, नाथों और संतों का साहित्य जनता को आकर्षित करने में असफल रहा था किन्तु इन हिन्दी के सूफ़ी-कवियों के सरस प्रतीकों से युक्त प्रेमाख्यानों ने जनता के हृदय को जीत लिया।

अस्तु, संक्षेप में कहा जाता है कि हिन्दी के सूफ़ी काव्य में जो प्रतीक-योजना हुई है उसके मूल में उस युग की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ तो प्रेरक रूप में रही ही हैं; साथ ही इन कवियों की अध्यात्म-विरह एवं सौन्दर्यपरक मनोवृत्ति ने भी प्रेरणा दी है। इसके अतिरिक्त अरबी-फारसी साहित्य तथा सिद्ध, नाथ एवं संत काव्यों की पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्पराओं का भी इनकी प्रतीक-योजना में योगदान रहा है।

१- टीका. वासुदेव शरण अग्रवाल--'पदमावत' नागमती-पदमावती-विवाद-खण्ड पृ० सं० ५५७ कवित्त सं० ४४५

५ | सार्वभौम प्रतीक-योजना

सार्वभौम प्रतीक उन्हें कहते हैं जो सभी देशों और कालों में अर्थात् देश-काल की परिधि का अतिक्रमण कर एक ही रूप में प्रयुक्त होते हैं और सर्वत्र एक ही भाव को जाग्रत करते हैं; यथा सिंह सभी देशों और कालों में वीरता के प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह सभी देशों में प्राचीन काल से ही वीरत्व के भाव को व्यंजित करता रहा है और आज भी इसी अर्थ का द्योतक है।

यद्यपि सार्वभौमिक महत्ता प्राप्त करने वाले प्रतीक संख्या में अत्यल्प ही होते हैं किन्तु हिन्दी के सूफ़ी–काव्य में इन्हें भी यथोचित स्थान मिला है।

५·१ प्रकृति सम्बन्धी

रहस्यवादी कवि प्रकृति के नैसर्गिक वैभव में सौन्दर्य खोजते हैं मानो प्रकृति इनके लिये सौन्दर्य की धात्री है जो स्वयं भी सुन्दर है और साथ ही किसी सुन्दर रहस्यमयी सत्ता की ओर संकेत भी करती है। इस प्रकृति का उपयोग ये कवि प्रतीकात्मक तथा सांकेतिक रूप में करते हैं।

हिन्दीके सूफ़ी-कवियों ने प्रकृति का चित्रण द्वयर्थक रूप में किया है। उनके लिये प्रत्यक्ष प्रकृति पृष्ठभूमि में विद्यमान किसी अन्य परोक्ष रहस्यमयी सत्ता का संकेत है, इस कारण वे प्रत्यक्ष प्रकृति को उस परोक्ष सत्ता की अभिव्यक्ति का प्रतीकात्मक माध्यम बनाते हैं। आंग्ल रहस्यवादी कवि ब्लेक (Blake) के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है—

'He says twofold always, for every thing was of value to Blake as a symbol, as a medium for expressing a still greater thing behind it.'[1]

अर्थात् ब्लेक हमेशा द्वयर्थक बात कहता है क्योंकि उसके लिये प्रत्येक वस्तु प्रतीक-रूप में ही मूल्यवान थी जो अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति का माध्यम है।

सार्वभौमिक महत्ता प्राप्त किये हुए कुछ प्राकृतिक प्रतीक हिन्दी-सूफ़ी कवियों

1. Caroline 'Mysticism in English literature' P. 138

के काव्य में द्रष्टव्य है—

सर्वगुण सम्पन्न तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति को 'सूर्य' के समान तेजस्वी कहते कहते हैं, यानी सूर्य तेजस्विता का प्रतीक हुआ। विलियम हार्वे ने अपनी पुस्तक सम्राट चार्ल्स को समर्पित की थी और समर्पण में लिखा था "मेरी दुनियाँ के सूर्य" सन् १६६२ में जब फ्रेंच सम्राट लुई चौदहवें बालिग हुए और समस्त राज्याधिकार उन्हे समर्पित किया गया तो जनता ने उन्हें 'सूर्य नरेश' की पदवी से विभूषित किया था, ग्रह मण्डल में जिस प्रकार सूर्य विराजमान है उसी प्रकार अपने मंत्रिमण्डल के बीच में महारानी एलिजाबेथ प्रथम सुशोभित हो रही है, ऐसी मिशाल सन् १६०० में इंग्लैंड में जान नार्डेन नामक एक पादरी ने दी थी।[१]

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी अपने नायकों को सूर्य का प्रतीक माना है। यद्यपि उनका यह प्रतीक हठयोग-साधना से भी सम्बन्धित है और पिंगला-नाड़ी का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है किन्तु साथ ही यह नायकों की तेजस्विता का भी प्रतीक है।

चूँकि रतन प्रकाशयुक्त होता है अतः इसे सभी देशों के साहित्य में 'तेज' 'वैभव' और 'सुख' का प्रतीक माना गया है। हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी इस प्रतीक को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है; यथा—

'रोवै मात, न बहुरै बारा, रतन चला, जग भा अँधियारा।'[२]

अर्थात् रत्नरूपी रत्नसेन के योगी बनकर चलते ही समस्त संसार अंधकार में डूब गया।

'रतन एक जनु ससि मनियारा, रहा होई सब कुल उजियारा।'

में कवि उसमान ने भी 'रतन' को कुँवर सुजान का प्रतीक मानकर कहा है कि उसके तेज से उसका सम्पूर्ण परिवार प्रज्वलित हो रहा था।[३]

समुद्र को सर्वत्र गाम्भीर्य, अगाधता, हृदय की अनन्त भावराशि और विचार का प्रतीक माना गया है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों के काव्य में भी इस प्रतीक का प्रयोग उपलब्ध होता है; यथा—

'समुद्र अपार सरग जनु लागा, सरग न घाल गनै बैरागा।
उठै लहर जनु ठाढ़ पहारा, चढ़ै सरग औ परै पतारा।।'[४]

इन पंक्ति में समुद्र की अगाधता, अपारता एवं उसकी भीषणता का चित्र

१— श्री परिपूर्णा नन्द वर्मा 'प्रतीक—शास्त्र' पृ० १८६.
२— व्याख्या. श्री वासुदेव शरण अग्रवाल 'पदमावत' जोगी-खण्ड, कवित्त सं० १३६-१
३— 'चित्रावली'—परेवा-आगमन-खण्ड-पृ०३८. कवित्त सं० १२५.
४— सं०आ० रामचन्द्र शुक्ल- जायसी ग्रंथावली'—बोहित-खण्ड,पृ० ६२, कवित्त सं० २

चित्रित हो गया है—

'नैन कौढ़िया हिया समुँद, गुरू सो तेहि मँह जोति।
मन मरजिया न होई परै, हाथ न आवै मोति ॥"[१]

इसमें समुद्र हृदय की अनन्त भावराशि एवं विचार का प्रतीक बनकर आया है।

नारी की सुन्दरता, सुकुमारता एवं उसकी कोमलतम भावनाओं की अभिव्यंजना के लिये सभी देशों के साहित्य में फूलों को नायिका के प्रतीक-रूप में अपनाया गया है। अँग्रेजी कथारूपकों में 'रोमांस ऑफ रोज' एक उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। इस काव्य के समस्त पात्र एवं प्राकृतिक चित्र प्रतीकात्मक हैं। इसमें गुलाब का फूल नायिका का प्रतीक है। यह ग्रामीण युवती के रूप का प्रतिनिधित्व करता है। नायिका ही नायक के जीवन में आशा एवं निराशा का सचार करती है। इस काव्य की सम्पूर्ण घटनाएँ नायिका के हृदय में ही घटित होती हैं।[२]

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी फूलों को नायिकाओं का प्रतीक माना है; यथा जायसी ने कमल और मालती के फूलों को क्रमशः पद्मावती और नागमती का प्रतीक माना है—

'तजा कँवल,मालति हिय घाली, अब कित थिर आछै अलि आली।'[३]

इसी प्रकार मालती के फूल को नूरमुहम्मद ने नायिका इन्द्रावती के और उसमान ने नायिका चित्रावली के प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है—

'आगे मालत कहुँ सुध भयेऊ, मधुकर फुलवारी तजि गयेऊ।"[४]

१– व्याख्या.—श्री वासुदेव शरण अग्रवाल 'पदमावत'-पदमावती-रत्नसेन–भेट खण्ड, कवित्त सं०-२६३-८–९.

२. 'It is the tale of a difficult, prolonged but ultimately successful love affair, told from the man's point of view. The hero is the lover, the heroine the Rose. The characters are mainly abstractions, hypnotized by moral and emotional qualities such as the Rose's guardians, slandar jealousy, fear, shame and offended pride. ...The entire poem takes place in a garden and the climax is the capture of a tower followed by lover's contact with the imprisioned' Rose The Classical Tradition P. 63 By Heighet.

३–'जायसी-ग्रन्थावली'-नागमती-संदेश–खण्ड–पृ० १६४, कवित्त सं० १५.

४–'इन्द्रावती, सुवा-खण्ड'-पृ० ८६,कवित्त सं० ७

"पदुम कोस अलि लीन्ह बसेरा, हिय सोच भइ मालति केरा।"[१]

जर्जर पीले पत्तों को भय का प्रतीक माना गया है। वे दुःख, नैराश्य और मरण की निकटता सूचित करते हैं। जायसी ने टूटे हुए पत्ते को अपार वेदना और दुःख का प्रतीक माना है–

'आवा पौन बिछोह का पात परा बेकरार।
तरिवर तजै जो चूरि के लागै केहि के डार॥"[२]

इसके विपरीत लाल पत्ते सुख एवं आनन्द के प्रतीक हैं–

"पियर पात दुःख झरे निपाते
सुख पालौ उपने होइ राते।"[३]

सिंह का वीरता के प्रतीक-रूप में प्रयोग होता है। जब किसी के लिये यह कहा जाता है कि वह व्यक्ति मानों सिंह है तो इस कथन से उसकी वीरता का भाव व्यंजित होता है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने भी इस प्रतीक का प्रयोग किया है; यथा–

"सबै कटक मिलि गोरहि छेका,
गूँजत सिंघ, जाइ नहि टेका।"[४]
"भयेउ खेत के ऊपर सींघै सींघ भिड़ाव,
आइ सरीर न संचरेउ काहे कर सो घाव।"[५]

'ज्योति' का प्रतीकात्मक प्रयोग सभी धर्मों में सर्वाधिक और व्यापक रूप से हुआ है। प्राचीन ग्रीक-साहित्य में इसका प्रयोग उपलब्ध होता है, मिस्र का मुख्य अधिदेवता 'सूर्य' था। जोराष्ट्रियन धर्म भी सूर्योपासक था। ईसाई-धर्म में ईश्वर के प्रकाश की कल्पना की गयी है। वेदों में सूर्योपासना है। 'ज्योति' को परब्रह्म का प्रतीक कई कारणों से माना गया है। अन्धकार से भयभीत मानव को प्रकाश की आवश्यकता थी, इसी कारण उसने 'ज्योति' को परब्रह्म का प्रतीक माना। इस्लाम और विशेष कर सूफ़ीमत में खुदा के नूर की अतिशय चर्चा हुई है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने भी 'ज्योति' के इन प्रतीकात्मक रूप को अपनाया है। जायसी ने पदमावती की दशन-ज्योति का जो निम्नलिखित वर्णन किया है वह

१–'चित्रावली'-कौलाँवती-गवन-खण्ड–पृ० २२८, कवित्त सं० ५६७.
२–'व्याख्याकार–वासुदेव शरण अग्रवाल–'पदमावत' लक्ष्मी समुद्र-खण्ड, कवित्त सं० ३९६-८-६
३-वही, वसंत, खण्ड-कवित्त सं० १८३-७
४–'जायसी-ग्रन्थावली' गोरा-बादल–युद्ध खण्ड-पृ० २६१, कवित्त सं० १४.
५–'इन्द्रावती'-जुद्ध-खण्ड पृ० ६७, कवित्त सं० ५

प्रतीकात्मक ही है–

"जेहि दिन दसन जोति निरमई, बहुतै जोति-जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ जहँ विहँसि सुभावहि हँसी, तहँ तहँ छिटक जोति परगसी।
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी, पुनि ओहि जोति और को दूजी।
हँसत दसन अस चमके, पाहन उठे झरक्कि।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि॥"[१]

इसी प्रकार कवि मंझन ने भी लिखा है कि मधुमालती की दशन-ज्योति से तीनों लोक ज्योतित हो उठे—

'चमके दसन कहत रस बाता, चौंधे तीनि भुवन सब गाता।'[२]

इसके अतिरिक्त इन सूफी-कवियों ने सूफ़ीमत के नूरवाद को भी अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। नूरवाद के प्रधान प्रवर्तक अलगज्जाली थे। इन्होंने कुरान के नूरवाद से प्रेरणा ग्रहण की थी। कुरान में लिखा है, 'परमात्मा आकाश और पृथ्वी की ज्योति है।'[३] नूरवाद में इन हिन्दी के सूफी-कवियों की पूरी-पूरी आस्था थी। उन्होंने अपने काव्य की नायिकाओं को नूररूपी भी व्यंजित किया है। जायसी ने 'जन्म-खंड' में ही पद्मावती की प्रकाशरूपता व्यंजित कर दी है और उसे आकाश तथा पृथ्वी की ज्योति माना है। वह लिखता है, "ज्योति का उदय पहले आकाश में हुआ था। फिर वह पिता के शरीर में अवतरित हुई। वही ज्योति माता के गर्भ में प्रतिष्ठित हुई। अपनी दिव्यता के कारण उस ज्योति को बड़ा आदर मिला; ज्यों-ज्यों गर्भ का समय पूरा होने लगा त्यों-त्यों हृदय में प्रकाश की वृद्धि होती गयी। माता के आँचल में वह ज्योति उसी प्रकार नहीं छिप रही थी जिस प्रकार दीपक नहीं छिपता है। इसके पश्चात् जब वह कन्या अवतरित हुई तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो सूर्य की किरण उदित हुई हो; सूर्य की किरण उससे कम ही ज्योतिमयी थी।"[४]

१– सम्पादक–आ० रामचन्द्र शुक्ल–'जायसी-ग्रन्थावली', नख-शिख-खण्ड, पृ० ४४, कवित्त सं० ९.

२– 'मधुमालती'–माधुमालती-जागी-खंड, पृ० ३५.

३– 'कुरान' २४।३२.

४– "प्रथम सो जोति गगन निरमई, पुनि सो पिता माथे मनि भई।
पुनि वह जोति मातु-घट आई, तेहि ओदर आदर बहु पाई॥
जस अवधानपूर होई मासू, दिन-दिन हिये होइ परगासू।
जस अंचल महँ छिपै न दीया, तस उजियार दिखावै हीया॥"
सं०–आ० रामचन्द्र शुक्ल, –'जायसी-ग्रन्थावली' –जन्म-खण्ड–पृ० १९, कवित्त सं० १.

रात्रि में ही दिन का प्रकाश हो गया; मानो सम्पूर्ण कैलाश ही प्रकाशित हो गया।[१] इस प्रकार इन समस्त-वर्णनों में पद्मावती की प्रकाशरूपता ही प्रकट होती है।

इसी प्रकार कवि कासिम ने भी जवाहिर की सौन्दर्य-ज्योति से सम्पूर्ण पृथ्वी और कैलाश को ज्योतित दिखाया है–

"जग महँ छाई किरन सब, ज्योति मांझ कैलाश।
तपसी थकित जगत के, बैठ सो तेहिक आस॥" (हंस-जवाहिर)

'चित्रावली' में भी परब्रह्म की प्रतीक चित्रावली की ज्योतिरूपता से पृथ्वी और आकाश को मंडित दिखाया गया है–

"चित्रावली झरोखे आई, सरग चाँद जनु दीन्ह देखाई।
भयों अँजोर सकल संसारा, भा अलोप दिनकर मनियारा॥
चौंधे सुर सब सुरपुर माहीं, चौंधे नाग देखि परछाहीं।
चौंधे महि मंडल नरनारी, चौंधे जल थल जिव सब झारी।
चौंधे जोगी अहे तराहीं, कस अँजोर कोउ जाने नाहीं।"[२]

इसी प्रकार प्रकाश को सदैव ज्ञान का और अन्धकार को अज्ञान का प्रतीक माना गया है; यथा–बंगला भाषा के कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखते हैं कि–

"प्रथम बाहिर हये छिलेम
प्रथम-आलोर रथे।"[३]

अर्थात् मैं प्रकाश की प्रथम किरण के रथ पर बैठकर बाहर आया हूँ। यहाँ प्रकाश की प्रथम किरण 'ज्ञान' का प्रतीक है।

राजा रत्नसेन के नगर से प्रस्थान करने पर जायसी ने नगर के अन्धकारपूर्ण हो जाने का वर्णन किया है–

"जोगी होइ निसरा राजा
सून नगर जानहुँ धुंध बाजा।"

यहाँ नगर का अन्धकारपूर्ण होना 'अज्ञानमय स्थिति' का प्रतीक है।

प्रकाश की भाँति प्रभात को भी ज्ञान का प्रतीक स्वीकृत किया गया है; यथा––

'हवे हवे प्रभात हवे
आँधार जावे केटे।"[४]

१– "भा निसि महँ दिनकर परकासू, सब उजियार भएउ कबिलासू।"
जायसी-ग्रन्थावली जन्म-खंड, कवित्त सं० २.

२– 'चित्रावली' –दरसन-खण्ड, पृ० १०६, कवित्त सं० २७७.

३– अनु० पृथ्वीनाथ शास्त्री –'गीतान्जलि' पृ० ३४.

४– वही, पृ० ४८.

इन पंक्तियों में प्रयुक्त प्रभात शब्द 'ज्ञान' का और अन्धकार शब्द 'अज्ञान' का प्रतीक है। प्रभात एवं अन्धकार का यह प्रतीकात्मक चित्र हमें हिन्दी के सूफी-प्रेमाख्यानों में भी उपलब्ध होता है। सिंहल के पास सातवें समुद्र में पहुँचने पर साथियों सहित रत्नसेन (साधक) के हृदय का अज्ञान रूपी अन्धकार विनष्ट हो जाता है और ज्ञान का आलोक छा जाता है–

"गा अँधियार, रैन-मसि छूटी, भा भिनसार किरनि-रवि फटी।"[1]

'कहि यह वचन जो कीन्ह जोहारा।
गा पंखी उड़ि भा भिनुसारा॥
हंस सो हेर गहिय सो जाना, कस पंखी केहि देश उड़ाना।
रैनमांझ मोहि भेद बतावा, भोर भये वह दृष्टि न आवा॥'[2]

यहाँ 'भिनुसारा' और 'भोर' शब्द 'ज्ञानरूपी आलोक' के प्रतीक हैं और 'रैन' शब्द 'अज्ञानरूपी अन्धकार' का। पक्षी के उड़ जाने पर हंस में ज्ञान का उदय हुआ और हंस उस पक्षी को चारों ओर देखने लगा। उसने कहा कि पता नहीं वह कैसा पक्षी है ? और किस देश को उड़ गया ? जब मैं अज्ञान (अन्धकार) में खोया था तब तो उसने जवाहर (परब्रह्म) को पाने का भेद बताया और जब मुझमें ज्ञान (आलोक) का उदय हुआ तब वह दिखलायी भी नहीं पड़ता।

फूल और कांटा 'सुख' और 'दुःख' के प्रतीक हैं रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा लिखित निम्नांकित पंक्तियों में इन प्रतीकों का प्रयोग द्रष्टव्य है–

'कांटार वने फुल फुटेछे रे जानिस नेतुइ ताकि।'[3]

अंग्रेजी-साहित्य में भी इस प्रतीक का प्रचुर प्रयोग हुआ है; उदाहरण स्वरूप Shelley की निम्नलिखित पंक्ति प्रस्तुत है–

'I fall upon the thorns of life, I bleed.'[4]

इसमें प्रयुक्त Thorns (कांटा) शब्द दुःख का प्रतीक है।

हिन्दी के सूफी-कवियों ने भी सुख और दुःख को व्यंजित करने वाले इन प्रतीकों का अपने काव्य में प्रयोग किया है; यथा–

१– सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल –'जायसी-ग्रन्थावली' –सात-समुद्र-खण्ड–पृ० ६७, कवित्त सं० १०
२– 'हंस-जवाहिर' उद्धृत –'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० ४४४
३– 'गीतान्जलि' पृ० १४५.
4– 'Golden Treasury' (Complete works of Shelley) P. 297.

"तेहि बहु फूल हारू पहिरावै मोरे मारगि काँट बिछावै ।"[१]

अर्थात् मैना कहती है कि तुम्हें (चाँद को) तो वह लोरक अनेक प्रकार के सुख दे रहा है और मुझ मैना को विरह रूपी दुख दे रहा है। इस प्रकार इस पंक्ति में फूल 'सुख एवं आनन्द' का और काँटा 'दुख, कष्ट एवं विरह' का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है।

मधुमालती का मनोहर से प्रथम मिलन के पश्चात् जब विछोह हो जाता है तो उसकी सखियाँ उसे समझाती हुई कहती हैं कि इस संसार में बिना दुख भोगे सुख की प्राप्ति नहीं होती। सखियों के द्वारा कथित इस भाव की अभिव्यक्ति कवि ने काँटे और फूल के प्रतीकों के माध्यम से की है–

'बिना काँटे जग फूल, न आवा।'[२]

'फूलन सेज काँट अस खटके।'[३]

यहाँ पर फूल और काँटे के प्रतीक से कवि ने यह भाव व्यंजित किया है कि चन्द्रकला को अपने प्रियतम के विरह के कारण समस्त आनन्दप्रद एवं सुखद वस्तुएँ दु:खद एवं विषादयुक्त प्रतीत हो रही थीं।

पर्वत को सर्वत्र महान साधना, अडिगता, अटलता, अवरोधता, विशालता एवं दृढ़ता आदि का प्रतीक माना गया है। हिन्दी के सूफी-साहित्य में भी पर्वत का प्रयोग जहाँ कहीं भी हुआ है वहाँ इन्हीं प्रतीकात्मक अर्थों में हुआ है। नायक (साधक) जब नायिका की प्राप्ति-हेतु अपने साधना-पथ पर अग्रसर होता है तो पर्वत उसके मार्ग में बाधा-रूप में उपस्थित हो जाते हैं–

"ओहि मिलान जो पहुँचे कोई, तब हम कहब पुरुष भल सोई।
है आगे परवत कै वाटा, विषम पहार अगम सुठि घाटा ॥"[४]

वह 'मिलान' जहाँ साधक को पहुँचना है ईश्वर है; किन्तु यहाँ तक पहुँचने में अनेकों विघ्न-बाधाएँ पर्वत की भाँति अपने अडिग एवं विशालरूप में उसकी साधना-मार्ग में अवरोधक-रूप में आ उपस्थिति होती हैं। यद्यपि इन बाधाओं को पार करना कठिन रहता है किन्तु साधक उसे प्रेम-साधना से सहज ही पार कर लेता है–

'दधि अरण्य प्रेमपद आगे, सूझो पंथ होत अनुरागे।'

१– सं– डा० माताप्रसाद गुप्त –'चन्दायन' पृ० ११४.

२– 'मधुमालती' –विछोह-खंड, पृ० ४४.

३– 'भाषा-प्रेमरस'
उद्धृत–'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य', पृ० ५४८.

४– सं० आ० –रामचन्द्र शुक्ल–'जायसी-ग्रन्थावली'–जोगी-खण्ड, पृ० ७५, कवित्त सं० ११

सरिता की भी सार्वभौम प्रतीक के अन्तर्गत गणना की जा सकती है। सरिता को मानव-जीवन का प्रतीक माना गया है। 'रोमांस ऑफ रोज' में किले के बाहर प्रवाहित होने वाली सरिता 'जीवन' का प्रतीक है; आगे चलकर वही राजदरबार के सामाजिक जीवन एवं युवक के मस्तिष्क का प्रतीक बन जाती है।

हिन्दी के सूफ़ी-काव्यों में भी सरिता मानव-जीवन का प्रतीक बनकर आयी है; यथा-

"जौ लहुँ सागर अगम गँभीरा, तौलहुँ पूरक सरिता नीरा।
जौं बारिध न रहै जग माहीं, एक छिन महँ सब नदी सुखाहीं।
एह सुनि सरिता हिए सकानी, उतरि जाइ जनि सागर पानी।
जो जैसेहि तैसेहि उठ धाए, सागर ढिग सब गये हेराए।"[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में सागरगढ़ 'नरेश' का प्रतीक है। सरिता 'छोटे-छोटे देशों के राजाओं' का प्रतीक है। जब सोहिल राजा सागर पर कँवलावती की प्राप्ति-हेतु आक्रमण करता है तो राजा सागर अपने अधीनस्थ सभी राजाओं को सोहिल से लड़ने के लिये निमंत्रित करता है। वह स्वयं के लिये सागर का और उनके लिये सरिता के प्रतीक का प्रयोग कर कहता है कि जैसे सागर तभी तक सरिताओं को जल से पूरित रख सकता है जब तक कि उसमें अथाह जलराशि है; यदि समुद्र की स्थिति जगत् से समाप्त हो जाय तो नदियाँ एक क्षण में सूख जायेंगी; उसी प्रकार तुम राजाओं की स्थिति भी तभी तक है जब तक कि मैं हूँ, अन्यथा नहीं। यह संदेश सुनते ही सभी राजा उसकी सहायता-हेतु दौड़े आते हैं। इस प्रकार प्रतीक सरिता के माध्यम से कवि ने युद्ध के लिये सहायता की इस मांग को अति सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

वसन्त को कवियों ने सुख, आनन्द, प्रसन्नता आदि का प्रतीक माना है। कवि Shelley ने एक स्थल पर लिखा है कि यदि आज दुःखमय स्थिति है तो इसके पश्चात् सुख भी कभी-न-कभी अवश्य आयेगा क्योंकि दुःख में ही सुख का स्रोत छिपा रहता है–

If winter come,
can spring be far behind ?'[२]

यहाँ जाड़ा दुःख का प्रतीक है और वसन्त सुख का। हिन्दी के सूफी-कवियों के प्रेमाख्यानों में भी इस प्रतीक का प्रयोग हुआ है; यथा–देवपाल की दूती के यह कहने पर कि–

'कस तुइँ बारि रहसि कुँभिलानी ?'

१– 'चित्रावली' –सोहिल-खण्ड, पृ० १४३, कवित्त सं ३७३.
2– 'Golden Treasury (Complete works of Shalley) P. 297.

पद्मावती कहती है–

"तौ लहि रहौं झुरानी, जौ लहि आव सो कंत।
एहि फूल एहि सेंदुर, नव होई उठै वसंत ॥"[१]

अर्थात् उसके कहने का भाव यह है कि जब तक प्रियतम नहीं आते तभी तक मैं कुँभिलायी हुई हूँ; दुःखित हूँ। यदि प्रियतम का आगमन हो जाय तो शरीर में सुख एवं प्रसन्नता की लहर छा जाय।

'चित्रिन खोलि झरोखा बारा, देखै कहाँ वसंत उजारा।'[२]

चित्रावली ने झरोखा खोलकर देखा कि जो सुख और आनन्द छाया हुआ था, वह कुँवर के चले जाने से नष्ट हो गया है। इस प्रकार वसन्त यहाँ सुख और आनन्द का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है।

५.२ भौतिक पदार्थ सम्बन्धी प्रतीक

प्राकृतिक वस्तुओं की भाँति कतिपय भौतिक पदार्थ भी ऐसे हैं जिनको सार्वभौम प्रतीकों की संज्ञा दी जा सकती है; यथा–कलश, घट, कोयला, वृक्ष, हाट(बाजार) आदि।

कुम्भ का साहित्य के साथ-साथ वास्तुकला, चित्रकला एवं शिलालेखों में भी प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है। प्राचीन मंदिरों की दीवारों पर, प्राचीन चित्रों में एवं प्राचीन शिलालेखों में कुम्भ का चित्र अंकित मिलता है। इनमें कुम्भ को 'सरस्वती' (विद्या की देवी) का प्रतीक माना गया है।

साहित्य-क्षेत्र में इसे शरीर के, जीव के प्रतीक-रूप में ग्रहण किया गया है। यदि किसी कवि ने इसके लिये कुम्भ शब्द का प्रयोग किया है तो किसी ने कप-प्याला या घट का। श्री हरिवंश रॉय 'बच्चन' ने अपनी 'मधुशाला' में शरीर की प्याले और घट से उपमा देकर इसे और स्पष्ट कर दिया है–

'प्याले-सा गढ़ हमें किसी ने
भर दी जीवन की हाला ॥'[३]

\+ \+ \+

'ढलक रही हो तन के घट-से
संगिनि जब जीवन-हाला ॥'[४]

अंग्रेजी-साहित्य में राबर्टब्राउनिंग ने भी कप के रूप में इस प्रतीक का प्रयोग

१– 'जायसी-ग्रन्थावली'-देवपाल-दूती-खण्ड, पृ० २७०, कवित्त सं० ६

२– 'चित्रावली', कुटीचर-खण्ड, पृ० ११३, कवित्त सं० २६५.

३– 'मधुशाला' पृ० ६६.

४– 'मधुशाला'– पृ० ६९.

किया है; यथा—ब्राउनिंग ने लिखा है कि कभी मायूस मत हो, बल्कि इस कप (शरीर का प्रयोग करने में सतत् प्रयत्नशील रहो। जब परब्रह्म रूपी कुम्भकार ने इस शरीर रूपी प्याले को पूरा करके रख दिया है तब तुम्हें संसार रूपी चक्र में आबद्ध होने की क्या आवश्यकता है ?[1]

अंग्रेजी साहित्य की भाँति हिन्दी-साहित्य में भी इस प्रतीक का प्रयोग उपलब्ध होता है। कबीर ने लिखा है—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल, बाहिर-भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथौं गियानीं॥"[2]

यहाँ जल 'परब्रह्म' का और 'कुम्भ' शरीर का प्रतीक है। इन प्रतीकों के माध्यम से कबीर ने इस तथ्य की व्यंजना की है कि परब्रह्म में आत्मा और आत्मा में परब्रह्म समाया हुआ है। इस प्रकार बाहर भीतर सर्वत्र एक उसी की छटा विद्यमान है। शरीर रूपी घड़े के विनष्ट हो जाने पर आत्मा परमात्मा में मिल जाती है।

महात्मा सूरदास की गोपियाँ भी शरीर के लिये 'माट' (मटका, घड़ा) शब्द का प्रयोग कर कहती हैं कि —

"तरुणी स्याम रस मतवारि।
प्रथम जोवन रस चढ़ायौ, अतिहि भई खुमारि॥
दूध नहिं, दधि नहीं, माखन नहीं रीतो माट।
महारस अंग-अंग पूरण कहाँ घर कहँ वाट॥"

यहाँ मटके का दूध से रिक्त होना संसारी-वैभव से विरक्ति का द्योतक है। यह मटका (अध्यात्म पक्ष में शरीर) बाहर से खाली, पर अन्दर से भरा हुआ है। भगवत्प्रेम का महारस उनके अंग-अंग में परिपूर्ण हो रहा है।

हिन्दी के सूफी-कवियों ने भी इस प्रतीक को अपनाया है। सिंहलद्वीप के गढ़ पर बजने वाले राज-घरियार का वर्णन करते हुए जायसी ने लिखा है कि प्रत्येक घड़ी के पूरी होने पर राजघरियार घण्टा बजा देता है; उस घंटे के बजते ही मानों

1— Look not thou down but up;
To uses of a cup
The festal board, lamp's flash and trumpet's peal,
The new wine's foaming flow, The master's lips aglow.
Thou, heaven's consummate cup, What needest thou with earth's
Wheel ? –'Golden Treasury' (Rabi Ben Ezra) P. 390:

२– सं० बाबू श्यामसुन्दर दास–'कबीर-ग्रन्थावली'–(भूमिका) पृ० ३७.

संसार की एक घड़ी कम हो जाती है; अतः ऐ मिट्टी के बर्तन ! (मानव) तू क्यों निश्चिन्त होकर इस भव-जाल में फँसा हुआ है। तुम कालचक्ररूपी चाक में चढ़कर भी अभी कच्चे ही हो अर्थात् अभी तक तुम आवागमन के चक्र से मुक्त नहीं हुए हो—

"परा जो डाँड़ जगत सब डाँढ़ा, का निचिन्त माटी कर भाँड़ा।
तुम्ह तेहि चाक चढ़े हौ काँचे, आएहु रहै न थिर होइ बाँचे॥"[१]

इसी प्रकार अखरावट में कवि ने जगत् की रचना का वर्णन करते हुये कहा है कि—

"एक चाक सब पिंडा चढ़े, भाँति-भाँति के भाँड़ा गढ़े।"[२]

अर्थात् परमात्मा रूपी कुम्हार ने कालचक्र रूपी चक्र में रक्त-मांस-हड्डी रूपी मिट्टी के लोंदों को चढ़ाकर अनेक प्रकार के बर्तन रूपी शरीरों का निर्माण किया है।

कुम्भ, घट, घड़ा, प्याला आदि की भाँति मिट्टी को भी सर्वत्र शरीर का प्रतीक माना गया है। सूफी-कवियों ने भी अपने प्रेमाख्यानों में इसका प्रयोग किया है—

'मिरगावती' में राजकुँवर द्वारा रूपमणि से रोने का कारण पूछने पर वह उत्तर देती है कि राक्षस ने मुझे कैद करके इस जंगल में रख रक्खा है और अब मुझे इस मिट्टी (शरीर) से मोह नहीं रह गया है—

"राकस कहँ हौं दुख न दीन्हीं, माटी तै मोह न कीन्हीं।"[३]

'माटी मोल न किछु लहै औ माटी सब मोल।
दिस्टि जौ माटी सौ करै, माटी होइ अमोल॥"[४]

अर्थात् मिट्टी (शरीर) कुछ भी मूल्य नहीं रखती और मिट्टी सबसे अधिक मूल्यवान है। (सांसारिक जीवों में मानव-शरीर ही सबसे अधिक मूल्यवान है) यदि दृष्टि को मिट्टीवत कर ले (सब कुछ मिट्टी समझे) अर्थात् यदि शरीर को मिट्टी में मिला ले तो यह मिट्टी (शरीर) अमूल्य हो जाय।

रहस्यवादी कवि ब्राउनिंग विश्व के समस्त पदार्थों को उसी ईश्वर का प्रतीक मानते थे और उनमें ईश्वर का दर्शन करते थे। उन्होंने बार-बार लिखा है—

'God seen in the star, in the stone, in the flesh, in the soul etc.

१- सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल—'जायसी-ग्रन्थावली' (पदमावत) सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड, पृ० १६, कवित्त सं० १८.

२- वही, (अखरावट) पृ० ३०६, कवित्त सं० ५.

३- 'मिरगावती', पृ० १६०, कवित्त सं० १२९.

४- 'जायसी-ग्रन्थावली', मण्डप-गमन-खण्ड, पृ० ७१, कवित्त सं० २.

हिन्दी के सूफी-कवि भी संसार के प्रत्येक कण को, प्रत्येक वस्तु को उसी ईश्वर का प्रतीक मानते हैं। जायसी उसके बरुनि-बाणों से संसार की प्रत्येक वस्तु को विधा हुआ देखते हैं–

"धरती वान वेधि सब राखी, साखी ठाढ़ देहिं सब साखी।
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े, सूतहि सूत बेध अस गाढ़े।
बरुनि-बान अस ओपहँ, बेधे रन बन-ढांख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पांख।।"[१]

यहाँ वृक्ष, मनुष्य के शरीर के रोयें, अरण्य, वाटिका, पशुओं के तनके रोयें और पक्षियों के शरीर के पंख आदि को परमात्मा के वाणों का प्रतीक माना गया है।

हाट (बाजार) को प्रायः सभी साहित्यों में संसार का प्रतीक माना गया है। बंगाली कवि टैगोर लिखते हैं–

"ए संसाररे हाटे,
आमार जतइ दिवस काटे,
आमार जतइ दुहात भरे ओठे धने,
तबु किछुइ आमि पाइ निजेन
से कथा रय मने।"[२]

जायसी के 'पदमावत' में इस प्रतीक का सुन्दर प्रयोग हुआ है। भारतीय दर्शन में मानव-जीवन के दो मार्गों का निरूपण हुआ है–१–प्रवृत्ति-मार्ग और २–निवृत्ति-मार्ग। जायसी ने इस स्वीकृति की व्यंजना संसार रूपी हाट के माध्यम से की है–

"दुइ मारग देखहु एहि हाटा, दई चलावै धौं केहि बाटा।"[३]

एक दूसरे स्थल पर जायसी ने लिखा है–

"जिन्ह एहि हाट न लीन्ह बेसाहा, ताकहँ आन हाट कित लाहा।"[४]

इसी प्रकार नूरमुहम्मद ने भी हाट को संसार के रूपक में वर्णित किया है जिसमें कर्मानुसार फलप्राप्ति का भी संकेत है–

१– 'जायसी-ग्रन्थावली', नख-शिख-खण्ड, पृ० ४३, कवित्त सं० ६.
२– 'गीताञ्जलि', पृ० २०४.
३– सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल, 'जायसी-ग्रन्थावली'–(वनिजारा-खण्ड) पृ० ३१, कवित्त सं० ४.
४– सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल, 'जायसी-ग्रन्थावली'–(सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड) पृ० १४, कवित्त सं० १३.

"बरनौं हाट महीपति केरी, ता महँ लाख वस्तु की ढेरी।
जो कोऊ कछु लेवै चाहै जस पूंजी तस मोल बेसाहै॥"[१]

'हंस-जवाहिर' में भी हाट के इस प्रतीक का प्रयोग हुआ है—

"ऐसी हाट बसत उजियारी, बेचे तहाँ चतुर सुपियारी।
सहस अनूपम बसत लुकाई, कोऊ लेय कोऊ पछितायी।"[२]

हिन्दी में कबीर ने कोयला को वासनात्मक प्रवृत्तियों के प्रभावहीन हो जाने के प्रतीक-रूप में अपनाया है—

"समंदर लागी आगि,
नदियां जलि कोइला भईं।"[३]

हिन्दी के सूफी-कवियों ने नायिकाओं की विरहावस्था में उनकी प्रभावहीन स्थिति को व्यंजित करने के लिये इस प्रतीक का प्रयोग किया है—

'दहि कोइला भइ कंत सनेहा, तोला मांसु रही नहि देहा।'[४]
'हो विरहिन रवि तेज जरि कोइला भई झुराई।'[५]
'औ तिह अपर बरस अँगारा, दहि दहि कोइला भई सोनारा।'[६]
'तन कोयला सोयेन रकत, जीभररै पिउ पीउ।'[७]

स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक 'जौयअस मिस्टीसिज्म' में एक स्थल पर लिखा है—"मानव-आत्मा में एक चिनगारी होती है, उसे उद्दीप्त करके ही साधक उस परम प्रियतम के मिलन-मार्ग में अग्रसर होता है।"[७(अ)] जायसी ने बताया है कि—चिनगी कोयले के दीप्त रूप का प्रतीक है। गुरू साधक में विरह रूपी चिनगारी को उत्पन्न करता है जो उसे जगाकर उद्दीप्त कर लेता है, वही चेला है—

'गुरू विरह चिनगी जो मेला, जो सुलगाई लेइ सो चेला।'[८]

१— 'इन्द्रावती', जन्म-खण्ड, पृ० ९, कवित्त सं० ८

२— 'हंस-जवाहिर', उद्धृत—'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य' पृ० ४४५.

३— 'कबीर-ग्रन्थावली'—ग्यान-विरह कौ अंग, पृ० १२, साखी सं० १०.

४— सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल—'जायसी-ग्रन्थावली'—नागमती-वियोग-खण्ड, पृ० १५७, कवित्त सं० १७.

५— 'चित्रावली', कुटीचर-दहन-खण्ड, पृ० २०६, कवित्त सं० ५४०.

६— सं० डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त, 'चन्दायन'—पृ० २१९.

७— मधुमालती' —(मधुमालती का बारहमासा-खण्ड) पृ० १२३.

७—(अ) 'जौअयस मिस्टीसिज्म' पृ० २६.

८— सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल—'जायसी-ग्रन्थावली' (प्रेम-खण्ड) पृ० ५१, कवित्त सं० ७.

जिसके हृदय में प्रेमाग्नि की चिनगारी का उदय हो जाता है, उसका धैर्य्य खो जाता है और वह आतुर होकर प्रियतम की प्राप्ति का प्रयास करता है–

'चिनगी प्रेम आग की लावा, धीरज को खरिहान जरावा।'

नौका को मानव-शरीर का प्रतीक माना गया है। बंगला भाषा के कवि टैगोर के शब्दों में–

"कखन तुमि आसबे घाटेर परे
बाँधन टुकु केटे देबार तरे।
अस्तरविर शेष आलोटिर मतो
तरी निशीथ-माझे जावे निरुद्देशे।"[१]

द्वितीय पंक्ति में आया 'तरे' और चतुर्थ पंक्ति में आया 'तरी' (नौका) शब्द, ये दोनों शरीर के लिये प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

हिन्दी के सूफ़ी-कवि उसमान की 'चित्रावली' में इस प्रतीक का प्रयोग द्रष्टव्य है–

"भौंर फेर जल जंतु डर तेहि पर आँधी आउ।
जिउ आवै तब पेट महँ, तीर लाग जब नाउ॥"[२]

यहाँ 'नाउ' (नौका) को शरीर का प्रतीक मानकर इस भाव को व्यक्त किया गया है कि शरीर रूपी नाव इस भवसागर के मायाजाल रूपी भँवर में फँसी हुई है और वासना रूपी आँधी उसे झकझोरती रहती है। जीव का उद्धार तभी हो पाता है जब यह शरीर रूपी नाव परब्रह्म रूपी तट को पा लेती है।

'इन्द्रावती' में भी इस प्रतीक का प्रयोग हुआ है। इन्द्रावती कहती है कि यौवन अथाह समुद्र की भाँति है जिसमें पड़कर मेरी जीवन रूपी नौका थक गयी है–

"है अथाह जोबन उदधि, थाकी नाव हमार।
खेवक कान्ह कहाँ है, खेइ लगावइ पार॥"[३]

इसी प्रकार कवि शेख रहीम ने भी गुरु का आदर्श बताते हुए जीवन के लिये नैया (नौका) का प्रतीक-रूप में प्रयोग किया है–

"जो गुरु मिले तो अस मिले बांह पकड़ ले तार।
डूबत नैया भँवर मा, खेय लगावै पार॥"[४]

१– 'गीताञ्जलि' पृ० ३७.

२– 'चित्रावली'–बोहित-खण्ड, पृ० २३०, कविता सं० ६०१.

३– 'इन्द्रावती'–काग-खंड, पृ० ३५, कविता सं० ४.

४– 'भाषा-प्रेमरस'
उद्धृत–'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य', पृ० ५५८.

५.३ पौराणिक धार्मिक प्रतीक

इन प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे पौराणिक धार्मिक प्रतीक भी उपलब्ध होते हैं जिनको सार्वभौमिक महत्ता प्राप्त है। नर्क और इस संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राय: सभी धर्म-ग्रन्थों में एक प्रकार की कथा प्रतीक-रूप में प्रचलित है।

ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल (Bible) में बताया गया है कि स्वर्ग (Heaven) में ईश्वर के पुत्र (Son of God) देवदूत ((Angles) राज्य कर रहे थे। एक बार इन देवदूतों में वैमनस्य हो गया और इनमें कई दिनों तक लड़ाई चलती रही;, जो देवदूत पराजित हो गया वह शैतान कहलाने लगा। इसको सजा देने के लिये जलते हुए कुंड के रूप में नरक का निर्माण हुआ और इसे वहीं भेज दिया गया।

इसके पश्चात् ईश्वर ने 'एडम' (Adam) को बनाया। चूंकि एडम को अकेले अच्छा नहीं लग रहा था अत: ईश्वर ने उसकी पसलियों में से एक पसली को निकालकर उससे 'इव' (Eve) को बनाया और इन दोनों के रहने के लिये स्वर्ग के एक कोने में एक बाग (Garden) बनवा दिया जो Garden of Adam के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस Garden में एक लाल रंग का फल था, जिसे खाने के लिये ईश्वर ने इन दोनों को रोक दिया था।

शैतान ने ईश्वर से बदला लेने के लिये सोचा कि किसी उपाय से उसके प्रिय एडम और इव को उससे अलग कर दिया जाय। उसने विचार किया कि शायद एडम उसके बहकावे में न आये अत: इव को बहकाया जाय; वह साँप का रूप बनाकर इव के पास गया और उससे कहा कि यदि तुम लोग यह फल खा लो तो ईश्वर के बराबर हो जाओ; ईश्वर ने इसीलिये तुम लोगों को यह फल खाने से रोक दिया है। इव ने एडम के आने पर उससे उस फल को खाने के लिये कहा। एडम ने फल खाने से अस्वीकार कर दिया और कहा कि उसके खाने से ईश्वर क्रोधित होगा; किन्तु इव ने कहा कि एक फल को खा लेने से ईश्वर को क्या पता चलेगा। इस प्रकार दोनों ने आपस में विचार-विमर्श कर उस फल को खा लिया। ईश्वर ने क्रोधित हो उन दोनों को स्वर्ग से निकाल दिया और उन्हें यहाँ (मृत्यु-लोक में) भेज दिया Bible की इस कथा में एडम नर का प्रतीक है और इव नारी का; फल वासना का प्रतीक है और शैतान बुरे कर्मों का।

वाइबिल की इसी प्रतीकात्मक कथा को ग्रहणकर मिल्टन ने 'पैराडाइज लॉस्ट' (Paradise Lost) शीर्षक काव्य का प्रणयन किया है।

'कुरान' में सृष्टि के सम्बन्ध में कहा गया है कि परमात्मा ने छ: दिनों में सृष्टि का निर्माण किया। एक प्रकार के वाष्प से सब कुछ ढका हुआ था। उस वाष्प से परमात्मा ने जल, धरती, पर्वत और फिर जीवाधारियों की सृष्टि की और अन्त

में शुक्रवार को आदम और हौवा को निर्मित किया। अल्लाह ने नूर (ज्योति) से देवदूतों की सृष्टि की; इनका स्थान पैगम्बरों के बाद माना गया। इन देवदूतों में इब्लीस नामक एक देवदूत था जिसका कार्य लोगों को अच्छे मार्ग से बहकाना था। कहा जाता है कि वह अल्लाह का प्रिय था। अल्लाह ने जब आदम को बनाया तो सभी देवदूतों को उसके सामने झुकने का आदेश दिया। इब्लीस को छोड़कर अन्य सभी देवदूतों ने इस आदेश का पालन किया। इब्लीस की इस अवहेलना से ईश्वर क्रोधित हो गया और उसने उसे स्वर्ग से निकाल दिया। इब्लीस ने चिढ़कर लोगों को बहकाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार उसका कार्य लोगों को बुरे कर्मों की ओर प्रेरित करना ही गया और उसे शैतान का प्रतीक माना जाने लगा।

आदम और हौवा को उसी ने उस गन्दुम (गेहूँ) को खाने के लिये प्रलुब्ध किया, जिसे खाने के लिये उन्हें मना किया गया था। गेहूँ को खा लेने के कारण उन्हें स्वर्ग छोड़ना पड़ा। कुरान की इस कथा में आये आदम और हौवा क्रमश: नर और नारी के प्रतीक हैं तथा गन्दुम (गेहूँ) वासना का प्रतीक है और शैतान बुरे कर्मों का।

जायसी ने अखरावट में इन प्रतीकों का प्रयोग किया है—

"आदम हौवा कहँ सृजा लेइ घाला कविलास।
पुनि तंहवाँ ते काढ़ा नारद के बिसवास।"[१]

\+ \+ \+

"खाएनि गोहूँ कुमति भुलाने, परे आइ जग महँ पछिताने।
छोड़ि जमाल जलालहि रोवा, कौन ठाँव तैं दैउ बिछोवा ॥"[२]

आदम की उत्पत्ति का और गेहूँ खाने के अपराध में आदम-हौवा के स्वर्ग से निकाले जाने का उल्लेख 'पदमावत' में भी आया है—

"छोह न कीन्ह निछोही ओहूँ,
का हम दोष लाग एक गोहूँ।"[३]

'आखिरी-कलाम' में आदम ने इस बात को स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने शैतान के बहकावे में आकर गेहूँ खाया, जिस कारण मुझे स्वर्ग से निकाल दिया गया। जबरसूल नबी ने अपनी उमत को नर्क में जाने से बचाने के लिये आदम से कहा—

" ....पिता तुम्हार बहुत मोहि आसा।
उमत मोरि गाढ़े है परी, भा न दान, लेखा का धरी।"[४]

१— 'जायस-ग्रन्थावली'— अखरावट, पृ० ३०७.
२— वही, पृ० ३०८.
३— सं० आ० रामचन्द्रशुक्ल— जायसी-ग्रन्थावली'—(रत्नसेन-विदाई-खण्ड)पृ० १६७, कवित्त सं० ७.
४— वही, (आखिरी-कलाम) पृ० ३५०, कवित्त सं० ३२.

इस पर आदम उत्तर देता है—

"सुनहु पूत ! आपन दुख कहऊँ, हौं अपने दुख बाउर रहऊँ ।
होइ बैकुंठ जो आयसु ठेलेउं, दूत के कहे मुख गोहूँ मेलेउँ ।।
दुखिया पेट लागि संग धावा, काढ़ि बिहिस्त से मैल ओढ़ावा ।
परलै जाइ मँडल संसारा, नैन न सूझै, निसि-अँधियारा ।
सकल जगत मैं फिरि-फिरि रोवा जीव अजान बाँधि कै खोवा ।
भए उजियार पिरथिवी जइहौं, औ गोसाइ कै अस्तुति कहिहौं ।
लौटि मिलै जौ हौवा आई, तौ जिउ कहँ धीरज होइ जाई ।"[१]

'इन्द्रावती' में भी इन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है । तोता अपने बन्धन में पड़ने का कारण बताते हुऐ राजकुँवर से कहता है—

"काग एक भा शत्रु हमारा, दीन्ह चिन्हाइ सो गोहूँ चारा ।
लाग दोष गोहूँ के खायें, बिछुरा प्रीतम दोषिल पाये ।।
गोहूँ खाइ दूर मैं परा, मुख अनन्द महरू हुइ हरा ।
मित्र बिना तन मेरो, पिंजेर चाह संकेत ।
अहै बिराना सब कोउ, हित सो जासो हेत ।।"
आगेंह बरजा मित्र पियारा, पै खायेउ फांदे मह डारा ।।"[२]

यहाँ बन्धन में पड़ा तोता 'आदम' अर्थात् 'जीव' का प्रतीक है और काग 'शैतान' अर्थात् 'कुबुद्धि' ('कौवा-कुबुद्धि निकट नहि आवै'—कबीर) का; गोहूँ 'वासना' का प्रतीक है और मित्र 'ईश्वर' का । महरू शब्द 'माहरू' से बना है । माहरू में 'माह' का अर्थ है चन्द्र और 'रू' का अर्थ है मुख; इसी से अपभ्रंश में बना है 'मेहरारू' । इसी का यहाँ महरू-रूप में प्रयोग किया गया है; यह हव्वा अर्थात् नारी का प्रतीक है । इस प्रकार इन प्रतीकों के माध्यम से यहाँ इस भाव की व्यंजना हुई है कि सृष्टि के आदि पिता-माता (नर-नारी) निर्मल प्रेम-भाव से स्वर्ग में एक साथ रहते थे किन्तु कुबुद्धि ने उन्हें वासना की पहचान करवा दी; जिससे नर वासना में डूब गया और परिणामस्वरूप वह अपने प्रियतम ईश्वर से बिछुड़ गया क्योंकि इस प्रियतम ने उसे उस गोहूँ रूप वासना के फल को खाने से पहले ही रोक रक्खा था । उन्हें वहाँ से निकालकर यहाँ भेज दिया, जिससे स्वर्ग में प्राप्त उनके समस्त सुख-आनन्द का हरण हो गया और फिर उन्हीं से इस सृष्टि का विकास हुआ ।

इन प्रतीकों के अतिरिक्त स्वर्ग और नर्क के प्रतीक भी सार्वभौम हैं । स्वर्ग पुण्य के फल का प्रतीक है और नर्क पाप के फल का—

१— 'जायसी-ग्रंथावली', (आखिरी-कलाम) पृ० ३५१, कवित्त सं० ३३.
२— 'इन्द्रावती'—सुवा-खण्ड, पृ० ८५, कवित्त सं० ३—४.

"सुख बैकुंठ भुगुति औ भोगू, दुःख है नरक, जो उपजे रोगू ।"[1]

हिन्दू-धर्म-ग्रंथों में जिसे स्वर्ग या वैकुंठ और नर्क कहा गया है ईसाइयों के धर्म-ग्रंथ Bible में उसे ही Heaven (स्वर्ग) और Hell (नर्क) कहा गया है। मुसलमानी धर्म–पुस्तक 'कुरान' में इन्हें बहिश्त और दोज़ख की संज्ञा दी गयी है। कुरान में बहिश्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि वहाँ चारों ओर मीठे जल के झरने बहते रहते हैं दूध, शहद तथा शराब की नदियाँ बह रही हैं। अल्लाह की कुर्सी के नीचे से कौसर, तसनीम तथा सलसबील के स्रोत बह रहे हैं। बड़े बड़े विशाल वृक्षों की घनी छाया में वे स्रोत तथा नदियाँ बह रही है। सुन्दर तम्बू वहाँ लगे हुये हैं जिनमें पलग रखे हुए हैं। उन पलंगों पर बहिश्त में जाने वाले लेटेंगे और उन्हें सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण पहनने को मिलेंगे; पीने को शराब मिलेगी और हूरें तथा गिल्में स्वर्ग में रहने वालों की सेवा करेंगी।

जायसी ने 'आखिरी–कलाम' में बहिश्त के इस रूप का वर्णन किया है। उनका मत है कि जो धर्मात्मा लोग हैं वे पुल-सरात को सहज ही पार कर लेंगे–

"जो धरमी होइहि संसारा, चमकि बीजु अस जाइहि पारा।
बहुतक जनौं तुरँग भल धइहैं, बहुतक जानु पखेरु उड़इहैं॥
बहुतक चाल चलैं महँ जइहै, बहुतक मरि मरि पाँव उठइहैं।
बहुतक जानु पखेरु उड़इहैं, पवन कै नाईं तेहि महँ जइहैं॥"[2]

बहिश्त में पहुँचकर उन्हें पहनने को सुन्दर वस्त्राभूषण मिलेंगे। उनका हूरों के साथ विवाह होगा और उन्हें सौ-सौ दासियाँ मिलेंगी जो उनकी सेवा करेंगी।

जायसी के शब्दों में बहिश्त के इस भोग–विलास का चित्रण द्रष्टव्य है–

"हाथन्ह से केहु कौर न लेइ, जोइ जाह मुख पैठें सोइ।
दाँत, जीभ, मुख किछु न डोलाउब, जस जस रुचि है तस तस खाउब।
एक एक परकार जो आए, सत्तर–सत्तर स्वाद सो पाए।
जहँ जहँ जाइ कै परै जुड़ाई, इच्छा पूजै, खाइ अघाई।
जलम जलम कै भूख बुझाई, भोजन केरै साथै जाई॥
जेंवन अँचवन होइ पुनि, पुनि होइहि खिलवान।
अमृत भरा कटोरा, पियहु मुहम्मद पान॥"[3]

इस जेवनार खिलाने एवं शराब पिलाने के पश्चात् उन्हें रहने के लिये स्वर्ग दिये जायेंगे। जायसी ने इन स्वर्गों में प्राप्त ऐश्वर्य–भोग को इस प्रकार वर्णित किया है–

१–'जायसी ग्रन्थावली' अखरावट पृ० ३०६

२–'जायसी–ग्रन्थावली,' (आखिरी–कलाम) पृ० ३४८, कवित्त सं० २८

३–वही, पृ० ३५६, कवित्त सं० ४७.

"एक एक कहँ दीन्ह निवासू, जगत-लोक बिरसैं कबिलासू ।
चालिस चालिस हूरैं सोई, औ संग लागि बियाही जोई ।
औ सेवा कहँ अछरिन्ह केरी, एक एक जनि कहँ सौ सौ चेरी ।
ऐसे जतन बियाहै जस साजैं बरियात ।
दूलह जतन मुहम्मद बिहिश्त चले बिहँसात ।।"[१]

उमत सहित रसूल नबी को वहिश्त में इस सुख एवं भोग-विलास की प्राप्ति इस बात का प्रतीक है कि जो अच्छे कर्म करने वाले हैं और अल्लाह के प्रेम-मार्ग पर चलने वाले हैं, उन्हें सुख, आनन्द एवं भोग-विलास की उपलब्धि होती है किन्तु जो पापी हैं उन्हें दोज़ख (नर्क) मिलेगा । अल्लाह का कथन हैं कि वह पापियों को नर्क में भेज देगा–'पापी घाल नरक महँ बाहौ ।' ये पापात्माएँ 'पुले सरात' को पार नहीं कर पाती; कुछ तो नर्क-कुँड में गिरती हैं और कुछ रक्त पीव में-

"बहुतक नरक कुंड महँ गिरहीं, बहुतक रक्त पीव महँ परहीं ।
जेहि के जाँघ भरोस न होई, सो पंथी निभरोसी रोई ।"[३]

द्वितीय पंक्ति इस बात का प्रतीक है कि जिन्होंने अच्छे कर्म किये है उनको 'पुले–सरात' पार करने में ये कर्म सहायता देते हैं किन्तु जो बूरे कर्म करते हैं उन पथिकों (आत्माओं) को किसी का भरोसा नहीं होता और उनको नरक की प्राप्ति होती है ।

५·४ अन्य अनुभवगम्य (दृश्य एवं अदृश्य) प्रतीक

इन प्रतीकों के अतिरिक्त हिन्दी के सूफ़ी साहित्य में कुछ ऐसे अन्य अनुभव-गम्य प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है जो सार्वभौम कहे जा सकते है; यथा-साहित्य में मेघ अस्थिरता का प्रतीक माना गया है; जायसी ने इस प्रतीक का प्रयोग करते हुए लिखा हैं कि "यहु संसार झूठ थिर नाहीं, उठेहि मेघ जेउ जाइ बिलाहीं ।"[३]

लाल रंग 'अनुराग' का और श्वेत रंग 'दुख' और 'वेदना' का प्रतीक माना जाता है । अनुराग के लाल रंग से रंजित पद्मावती राजा के बंदी हो जाने का समाचार सुनकर दुख और वेदना से पूरित हो श्वेत वर्ण की हो जाती है—

१- 'जायसी-ग्रन्थावली'-(आखिरी-कलाम) पृ० ३५८ कवित्त सं० ५३.
२- वही, पृ० ३५० कवित सं० ३१
३- वही, पृ० ३४६, कवित्त सं० २८.
४- 'जायसी-ग्रन्थावली'-अखरावट, पृ० ३१८, कवित सं० २१

"राता बरन गएउ होई सेता, भाँवति भँवर रहि गई अचेता ।।"[1]

श्वेत रंग की भाँति पीला रंग भी वेदना एवं पीड़ा का प्रतीक माना गया है—

'अंग अनल अस कंवल सरीरा, हिया भा पियर प्रेम की पीरा ।'[2]

'मन दोमन मुरझवइ बिकरारा, मुख पण्डुर कर पा न संभारा ।।"[3]

इसी प्रकार अंधेरे अथवा काले रंग को भी सर्वत्र दुख, पीड़ा निराशा आदि के प्रतीक रूप में स्वीकार किया गया है और उजाले अथवा श्वेत रंग को जीवन और आनन्द के प्रतीक रूप में । राजा रत्नसेन के प्रस्थान के निश्चय को सुनकर उसकी माता उसे समझाती हुई कहती है कि यह समस्त राज्यपाट, साज-सम्पत्ति तुमसे ही आनन्दित है अतः तुम उसे दुःख के सागर में डुबोकर मत जाओ । जायसी ने रत्नसेन की माता के इस कथन के लिये उजाले और अंधेरे के प्रतीकों का प्रयोग किया है—

"राज पाट दर परिगह सब तुम्ह सों उजियार ।
बैठ भोग रस मानहु कै न चलहु अंधियार ।।"[4]

'नगर रहा हुत निसि होइ कारी, बहुरि भवउ उजियार ।।

अर्थात् राजकुँवर के विरह में जो नगर दुःख और वेदना के सागर में डूब रहा था राजकुँवर के वापस आने पर वहाँ पुनः सुख एवं आनन्द छा गया । इस प्रकार यहाँ काले और श्वेत रंग के प्रतीकों के माध्यम से भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

गेरुआ रंग त्याग का प्रतीक माना जाता है । हिन्दी के सूफी-कवियों के काव्य में इस प्रतीक का भी प्रयोग हुआ है । उनके नायक परब्रह्म की प्रतीक नायिका की प्राप्ति हेतु जोगी बनकर चल देते हैं । जायसी के 'पदमावत' में रत्नसेन अपने साथियों के साथ जोगी का वेश धारण कर सिंहल के लिये प्रस्थान करता है—

"चला कटक जोगिन्ह कर, कै गेरुआ सब भेपु ।"[5]

इस प्रकार गेरुए रंग के वस्त्रों का धारण करना उनके ऐश्वर्य एवं भोग-विलास के त्याग करने का प्रतीक है ।

निद्रा एवं स्वप्न को विद्वानों ने जीवन एवं संसार की क्षणिकता एवं नश्वरता

१- व्याख्या श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत', गन्धर्वसेन-मैत्री-खण्ड-कवित सं० २४७-७

२- वही, पदमावती-बियोग-खण्ड, कवित्त सं० १६६,४

३- 'मिरगावती' पृ० ३०८, कवित्त सं २८३

४- वही, जोगी-खण्ड, कवित्त सं० १२६-८-६.

५- 'मिरगावती' पृ० ३१६, कवित्त सं० २६७.

६- 'पदमावत' जोगी-खण्ड कवित्त सं० १२६–८

का प्रतीक माना है।Wordsworth ने लिखा है कि हमारा जन्म लेना जीवन क्या है बल्कि एक प्रकार की निद्रा है; स्वप्न है; एक प्रकार का भूलना है- "Our birth is but a sleep and a forgetting'.[१]

'इन्द्रावती' में राजकुँवर कहता है कि मेरा यह जीवन स्वप्न के समान क्षणिक है—

'सपन समा यह जीवन मोरा।"[२]

'आखिरी-कलाम' में कवि जायसी ने भी इस प्रतीक का प्रयोग किया है—

'यह संसार सपन कर लेखा, विछुरि गये जानहुँ नहिं देखा'।"[३]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में प्रथम में यदि स्वप्न जीवन की क्षणिकता एवं नश्वरता का प्रतीक है तो द्वितीय में संसार की क्षणिकता एवं नश्वरता का।

अस्तु, कहा जा सकता है कि हिन्दी के सूफ़ी-प्रेमाख्यानों में कुछ ऐसे प्रतीक भी आये हैं जिनकी गणना सार्वभौम प्रतीकों के अन्तर्गत की जा सकती है। इनमें से कुछ ऐसे है जो अधिकांश देशों के साहित्य में एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। और कुछ ऐसे हैं जिनका प्रयोग कुछ अर्थ-भिन्नता से हुआ है, किन्तु भाव प्रायः एक ही है।

१- 'Ode on Intimations of Immortality' P.310

२- 'इन्द्रावती' दर्शन-खण्ड-पृ० ८१, कवित्त सं० ११

३- 'जायसी-ग्रंथावली', जोगी-खंड पृ० ५५, कवित्त सं० ७

६ | देशपरक प्रतीक-योजना

हर सभ्यता तथा संस्कृति प्रतीकों से ओत:प्रोत होती है। निजी व्यवहार और व्यक्तिगत व्यवहार भी प्रतीकमय होते हैं।[1] किन्तु इनमें अन्तर रहता है। एक देश के प्रतीक दूसरे देश के प्रतीकों से भिन्न होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रत्येक देश के प्रतीक वहाँ की सभ्यता संस्कृति, मान्यताओं एवं जलवायु तथा वातावरण से वाधित होते हैं और चूंकि प्रत्येक देश की प्रकृति, स्थान एवं नाम सम्बन्धी अपनी कुछ विशेपताएँ होती हैं अतः इनसे सम्बन्धित जो प्रतीक ग्रहण किये जाते हैं वे देशस्थ कहलाते हैं। इन प्रतीकों में से कुछ ऐसे होते हैं जिनका प्रयोग दो-चार देशों में समान अर्थों में होता है। प्रत्येक देश के प्रतीकों में भिन्नता का कारण है उनकी विभिन्न संस्कृति, जिसके अन्तर्गत उस देश की वाह्य तथा आन्तरिक - सभी परिस्थितियाँ आ जाती हैं। तात्पर्य यह है कि प्रतीकों की रूपरेखा का निर्माण संस्कृति के आधार पर होता है। चूंकि, प्रत्येक देश की संस्कृति में वैपम्यता रहती है अतः प्रतीक भी भिन्न होते हैं। उनके एकदेशीय होने से एक देश के साहित्य में प्रचलित प्रतीक दूसरे देश के साहित्य में प्रयुक्त नहीं होते और यदि कोई परदेशीय प्रतीकों का कभी प्रयोग भी करता है तो फवता नहीं और उसकी वोधमयता में भी सरलता नहीं होती। हाँ, उस अवस्था में परदेशीय प्रतीक अवश्य ग्रहण कर लिए जाते हैं जब उनकी संस्कृतियाँ अच्छी तरह घुल-मिल गयीं हों।

चूंकि मध्य युग में मुस्लिम एवं भारतीय संस्कृति एक दूसरे से काफी प्रभावित हो चुकी थी अतः हिन्दी के सूफी-कवियों के काव्य में भारतीय एवं मुस्लिम दोनों ही देशों से सम्बन्धित प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

६·१ देशस्थ प्रकृति सम्बन्धी प्रतीक

प्रत्येक देश की जलवायु का प्रभाव उस देश के साहित्य पर पड़ता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों में भी अन्तर होता है। भारत की शस्य-श्यामला भूमि

1. Edward Sapir 'Symbolism' in Encyclopaedia of the Social Science' Page 494.

की जो निसर्ग सिद्ध सुषमा है उससे यहाँ के कवियों को चिरकाल से अनुराग रहा है। इसके विपरीत अरब तथा फारस आदि देश प्राकृतिक सौन्दर्य से रहित हैं। यही कारण है कि वहाँ के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ के लम्बे-लम्बे पेड़ों में सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं और इन्हीं को प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रतीक-स्वरूप ग्रहण करते हैं। यथा-फारसी-भाषा के कवि जामी ने अपनी मसनवी 'यूसुफ-जुलेखा' में जुलेखा के नख-शिख का वर्णन करते हुए उसके कद के सम्बन्ध में लिखा है कि उसका कद ताड़ के वृक्ष के सदृश था।[1] यहाँ ताड़ का वृक्ष जुलेखा की लम्बाईगत सौन्दर्य का प्रतीक है। किन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है; अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, वे ताड़ के वृक्ष में कोई सौन्दर्य नहीं पाते। संत कबीर ने इसे सुषुम्मा नाड़ी के प्रतीक रूप में ग्रहण किया है—

'पासहि बसत हुजूर तू चढ़त खजूर।'

भारत के निवासियों के लिए सघन वन, उच्च शैल-शृंग एवं गंभीर तथा विस्तृत जलराशि आनन्द एवं उल्लास के प्रतीक हैं पर फारस देशवासियों के लिये ये विपत्ति, कष्ट एवं यातना के प्रतीक होंगे।

इसी प्रकार हमारे देश के जलवायु और योरोप के जलवायु में अत्यधिक अंतर है। चूंकि योरोप में शीताधिक्य रहता है और सूर्य दर्शन प्रायः दुर्लभ ही रहता है अतः वहाँ पर उष्णता सुख, उल्लास एवं अह्लाद का प्रतीक हो सकती है परन्तु भारत में नहीं। यहाँ तो ग्रीष्म ऋतु कष्ट, व्याकुलता, एवं यातना का प्रतीक मानी गयी है; यथा—जायसी ने घाम शब्द का प्रयोग कष्ट एवं यातना के प्रतीक रूप में किया है—

'पथिक जो पहुँचे सहि के घामू।
दुख बिसराइ, सुख होइ बिसरामू।'[2]

भारत की ब्रजभूमि के 'करील के कुंज', 'कदम्ब के वृक्ष' कृष्ण के विहार-स्थल के प्रतीक हैं। देवदार के वृक्ष केवल पर्वतीय प्रदेशों में होते हैं अतः ये पर्वतीय स्थलों के प्रतीक बन गये है।

हिन्दी-सूफी-कवियों के प्रेमाख्यानों में भी इन देशस्थ प्रकृति सम्बन्धी प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। इन्होंने भारत तथा अरब एवं फारस दोनों ही देशों की प्रकृति से उपमानों का चयन किया है। कमल का पुष्प भारत देश में पाया जाता है और नरगिस का पुष्प फारस देश में। भारतीय साहित्य में कमल पुष्प को नेत्रों के लिये

---

१. 'यूसुफ-जुलेखा' अंग्रेजी अनुवाद, ग्रिफिथ, पृ० ४०
२. 'जायसी ग्रँथावली-सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड-पृ० ११, कवित सं० ३

उपमानस्वरूप ग्रहण किया गया है पर उर्दू-भाषा में नरगिस के फूल को नेत्र के प्रतीक-रूप में लिया गया है ; यथा–

"राजीवायत लोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं।
सीता लक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥"[१]

+ + +

"नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम सदा क्षीरसागर सयन ॥"[२]
'हजारों साल नरगिस चश्म बेनूरी पर रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा ॥"

नरगिस यहाँ दृष्टि का (नेत्रों का) प्रतीक है क्योंकि रुदन नेत्रों द्वारा ही होता है। कवि का कथन है कि उपवन की नरगिसी आँखे मानों ओस के बहाने इस लिये रोया करती हैं कि चमन में आँखवाला बड़ी मुश्किल से पैदा होता है। इस कथन से कवि ने इस भाव की व्यंजना की है कि साहित्य में सच्ची आलोचना का अभाव है। गुण-दोषों की सम्यक विवेचना करने वाला सच्चा आलोचक बड़ी मुश्किल से हो पाता है।

हिन्दी के सूफी-कवियों में केवल कवि नूर मुहम्मद और कवि नसीर ने नरगिस के पुष्प को आँख का प्रतीक माना है; यथा–

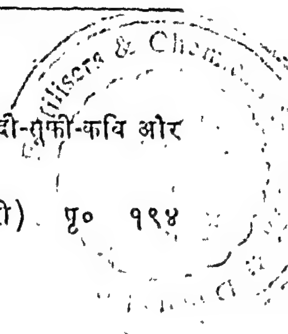
"अस दो नैन रहे रतनारे नरगिस जेहि के है मतवारे।"[३]
"नरगिस तै वह कुँवर समाना, नैन प्रियतमा कै पहिचाना।"[४]

अन्य हिन्दी के सूफी-कवियों ने नरगिस के बजाय कमल-पुष्प, मृग, खंजन आदि भारतीय उपमानों को ही आँख के प्रतीक-रूप में स्वीकार किया है; यथा –

"राते कँवल करहि अलि भवाँ, घूमहि माति चहहि अपसवाँ।"[५]
"खंजन लरहि मिरिग जनु भूले।"[६]

---

१. 'श्रीरामचरित-मानस,' अरण्यकाण्ड, पृ० ५६५, पद० २
२. वही-बालकाण्ड, पृ० ३०, पद सं० ३
३. कवि नसीर कृत- 'प्रेम-दर्पण' उद्धृत 'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य, पृ० ५७२
४. सं० परशुराम चतुर्वेदी-'सूफी-काव्य-संग्रह' (अनुराग-बांसुरी) पृ० १९४ कवित्त सं० १०
५. 'जायसी ग्रंथावली-नख-शिख-खण्ड-पृ० ४२, कवित्त सं० ५
६. वही पृ० ४३, कवित्त सं० ५



'अव नैनन की सुनहु निकाई, पंजन वरन मीन चपलाई।
कै संग भूलि पर्यौ मिग छौना, कै कछु इनमें टांमन टोना ।।'[१]

इतना ही नहीं, इन कवियों ने भारतीय कवियों की भाँति कमल-पुष्प को नायिका का एवं उसके आँख, मुँह, हाथ, पैर सभी का प्रतीक माना है ; यथा—

"कँवल सूख, पखुरी बेहरानी, गलि-गलि कै मिलि छार हेरानी।"[२]
"यह कहि कौंल कली कुँभिलानी, भा रवि अस्त, सूखि गा पानी ।।"[३]

प्रथम पंक्ति में कँवल पद्मावती का प्रतीक है और द्वितीय में चित्रावली का।

फारसी-काव्य में उरोजों की सुन्दरता को व्यंजित करने के लिए दाख एवं अंगूर की कोपलों को प्रतीकस्वरूप प्रयुक्त किया गया है किन्तु भारतीय साहित्य में श्रीफल, दाड़िम (अनार) नारंगी, शिव, घट आदि उपमानों को इसके (उरोजों के) प्रतीकस्वरूप लिया गया है। हिन्दी के सूफ़ी—कवियों के काव्य में यदि एक ओर दाख और अंगूर की कोपलों के माध्यम के उरोजों की सुन्दरता का वोध कराया गया है तो दूसरी ओर दाड़िम, नारंगी, श्रीफल आदि उपमानों का भी प्रयोग हुआ है। जायसी ने सरोवर में स्नान करती हुई पद्मावती और उसकी सखियों के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

"नवल वसंत सँवारी करी, होई प्रगट जानहु रस-भरी।
उठी कोंप जस दारिवँ दाखा, भइ उनंत पेम कै साखा ।।"[४]

इसी प्रकार 'नखशिख—खण्ड' में भी कवि ने उसके उरोजों के सौन्दर्य को व्यंजित करने के लिए इन प्रतीकों का प्रयोग किया है —

'दारिउँ दाख फरे अनचाखे, अस नारंग दहुँ का कहँ राखे'।[५]
'हिया थार कुच कनक-कचोरा, जानहुँ दुवौ सिरीफल-जोरा' ।।[६]

श्रीफल के माध्यम से उरोजों का वर्णन मंझन ने भी किया है—

'दुवौ अनूप सिरीफल नए, भेंट आनि तरुनापै दए'।[७]
'होत उतंग सिहन निरमरे, एक डारि दोइ नारंगि फरे'।[८]

---

१. कवि जान कृत-'कथा रतन मंजरी' ऊद्धृत 'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य, पृ० ३९०
२. 'जायसी-ग्रंथावली'-पदमावती-नागमती—विलाप-खण्ड पृ० २६४, कवित्त सं० २
३. 'चित्रावली' कुटीचर खण्ड पृ० ११३, कवित्त सं० २६६
४. 'जायसी-ग्रंथावली'—मानसरोदक-खण्ड पृ० २४, कवित्त सं० ५
५. वही, नखशिख-खण्ड पृ० ४६, कवित्त सं० १५
६. वही, पदमावती-रूप-चर्चा-खण्ड पृ० २१५, कवित्त सं० १७
७: 'मधुमालती' सिंगार-खण्ड पृ० ३०
८. 'चित्रावली' परेवा-खण्ड पृ० ७५, कवित्त सं० १६२

फारसी काव्य में कस्तूरी को केशों का प्रतीक माना गया है और भारतीय काव्य में कालिन्दी, भँवर, सर्प, नाग आदि उपमान केशों का बोध कराते हैं।

'दुसर रात कस्तूरीय झारा, तासों सुगन्ध कीन्ह संसारा।''[1]

यहाँ पर कस्तूरी इन्द्रावती के केशों का प्रतीक है जो उसके केशों की कालिमा, उसकी सुगन्धि और संसार में उसके व्यापक प्रभाव को व्यंजित करती है।

"जानहुँ लोटहि चढ़े भुअंगा, वेधे बास मलयगिरि अंगा ॥
लुरहि मुरहि जनु मानहि केली, नाग चढ़े मालति कै वेली ॥
लहरैं देइ जनहु कालिंदी, फिरि-फिरि भँवर होइ चित वेदी ॥''[2]

यहाँ भुअंगा, नाग, कालिन्दी, भँवर आदि प्रतीक केशों की कालिमा एवं उनके घुंघरालेपन को व्यंजित करते हैं। मलयगिरि चंदन की बास पद्मावती रूपी पदिमनी नायिका के शरीर की सुरभि का प्रतीक है–

'जौ लगि कालिंदी होइ विरासी, पुनि सुरसरि होइ समुद्र परासी ॥'[3]

अर्थात् जब तक कालिंदी या जमुना है विलास कर ले फिर तो गंगा में मिल कर गंगा होकर समुद्र में दौड़कर जाना ही पड़ेगा। यहाँ पर कालिंदी काले केशों का प्रतीक है और गंगा श्वेत केशों का। इन प्रतीकों के माध्यम से इस भाव को व्यंजित किया गया है कि जब तक काले केश हैं अर्थात् यौवन है तब तक विलास कर ले, फिर तो सफेद बालों वाला बुढ़ापा आयेगा और मृत्यु की ओर झटपट ले जायेगा।

"जोवन भँवर, फूल तन तोरा, विरिध पहुँचि जस हाथ मरोरा ॥''[4]

यहाँ जोवन रूपी भौंरा काले केशों का प्रतीक है।

"दीरघ विमल पीठि पर परे, लहर लेहिं विषधर विष भरे ॥''[5]

विषयुक्त विषधरों का लहरें लेना कह कर चित्रावली के काले घुंघराले केशों की शोभा को दर्शित किया गया है।

इन कवियों ने माँग के लिए दीपक, दामिनि, त्रिवेणी, सूर्य, किरण आदि उपमानों को प्रतीकस्वरूप प्रस्तुत किया है। माँग के लिए दीपक का उपमान फारसी कवियों में मान्य रहा है। हिन्दी के सूफी-कवियों ने यह उपमान वही से ग्रहण किया है—

---

१. 'इन्द्रावती' स्वप्न-खण्ड-कुँअर, पृ० १०, कवित्त सं० २
२. 'जायसी-ग्रंथावली' पदमावती-रूप चर्चा खण्ड पृ० २१०, कवित्त सं० ४
३, वही, देवपाल-दूती-खण्ड पृ० २७१, कवित्त सं० १०
४. वही, देवपाल–दूती–खण्ड पृ० २७१, कवित्त सं० १०
५. 'चित्रावली' परेवा खण्ड पृ० ६९, कवित्त सं० १७७

'माँग स्वरूप देखि जिउ हरई, दीपक वदन जोति तो बरई ।'[१]
"सूर समान कीन्ह विधि दीया, देखि तिमिर कर फाट्यो हीया ।।
स्याम रैनि महँ दीप सम, जेहि अँजोर जग होइ ।
अछुज भुअँगम माँहि वसि, दिया मलीन न होइ ।।"[२]

यहाँ दीप और दिया शब्द माँग के प्रतीक हैं और स्याम-रात्रि तथा भुअँगम काले केशों के प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से काले केशों के बीच में शोभित श्वेत माँग के सौन्दर्य को चित्रित किया गया है।

माँग के वर्णन में इन कवियों ने दामिनी के प्रतीक का भी प्रयोग किया है। घन में दामिनी की कल्पना को फारसी और भारतीय दोनों ही प्रकार के कवियों ने प्रश्रय दिया है; यथा-नाथू रामशंकर शर्मा ने अपनी निम्नांकित पंक्तियों में माँग के लिये इन प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया है-

'कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है-
कि स्याम घनमण्डल में दामिनी की धारा है।'

यहाँ कज्जल के कूट' और 'स्याम-घन मण्डल' प्रतीक काले केशों के लिये प्रयुक्त हुए हैं और 'दीपशिखा' तथा 'दामिनी की धारा' माँग के लिये। मंझन ने केशों के लिये स्याम रात्रि का और माँग के लिये दामिनी का प्रतीक-रूप में प्रयोग किया है-

"स्याम रैन महँ दामिनि चमकै स्याम दल महँ दीस।
सरगहु ते जनु छिटकी, आइ परी त्रिय सीस ।।"[३]

जायसी ने पद्मावती की माँग के सौन्दर्य को व्यंजित करने के लिये इन प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया है-

"कंचन रेख कसौटी कसी जनु घन महँ दामिनी परगसी।"[४]

माँग के लिये सूर्य-किरण की कल्पना का प्रयोग भी विशेष रूप से फारसी-कवियों के काव्य में ही हुआ है। हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने इस प्रतीक का चयन संभवत: वही से किया है। इन कवियों द्वारा प्रयुक्त इस प्रतीक का सौन्दर्य द्रष्टव्य है-

'सुर्ज किरनि जग माँह सोहाई, सब जग जीति गगन पर आई ।।'[५]
'सुरुज-किरिन जनु गगन विसेखी।'[६]

१- 'मधुमालती'-सिंगार-खण्ड-पृ० २६.
२- 'चित्रावली' परेवा-खण्ड- पृ० ६६-७०, कवित्त सं० १७८.
३- 'मधुमालती'-सिगार-खण्ड-पृ० २६.
४- 'जायसी-ग्रंथावली'-नख-शिख खंड-पृ० ४१, कवित्त सं० २.
५- 'मधुमालती' सिंगार-खण्ड-पृ० २६
६- 'जायसी ग्रन्थावली' नख-शिख-खण्ड-पृ० ४१, कवित्त सं० २

माँग के लिये प्रयुक्त इन प्रतीकों के अतिरिक्त हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने शुद्ध भारतीय प्रतीकों को भी अपनाया है; जैसे त्रिवेणी की कल्पना भारतीय कवियों को विशेष प्रिय है, उदाहरणार्थ पद्माकर का निम्नलिखित छन्द प्रस्तुत है–

"जाहिरै जागत सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै वह वैनी।
त्यों पद्माकर हीर के हारन गंग तरँगन कौं सुख दैनी॥
पाइन के रंग सों रँगि जात सी भाँति ही भाँति सरस्वती सैनी॥
पैरे जहाँई जहाँ ब्रजबाल तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिवैनी॥[1]

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी माँग के लिये त्रिवेणी की कल्पना का प्रयोग किया है। जायसी की निम्नलिखित पंक्ति में इस प्रतीक का प्रयोग द्रष्टव्य है–

'खाड़ै धार रुहिर जनु भरा, करवत लेइ बेनी पर धरा॥'[2]

यहाँ बेनी शब्द में श्लेष है– वेणी और त्रिवेणी।

भारतीय साहित्य में चन्द्रमा मुख का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है; हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी इस प्रतीक को अपनाया है; यथा–

'मेघ घटा मँह चंद देखावा'[3]

यहाँ मेघ-घटा केशों का प्रतीक है और चंद मुख का।

ललाट के लिये इन कवियों ने दुइज के चन्द्र का प्रयोग किया है। यह उपमान हिन्दी-कवियों ने सम्भवतः फ़ारसी-कवियों से गृहीत किया है। कदाचित् यही कारण है कि प्रायः सभी हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने इसे अपनाया है; उदाहरण-स्वरूप इस प्रतीक के कुछ प्रयोग प्रस्तुत हैं-

'दूज का चाँद जानु परगसा।'[4]

'निकलंकी ससि दुइज लिलारा,
"नौ खंड तीनि भुवन उजियारा।'
यह निति दुइज जगत सब दीसा,
जगत जोहारै देइ असीसा।"[5]

भौहों के लिये इन कवियों ने धनुष के उपमान की योजना की है। यह उपमान शुद्ध भारतीय है। इन कवियों ने इस उपमान की विराट्ता भी व्यंजित की है जिससे कि अभिव्यक्ति में आध्यात्मिकता का समावेश हो गया है; यथा–

१– सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र-'पद्माकर' (जगद्विनोद) पृ० ८१, पद० सं० १३,
२– 'जायसी-ग्रंथावली'-नख-शिख-खण्ड-पृ० ४१, कवित्त सं० २
३– वही.
४– 'चंदायन' पृ० ११८,
५– 'मधुमालती', सिंगार-खंड-पृ० २७

"उहै धनुक किरसुन पहँ अहा, उहै धनुक राघौ कर गहा।
ओहि धनुक रावन संहारा, ओहि धनुक कंसासुर मारा।
ओहि धनुक बेधा हुत राहू, मारा ओहि सहस्राबाहू॥
उहै धनुक मैं तापहँ चीना, धनुक आप बेझ जग कीन्हा॥"[१]

इन पंक्तियों में प्रयुक्त 'धनुक' शब्द पद्मावती की भौंहों का प्रतीक है और 'धानुक' स्वयं पद्मावती का।

इसी प्रकार चित्रावली की भौंहों का वर्णन करते हुए कवि उसमान ने लिखा है कि–

"एही धनुष जुध-मनमथलीता, कै परनाम काम तन जीता॥
भौंह धनुष लखि इंद्र सँकाना, सब जग जीति सरग कहँ ताना॥
कौन सो बली जो न गै मारा, तीनहु लोक एक हुँकारा॥
ऐस धनुष जग और न दूजा, देवतन्ह आइ बाहुबल पूजा॥
अहिपुर नरपुर जीति कै, सुरपुर जीतो जाइ।
अब दहु कछु न जानियै, का कहँ धरे चढ़ाइ।"[२]

नासिका का वर्णन करते समय जायसी ने सोहिल तारे का उल्लेख किया है–

"हीर-फूल पहिरे उजियारा, जनहुँ सरद ससि सोहिल तारा।
सोहिल चाहि फूल वह ऊँचा, धावहिं नखत, न जाइ पहुँचा॥"[३]

यहाँ सोहिल तारा नासिका में पहने गये हीर-फूल का प्रतीक है।

यह सोहिल तारा अरबी-भाषा का शब्द है और उसमें 'सुहैल' नाम से प्रसिद्ध है। फारसी और उर्दू की शायरी में इस तारे का नाम बराबर आता है पर शोभा-वर्णन की दृष्टि से प्रायः हिलाल के साथ। यह तारा भारतीयों में 'अगस्त्य' नाम से सम्बोधित किया जाता है, इस बात से जायसी परिचित थे अतः उन्होंने उसका वर्णन उस रूप में भी किया है। भारतीय कवि इसका वर्णन वर्षा का अन्त और शरद् का आगमन सूचित करने के लिये किया करते हैं; जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है–

'उदित अगस्ति पंथ जल सोषा, जिमि लोभहि सोषइ संतोषा।"[४]

१– 'जायसी-ग्रंथावली'-नख-शिख-खण्ड- पृ० ४२, कवित्त सं० ४.
२– 'चित्रावली'-परेवा-खंड- पृ० ७०, कवित्त सं० १८०.
३– 'जायसी-ग्रंथावली'-पद्मावती-रूप-चर्चा-खंड, पृ० २१२, कवित्त सं० ६
४- 'रामचरित-मानस', "किष्किन्धाकांड"–पृ० ६६६, पद सं० २.

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने ठीक इसी प्रकार का वर्णन 'सुहैल' का किया है—

"बिछुरंता जब भेटै सो जानै जेहि नेह।
सुक्ख-सुहेला उग्गवै दुःख झरे जिमि मेह॥"[१]

इसका उल्लेख एक स्थल पर और हुआ है। गोरा-बादल द्वारा राजा रत्नसेन को दिल्ली से छुड़ाकर उनके चलने पर जब बादशाह की सेना ने उनका पीछा किया तब बादल तो रत्नसेन को लेकर चितौड़ की ओर चला जाता है और वृद्ध गोरा मुसलमान सेना की ओर लौटकर उन्हें इस प्रकार ललकारता है—

'सोहिल जैस गगन उपराहीं, मेघ-घटा मोहि देखि बिलाहीं।'[२]

इसी प्रकार अगस्त शब्द का उल्लेख भी कवि ने नागमती के वियोग-वर्णन और गोरा बादल की प्रतिज्ञा में किया है—

'उआ अगस्त, हस्ति-घन गाजा, तुरय पलानि चढ़े रन राजा।'[३]

'उए अगस्त हस्ति जब गाजा, नीर घटे घर आइहि राजा॥'[४]

इस प्रकार भारतीय कवियों ने अगस्त शब्द को वर्षा-ऋतु के आगमन का प्रतीक माना है। हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी इसे इसी रूप में ग्रहण किया है।

ग्रीवा के सौन्दर्य का वर्णन करते समय इन कवियों ने मोरनी, कबूतर की ग्रीवा, तनी हुई घोड़े की गर्दन, मयूर और तमचूर उपमानों का प्रतीक-रूप में प्रयोग किया है जो सर्वथा भारतीय हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से वर्णित पद्मावती की ग्रीवा का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

'कुंदै फेरि जानु गिउ काढ़ी, हरी पुछार ठगी जनु ठाढ़ी।
जनु हिम बाढ़ि परेवा ठाढ़ा, तेहि तैं अधिक भाव गिउ बाढ़ा॥
चाक चढ़ाइ साँच जनु कीन्हा, बाग तुरंग जानु गहि लीन्हा॥
गये मयूर तमचूर जो हारे, उहै पुकारहि साँझ सकारे॥'[५]

इन प्रतीकों के अतिरिक्त जायसी के 'पद्मावत' की निम्नलिखित पंक्तियों में भारतीय प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है—

१- 'जायसी-ग्रंथावली'-पद्मावती-सुआ-भेंट-खंड-पृ० ७६, कवित्त सं० १.
२- वही, पद्मावती-गोरा-बादल-संवाद—खण्ड-पृ० २८०, कवित्त सं० ४.
३- वही, नागमती-वियोग-खण्ड-पृ० १५३, कवित्त सं० ७.
४- वही,-पद्मावती-गोरा-बादल-संवाद-खंड-पृ० २८० कवित्त सं० ४.
५- 'जायसी-ग्रंथावली' नख—शिख—खण्ड—पृ० ४५, कवित्त सं० १३.

'कारें कँवल गहे मुख देखा, ससि पाछे जनु राहु विसेखा ।'[१]

कारें (नाग) और राहु पद्‌मावती के केशों के प्रतीक हैं और कँवल तथा ससि उसके मुख के ।

'पन्नग पंकज मुख गहे, खंजन तहाँ बईठ ।'

इस पंक्ति में भी प्रयुक्त पन्नग (सर्प) केशों का प्रतीक है और पंकज मुख का तथा खन्जन नेत्रों का प्रतीक है ।

भारत में सारस जोरी को दाम्पत्य-प्रेम का प्रतीक माना गया है । परम्परा से चले आ रहे इस भारतीय प्रतीक को हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी अपनाया है–

"राजकुवँर मिरगावति रानी, सारस जोरी दयी जो आनी ।"[३]

"सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह ।
झुरि-झुरि पींजर हौं भई, विरह काल मोहि दीन्ह ।।"[४]

भारतीय साहित्य में वन, पर्वत, जंगल आदि के अनुरंजनकारी स्वरूप का सुन्दर चित्रण हुआ है किन्तु फारसी की शायरी में जंगल और बियाबान का वर्णन केवल कष्ट या विपत्ति के प्रसंग में आता है । वहाँ जिस प्रकार चमन आनंदोत्सव का प्रतीक है उसी प्रकार जंगल या बियाबान विपत्ति का । हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने 'वन' को कष्ट और विपत्ति के प्रतीक- रूप में लिया है, यथा-

"परे आइ वन परवत माहाँ, दंडाकरन बीझ-वन जहाँ ।
सघन ढाँख-बन चहुँ दिसि फूला, बहु दुख पाव उहाँ कर भूला ।
झाँकर जहाँ सो छाड़हु पंथा, हिलगि मकोई न फारहु कंथा ।।"[५]

'पदमावत' में मानसरोवर या मानसरोदर का जो वर्णन आया है वह भी प्रतीकात्मक है । वैसे तो किसी भी अच्छे जलाशय को मानसरोवर की संज्ञा दे दी जाती है किन्तु भौगोलिक दृष्टि से इस नाम के सरोवर की स्थिति हिमालय पर्वत के समीप है । चूंकि सिंहलगढ़ को कवि ने कैलाश कहा है अतः उसके जलाशय को मानसरोवर कहना उचित ही है । साधनाक्षेत्र में त्रिकूट के ऊपर के विस्तृत प्रदेश को मानसरोवर कहते हैं । इसी में सहस्रदल कमल खिलता है । जायसी के द्वारा वर्णित मानसरोदक इसी का प्रतीक है । यह मान सरोदक इतना गम्भीर है कि समुद्र भी इसकी समता नहीं कर सकता; वहाँ पहुँचकर साधक (जीव) सदा के

१- 'जायसी–ग्रन्थावली' नख-शिख-खण्ड–पृ० ४७, कवित्त सं० १७
२- वही.
३- 'मिरगावती' पृ० १६६, कवित्त सं० ९६
४- 'जायसी-ग्रन्थावली'-नागमती-वियोग-खंड पृ० १५, कवित्त सं० १.
५-'जायसी ग्रंथावली'-जोगी खण्ड पृ० ५७ कवित्त सं० १

लिये तन्मय हो जाता है। उसका जल मोती के सदृश निर्मल रूप होता है। उसमें कपूर की-सी सुरभि रहती है।[1]

उस मानसरोवर के ऊपर सहस्त्र पंखुड़ियों वाला कमल खिला हुआ है। उस मानसरोवर में मोती भरे हुए हैं। मोती सहस्त्र दलों की निर्मल ज्योति के प्रतीक हैं। उन मोतियों को कोई हंस रूपी मुक्तात्मा ही चुनने में समर्थ होता है और वही उस सरोवर में क्रीड़ा करता है—

"फूला कँवल रहा होइ राता,
सहस-सहस पंखुरिन कर छाता।"[2]

अधरों के लिये इन कवियों ने भारतीय उपमानों बिम्बाफल मूँगा (विद्रुम) और लाल दुपहरिया के फूल को प्रतीक रूप में ग्रहण किया हैं, जैसे—

'फूल दुपहरी जानी राता, फूल झरहिं ज्यों-ज्यों कह बाता।
हीरा लेइ सो विद्रुम-धारा, बिहँसत जगत होइ उजियारा।"[3]

फूल दुपहरी और विद्रम-धारा (मूँगा) पद्मावती के अरुण अधरों के प्रतीक हैं और हीरा उसकी दँत पक्तियों का प्रतीक है। दाँतों की श्वेत और अधरों की अरुण ज्योति के प्रसार से जगत में उजाला होना कह कर कवि ने उषा या अरुणोदय का बड़ा सुन्दर गूढ़ संकेत रखा है।

६·२ देशस्थ व्यक्ति नाम सम्बन्धी प्रतीक

नाम तो स्वयं प्रतीक है। यह वस्तु विशेष के साथ जन्म नहीं लेता बल्कि यह किसी को बुलाने का, किसी वस्तु को सम्बोधित करने का एक माध्यम है; इसी कारण तो शेक्सपियर ने एक स्थल पर लिखा है—

'What is there is a name.'

तुलसी ने भी कहा है कि नाम और रूप ये दोनों ईश्वर की उपाधि मात्र हैं। 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी'। केवल नाम ही क्या? वस्तुतः शब्द मात्र ही प्रतीक है। व्हाइट हेड ने लिखा है—"शब्द एक प्रतीक है और इसका अर्थ विचार, प्रतिमा और भाव में जो श्रोताओं में उद्भूत होता है, निहित रहता है।"[4]

१- 'मानसरोदक बरनौं काहा, भरा समुद्र अस अति अवगाहा।
पानि मोति अस निरमल तासू, अमृत पानि कपूर सुबासू॥
—'जायसी-ग्रन्थावली' सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड पृ० १२, कवित्त सं० ७

२- वही।

३. 'जायसी-ग्रन्थावली' नख-शिख-खण्ड पृ० ४३, कवित्त सं० ८

४. 'Symbolism its meaning and Effect.' P. 2

नाम के प्रतीकात्मक होने के कारण ही अधिकांशतः लोगों के नाम और कर्म में कोई समानता नहीं रहती। श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपने 'भक्तिन' शीर्षक रेखा-चित्र में नाम और कर्मगत इस विभेदता का सुन्दर चित्रण किया है-'भक्तिन किसी अन्जना की पुत्री न होकर एक अनाम धन्या गोपालिका की कन्या है—नाम है लछमिन अर्थात् लक्ष्मी। पर जैसे मेरे नाम की विशालता मेरे लिये दुर्वह है वैसे ही लक्ष्मी की समृद्धि भक्तिन के कपाल की कुंचित रेखाओं में नहीं बन्ध सकी।"[१]

वैसे तो नाम स्वयं ही प्रतीक है। (जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है) किन्तु कभी-कभी किन्हीं-किन्हीं नामों का इस रूप में प्रयोग होता है कि वे दूसरे व्यक्ति या वस्तु के प्रतीक बन जाते हैं; यथा एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"दुनियाँ के नीरो सावधान,
दुनियाँ के पापी जार सजग।
जाने किस दिन फुंकार उठें,
पददलित काल सर्पों के फन॥"[२]

'नीरो' और 'जार' नामक व्यक्तियों के नाम इतिहास के वे दाग हैं जो मानवता का नाम सदैव कलंकित करते रहेंगे। अपनी पशुता और नृशंसता का जो उदाहरण उन्होंने छोड़ा है उसके कारण आने वाली संततियाँ उनसे सदैव घृणा करेंगी। उपर्युक्त पंक्तियों में इन दो व्यक्तियों के नामों को कवि ने समाज के शोषकों का प्रतीक माना है। इन दोनों प्रतीकों का उदाहरण सामने रखकर कवि ने वर्तमान समाज के शासकों को चुनौती दी है कि एक दिन पददलित जनता अवश्य इनका अन्त कर देगी। हिन्दी के सूफ़ी कवियों के प्रेमाख्यानों में ऐसे नाम विशेष रूप से आये हैं जो कि प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इनके नायक एक ओर तो राजदूती सामान्त के प्रतीक हैं और दूसरी ओर साधक जीव के, मन के और सूर्य के प्रतीक हैं। नाथपंथ में जीव पर विचार किया गया है। मत्स्येन्द्रनाथ ने एक स्थल पर लिखा है, "जीव से ही जगत् रचा गया है। जीव ही तत्त्व नायक है; जीव ही आत्मा है; वही हंस है; वही परमात्मा तथा व्यापक शिव है; उसी को मन कहते हैं। वह सर्वत्र परिव्याप्त है।"[३]

इसी प्रकार गोरखनाथ ने भी 'सिद्ध-सिद्धान्त' पद्धति में जीव की व्याख्या करते हुए कहा है "वह सूर्य रूप है; वही शिव रूप है; वही परम शिव है; वही

---

१. स्मृति की रेखाएँ पृ० ४.

२- हुंकार, विपथगा-श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

३- 'कौल ज्ञान-निर्णय' पृ० ६७

योगगम्य है, वही एक मात्र विचारणीय तत्त्व है।"[1]

हिन्दी के सूफ़ी-कवि नाथपन्थ की इस जीव-धारणा से अत्यन्त प्रभावित थे; यथा-जायसी ने 'पदमावत में प्रत्यक्षतः कहीं पर भी जीव का तार्किक विवेचन नहीं किया है। उन्होंने उसमें उसका निरूपण रत्नसेन के प्रतीक से किया है। रत्नसेन 'साधक जीव' का प्रतीक है। 'पदमावत' के अनेक स्थलों से उसकी जीवरूपता स्पष्ट व्यंजित होती है।

रत्नसेन को कवि ने सूर्य रूप भी कहा है। 'रत्नसेन' और 'पद्मावती' को उसने सूर्य और चन्द्र की जोड़ी कहा है। इस जोड़ी की नाथपंथी योग-साधना में बड़ी प्रतिष्ठा है। हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने नायक को सूर्य और नायिका को चन्द्र कहकर नाथपंथी योग-साधना को पोषित किया है।

इसके अतिरिक्त रत्नसेन मन का भी प्रतीक है। जायसी का नाथपथियों या हठयोगियों से यहीं मतभेद दिखायी पड़ता है। जायसी ने हठयोग की सूर्य-चन्द्र साधना की हठता दूर कर उसे राजयोग के रूप में ढालने की चेष्टा की थी। उनके 'पदमावत' के अनेक स्थलों से हठयोग के प्रति अनास्था और राजयोग के प्रति सम्मान का भाव व्यंजित होता है। चूंकि राजयोग का सम्बन्ध मन के केन्द्रीकरण से है इसीलिये कवि ने रत्नसेन को साधक मन का प्रतीक माना है।

इन कवियों की नायिकाएँ अधिकांशतया पद्मिनी हैं जो सौन्दर्य की प्रतीक हैं। पद्मिनी शब्द मूलतः कामशास्त्र के नायिका-प्रकरण से सम्बद्ध है; सभी नयिकाओं में पद्मिनी नायिका को श्रेष्ठतम माना गया है। कामशास्त्र से यह शब्द लोक-क्षेत्र में आया और अति सुन्दरी का पर्यायवाची बन गया। साहित्य में पद्मिनी नायिका सुन्दरता का प्रतीक बनकर आयी। जायसी की पद्मावती इस पद्मिनी नारी के सौन्दर्य की अधिष्ठात्री होने के साथ-साथ बुद्धि का भी प्रतीक है। भारतीय दर्शन में बुद्धि को मन की अपेक्षा ऊँचा और श्रेष्ठ माना गया है। इसी कारण मन रूपी राजा अपनी चित्तवृत्ति को दुनिया की धंधा रूपी नागमती से हटाकर समत्व-बुद्धि रूपी पद्मावती में केन्द्रित करता है।

इसके अतिरिक्त पद्मावती ब्रह्मरंध्रस्थ शुद्ध मुक्त प्रत्याकात्मा का भी प्रतीक है। यह ब्रह्मरन्ध्र सहस्त्रार में है। इसी को चन्द्रतत्त्व भी कहा गया है। इससे अमृत क्षरता रहता है। कवि ने पद्मावती तो चन्द्रतत्त्व का प्रतीक भी व्यंजित किया है। 'पद्मावत में सैकड़ों स्थलों पर पद्मावती को शशिरूपणी कहा गया है; उदाहरणार्थ 'राजा-गढ़-छेका-खण्ड' में कवि कहता है, "अब यदि सूर रूपी रत्नसेन सहस्त्रार रूपी गगन में आरोहण करेगा, तभी चन्द्ररूपणी पद्मावती को वह प्राप्त करने में समर्थ

१—'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति'-६-३७

होगा।"[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि जायसी ने पद्मावती को सौन्दर्य का, ब्रह्मरन्ध्र-स्थ शुद्ध मुक्त प्रत्यकात्मा का और चन्द्रतत्त्व का प्रतीक माना हैं।

गजपति कलिंग के राजाओं की प्राचीन उपाधि है जो उनकी वीर भावना का प्रतीक है। इस उपाधि से अब तक विजयानगरम् (ईजानगर) के राजाओं को विभूषित किया जाता है। साधना-क्षेत्र में यह (गजपति) अज्ञानी पुरुष का प्रतीक है जो साधक मन को डरवाता है और उसके साधना-मार्ग में बाधक बनकर उपस्थित होता है। पदमावत' के 'राजा-गजपति-सम्वाद-खण्ड' में चित्रित गजपति अज्ञानी पुरुष का ही प्रतीक है। प्रायः बहु नायिकावादी इन हिन्दी के सूफ़ी-प्रेमाख्यानों की नायिकाएँ विशेष रूप से सपत्नियाँ माया की प्रतीक है जो साधक (नायक) की सिद्धि प्राप्ति में बाधा उपस्थित करती हैं।

जायसी ने दिल्ली सुल्तान अलाउद्दीन को भी माया मोह का प्रतीक माना है। 'माया अलाउद्दीन सुलतानू'। वास्तव में माया को यहाँ पर उन्होंने अज्ञान के अर्थ में ही प्रयुक्त किया हैं। अज्ञान की अनेक विशेषताएँ कवि ने अलाउद्दीन के चरित्र के माध्यम से व्यंजित की हैं। वस्तुतः कवि ने यथाशक्ति माया की प्रमुख विशेषताएँ अलाउद्दीन में घटित करने की चेष्टा की है।[२]

'पदमावत' का देवपाल दुष्टता का प्रतीक है जो अनुदात्त मत रूपी राजा का हनन कर डालता है जिसके फलस्वरूप पद्मावती रूपी समत्वबुद्धि और नागमती रूपी सांसारिक बुद्धि दोनों उसी मन के साथ सती हो जाती हैं।[२]

राघव चेतन तांत्रिक सम्प्रदाय का प्रतीक है। यह इस सम्प्रदाय का उसी प्रकार प्रतिनिधित्व करता है जिस प्रकार शेक्सपियर के 'वेनिस नगर का व्यापारी' का शाइलाक। तांत्रिक सम्प्रदाय के पुजारी भूत-प्रेत और यक्षिणी की पूजा करते थे तथा वेदपंथ के विपरीत मार्ग पर चलते थे। यक्षिणी के बल से वे अच्छा बुरा जो चाहते थे, कर लेते थे। राघव चेतन इन्हीं तान्त्रिकों का प्रतीक है, वह अमावस्या के दिन सिद्धि यक्षिणी के बल से द्वितीया का चन्द्र दिखा देता है -

'राघव पूजि जाखिनी, दुइज देखाएसि साँझ।"[३]

इसके अतिरिक्त राघव चेतन शैतान का भी प्रतीक है, यह भौतिकवाद के प्रतीक अलाउद्दीन को समत्वबुद्धि रूपी पद्मावती की प्राप्ति-हेतु उकसाता है।

१- लेखक डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत-'जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन' पृ० १०६–१११.

२- विशेष विवरण के लिये देखिये–'रहस्यात्मक संकेतसूचक प्रतीक-योजना' शीर्षक अध्याय में माया सम्बन्धी प्रतिपादित विचार।

३- 'जायसी–ग्रन्थावली' राघव-चेतन-देश–निकाला-खण्ड पृ० १६६, कवित्त सं० २

राघव चेतन की गुरू चमारिन लोना थी-'एहिकर गुरू चमारिन लोना'। यह लोना चमारिन मुद्रा की प्रतीक है जिसके माध्यम से राघव चेतन ने उसी प्रकार दीक्षा प्राप्त की थी जैसे चण्डीदास ने मुद्रा के प्रतीक 'रामी' नाम की रजकी (धोबिन) से प्राप्त की थी।

हीरामन यद्यपि तोते का नाम है किन्तु साथ ही यह गुरु का भी प्रतीक है। कतिपय विद्वानों का विचार है कि हीरामन का मूल रूप 'हीरामणि' रहा होगा, किन्तु भारतीय साहित्य में 'हीरामणि' को परम ज्ञानामृत का पान कराने वाला तत्त्व माना गया है। हीरामन का मूल सम्भवतः 'हिरण्मय' है। हमारे यहाँ कहा भी गया है—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं।
सत्यधर्माय दृष्टये, तत्त्वं पूपन्नपावृणु ॥'[1] ईशा० १५॥

-अमृत तत्त्व इसी हिरण्मय पात्र के ही माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। 'पदमावत' में भी हीरामन पारस, अमृत या तत्त्व-रूपी पद्मावती को प्राप्त कराने का कार्य कराता है। उसका और अमृत रूपी परमात्म ज्योति पद्मावती का सान्निध्य है।

वज्रयान-सम्प्रदाय के अनुसार विचार करने पर हम पाते हैं कि हीरामन वज्रमणि (वज्रयानी सिद्धि) का प्रतीक है। वज्रमणि वज्रयानी सिद्धों का एक नाम है। 'चितं हि संसारं उवाच वज्री' अर्थात् वज्र की तरह मन को बना लेना ही वज्री है। मन पारे की तरह चंचल होता है। उसे पारे की चंचलता से हटाकर वज्र की भाँति स्थिर और दृढ़ बना लेना ही वज्रयानी सिद्धों का उद्देश्य था। हीरामन इसी वज्रमणि का ही प्रचलित रूपान्तर है। वज्र हीरा को कहते हैं और मणि मन को; इस प्रकार हीरामन वज्रमणि का रूपान्तरित रूप है—

वज्र	मणि	वज्रमणि
हीरा	मन	हीरामन

यौगिक रूपक तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक गुरु के किसी प्रतीक की कल्पना नहीं की जाती। अस्तु, हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने गुरू रूप में इसी हीरामन तोते की कल्पना की है।

'गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा।'[2]

कवि जायसी ने 'बनजारा खंड' में तोते के लिये लिखा है—'गुरु होई आप, कीन्ह जग चेला'।[3] यह तोता रूपी गुरु व्यास के सदृश कवि और क्रान्तिदर्शी है।

१- डा० शिवसहाय पाठक-'मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य' पृ० १६०-६१
२- 'जायसी-ग्रन्थावली' उपसंहार-खण्ड, पृ० ३०१.
३- वही, पृ० ३३ कवित्त सं० ६

पांडित्य में सहदेव पंडित के सदृश है। उसका वर्ण कंचन सदृश है। यह कंचन वर्ण उसके सच्चे साधक और तपस्वी होने का प्रतीक है।

'पदमावत' में कर्ण, इन्द्र, गोपीचन्द्र, जलन्धर कृष्ण और अक्रूर आदि व्यक्तिगत नामों का भी प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है, जो इस प्रकार है–

"करन पास लीन्हेउ कै छन्दू, विप्र रूप धरि झिलमिल इंदू ॥
मानत भोग गोपीचंद भोगी, लेइ अपसवा जलंधर जोगी ॥
लेइगा कृस्नहि गरुड़[1] (अक्रूर) अलोपी, कठिन विछोह जियहि किम गोपी ॥"[2]

कर्ण कुन्ती का जारज पुत्र था जिसे दुर्योधन ने कुछ देशों का राजा बना दिया था। इन्द्र देवताओं के राजा की संज्ञा है जिन्होंने कर्ण को छलकर उसके कवच-कुंडल ले लिये थे। उपर्युक्त पंक्तियों में कर्ण राजा रत्नसेन का प्रतीक है और इन्द्र हीरामन तोता का, जो रत्नसेन को सिंहलगढ़ ले जाता है।

गोपीचन्द बंगाल का राजा था और जलन्धर नाथपंथी योगी था। लोककथा के अनुसार राजा गोपीचन्द योगी जलन्धर के शिष्य बन गये थे और जोगी होकर कजरीवन चले गये थे। 'पदमावत' में चित्तौड़ में राज्य करते हुए राजा रत्नसेन को हीरामन तोता सिंहलगढ़ (जो सिद्धि स्थान का प्रतीक है) ले जाता है, अतः यहाँ राजा गोपीचन्द को राजा रत्नसेन का प्रतीक माना गया है और योगी जलन्धर को हीरामन तोते का।

इसी प्रकार कृष्ण को, जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से यदुवंशी राजा थे, राजा रत्नसेन का प्रतीक बनाकर प्रयुक्त किया गया है और अक्रूर, जो कि 'कंस के दूत' रूप में आकर कृष्ण को मथुरा ले गया था, तोते का प्रतीक बनकर आया है।

अर्जुन की कथा महाभारत में पायी जाती है। यह पाण्डवों के दूसरे भाई थे। इनके सम्बन्ध में महाभारत में सैकड़ों कथाएँ हैं। हिन्दी के सूफी-कवियों ने उनके जीवन के जिस प्रसंग को प्रतीक-रूप में अपनाया है वह है–रोहू मछली का भेदनकर द्रोपदी को स्वयम्बर में जीतने की कथा; इस सम्बन्ध में महाभारत में लिखा है कि जिस समय पाँचों पाण्डव अज्ञातवास कर रहे थे उसी समय राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री

१– वस्तुतः कृष्ण को मथुरा ले जाने वाला अक्रूर था, गरुड़ नहीं। हो सकता है अक्रूर का गरुड़ पढ़ लिया गया हो, क्योंकि फारसी-लिपि में गरुड़ और अक्रूर लिखने में बहुत थोड़ा-सा भेद है। किन्तु वैसे आ० शुक्ल के द्वारा दिया गया गरुड़ पाठ भी ठीक है क्योंकि कृष्ण विष्णु के अवतार हैं और विष्णु का वाहन है गरुड़। इस रूप में इसका अर्थ यह होगा कि रथ के घोड़े गरुड़ की-सी तीव्र गति से कृष्ण को मथुरा ले गये।

२– 'जायसी-ग्रन्थावली'–नागमती-वियोग-खण्ड, पृ० १५१, कवित्त सं० १.

द्रौपदी का स्वयम्वर रचा। इस स्वयम्वर में ऊपर चक्र की तरह घूमती हुई रोहू मछली का भेदन तैल के कढ़ाव में उसके प्रतिबिम्ब को देखकर करना था। इस कार्य में कोई राजा सफलता प्राप्त न कर सका। अर्जुन ने उसका भेदन किया और द्रौपदी को लेकर माता के पास चले आये। इन कवियों ने अर्जुन को लक्ष्यभेद करने वाले व्यक्ति का प्रतीक माना है; यथा–

'अर्जुन धनुर्धारी कहाँ, राहु सो वेधैं आइ।
मीटै पन अति गाढ़ा, द्रौपदी व्याही जाइ।।'[1]

'पद्मावत' में एक स्थल पर मंसूर हल्लाज का उल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है कि–

'जस मारै कहँ बाजा तूरू, सूरी देखि हँसा मंसूरू।'[2]

यहाँ मंसूर शब्द रत्नसेन का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है। मंसूर हल्लाज एक बहुत बड़े सूफी सन्त थे। इनका 'अनअलहक' अर्थात् 'मैं ही परमात्मा हूँ' का सिद्धान्त बहुत ही प्रसिद्ध है। यह सिद्धान्त वेदान्त के 'अहम् ब्रह्मास्मि' का ही रूपान्तर है। मंसूर को अपने अद्वैतमूलक प्रेम के लिये ही सूली पर चढ़ना पड़ा था। जायसी ने 'रत्नसेन-सूली-खण्ड' की रचना मानो उसी से प्रेरणा प्राप्त करके की है। रत्नसेन रूपी जीवात्मा परमात्मा रूपी नायिका में लय होकर अद्वैत होना चाहता है और इसके लिये वह सूली पर चढ़ने तक को तैयार है। निम्नांकित पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानो रत्नसेन के रूप में मंसूर हल्लाज ही बोल रहा है, "जिसका जीव मरने को तैयार रहता है, वह सूली देखकर क्यों नहीं हँसे। आज प्रेम से ही हमारा उद्धार हो जायेगा। आज पृथ्वी त्यागकर आकाश में निवास करूँगा। आज काया रूपी पिंजरे से जीव मुक्त हो जायेगा। आज प्रेम का निपटारा हो जायेगा। आज प्रेम रूपी आराध्य तथा उसका प्यारा प्रेममार्गी भक्त दोनों मिलकर एक हो जायेंगे।"[3]

'इन्द्रावती' में कवि नूरमुहम्मद ने पात्रों के जो नाम रक्खे हैं वे प्रतीकात्मक हैं। राजकुँवर 'साधक' का प्रतीक है और 'गुरुनाथ तपस्वी' मार्ग-प्रदर्शक गुरु का

१– 'इन्द्रावती'—फाग-खण्ड, पृ० ३९, कवित्त सं० १८.

२– 'जायसी-ग्रन्थावली'—रत्नसेन-सूली-खण्ड, पृ० १११, कवित्त सं० १.

३– "जाकर जीव मरै पर बसा, सूरी देखि सो कस नहिं हँसा ?
आजु नेह सौं होइ निबेरा, आजु पुहुमि तजि गगन बसेरा।
आजु कया-पींजर-बँदि टूटा, आजुहि प्रान-परेवा छूटा।
आजु नेह सौं होइ निनारा, आजु प्रेम-सँग चला पियारा।।"
—'जायसी-ग्रन्थावली'-(रत्नसेन-सूली-खण्ड) पृ० १११, कवित्त सं० २.

एवं आठ सखा शरीर के साथ रहने वाले इन्द्रिय विकारों के प्रतीक हैं। राजकुँवर की रानी सुन्दर सांसारिक मोह के आकर्षक स्वरूप का प्रतीक है जिसकी उपेक्षा करके साधक सौन्दर्य, शक्ति एवं शील की प्रतीक परमेश्वर रूपी इन्द्रावती की प्राप्ति का प्रयास करता है।

इसी प्रकार 'चित्रावली' में गुरु-पुत्र 'सुबुद्धि' का नाम भी प्रतीकात्मक है। यह विवेक का परिचायक है। सुजान के चित्रावली की खोज के लिये प्रस्थान करने पर 'सुबुद्धि' राजा धरनीधर को दान-धर्म करने की सम्मति देता है जिससे सुजान का साधना-मार्ग सरल हो जाय।

'अनुराग-बाँसुरी' के सभी पात्रों का नाम प्रतीकात्मक है। जीव–'जीवात्मा' का प्रतीक है और अन्तःकरण 'हृदय' का; अन्तःकरण के संकल्प एवं विकल्प नाम के दोनों मित्र हृदय की दो प्रधान प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त अन्तःकरण के साथी मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि अन्तःवृत्तियों के प्रतीक हैं। महामोहिनी अविद्या माया की प्रतीक है। दर्शनराय महाप्रभु (अल्लाह) या परमेश्वर का स्वरूप हैं और उसकी पुत्री सर्वमंगला प्रेमी सूफियों की 'रागिनी' है। सनेह-गुरू 'पथ-प्रदर्शक गुरू' का प्रतीक है। कामुकी, मनभाविनी, रूपसनेही, रंगसनेही एवं बाससनेही आदि विघ्न-बाधाओं की प्रतीक हैं। इस प्रकार 'इन्द्रावती' में जहाँ केवल कुछ पात्रों के नाम प्रतीकात्मक हैं वहाँ 'अनुराग बाँसुरी' के सभी पात्र प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं।

६.३ देशस्थ स्थान सम्बन्धी

अधिकांशतः प्रत्येक देश में कतिपय ऐसे स्थान होते हैं जिनकी अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ होती हैं और कुछ समय पश्चात् वे स्थान उन्हीं विशिष्ट विशेषताओं के प्रतीक बन जाते हैं; उदाहरणार्थ भारत देश की ब्रजभूमि नामक स्थली कृष्ण-प्रेम का प्रतीक बन गयी है क्योंकि भगवान कृष्ण ने यहाँ जन्म लेकर असंख्य बाललीलाएँ एवं प्रेमलीलाएँ की थीं और गोपियों के साथ रास रचाया था।

हिन्दी के सूफी-कवियों के काव्य में अनेक ऐसे स्थानों का प्रयोग हुआ है जो किसी दूसरे अर्थ की ओर भी संकेत करते हैं; यथा–अधिकांश सूफी प्रेमाख्यानों में सिंहलद्वीप का वर्णन प्राप्त होता है जो सुन्दरियों के निवास-स्थान के रूप में प्रसिद्ध है। साधक रूपी नायक को वहाँ जाकर ही सिद्धि लाभ होगी, ऐसा वर्णन भी इनमें आता है। वास्तव में यह सिंहलद्वीप साधना-भूमि का प्रतीक है। "सिंहल में पद्मिनियों की कल्पना गोरखपंथी योगियों की देन है।"[1] नाथपंथ की परम्परा वास्तव में महा-

---

१– महापंडित–राहुल सांकृत्यायन–'पुरातत्त्व-निबन्धावली' पृ० १२९.

यान-शाखा के बौद्धों की थी जिसे गोरखनाथ ने शैव रूप दिया। बौद्ध-धर्म जब भारतवर्ष से समाप्तप्राय हो गया तब उसके शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार भी समाप्त हो गया। सिंहलद्वीप में अवश्य बौद्ध-शास्त्रों के अच्छे-अच्छे पंडित रह गये; इसी से भारतवर्ष के अवशिष्ट योगमार्गी बौद्ध सिंहलद्वीप को एक सिद्धपीठ समझने लगे। बौद्धों की इस धारणा का प्रभाव गोरखनाथ के अनुयायियों पर भी पड़ा और वे भी सिंहलद्वीप को एक सिद्धपीठ मानने लगे। उनका कहना था कि योगियों को पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति सिंहलद्वीप जाने पर ही होती है जहाँ साक्षात् शिव परीक्षा लेकर सिद्धि प्रदान करते हैं। वहाँ साधक योगी के शम-दम की पूरी परीक्षा होती है। वहाँ सुवर्ण और रत्नों की अतुल राशि सामने आती है तथा पद्मिनी स्त्रियाँ अनेक प्रकार से अपनी ओर आकर्षित करके साधक को पथभ्रष्ट करने का प्रयास करती हैं; जो साधक इनके आकर्षण से बच जाता है उसे ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। स्पष्ट है कि 'सिंहलद्वीप' 'साधना-भूमि' का प्रतीक है और वहाँ पर पद्मिनी स्त्रियों का पाया जाना गोरखपंथी साधुओं की कल्पना है। 'पदमावत' के रत्नसेन की भाँति कबीर भी राम की खोज में 'सिंहलद्वीप' की यात्रा कर चुके थे-

"कबिरा खोजी राम का गया जु सिंहलदीप।
राम तो घट भीतर रह्या जो आवे परतीति॥"[1]

'लंकाद्वीप' 'योग-साधना' का प्रतीक है। जायसी ने एक स्थल पर इस योग-साधना की ओर संकेत करते हुए लिखा है-

"लंक दीप कै सिला ओनाई, बाँधा सरवर घाट बनाई।"[2]

वहाँ (मानसरोवर में) 'लंकदीप' अर्थात् नाभि कँवल में स्थित चन्द्रमा को लाकर साधक विपरीतकरणी मुद्रा की साधना करता है।

शेख नबी कृत 'ज्ञानदीप' प्रेमाख्यान में 'हिंगलाज' पर्वत का उल्लेख हुआ है-

"हिंगुलाज जीत साधेसि जोगु, चित्रकूट तजि बैठउ भोगु।
दसौं दुआर न खोलइ, कियउँ जो ताली बन्द।
अमी अधर नाम विधि, जग धंधा सब धंध॥"[3]

यह 'हिंगलाज' पर्वत करांची से तेरहवीं मंजिल पर तान्त्रिक प्रयोग का प्रसिद्ध स्थान है। इस पर्वत पर एक देवी का मन्दिर भी है; ज्ञानदीप के गुरु सिद्धनाथ ने

१- 'कबीर-ग्रन्थावली'-कस्तूरियाँ-मृग-को अंग, पृ० ८१, दोहा सं० ४.
१- 'जायसी-ग्रन्थावली'-सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड, पृ० १२, कवित्त सं० ७.
३- 'ज्ञानदीप' उद्धृत -'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० १०७.

यहीं सिद्धि प्राप्त की थी। इस प्रकार 'सिंहलदीप' की भाँति यह भी सिद्धि-स्थान का प्रतीक है।

इसी प्रकार कासिमशाह ने भी अपने काव्य 'हंस-जवाहिर' में आसाम प्रदेश में स्थित 'कामख्या देवी' के पूजन का उल्लेख किया है–

"देखा तहँ मन्डप उजियारा, कंचन लीप राख रतनारा।
तहाँ मूर्ति कामाख्या केरी, पूजे राय राव और चेरी॥"[1]

नीलाचल पर स्थित कामाख्या देवी का यह मन्दिर तांत्रिक पीठ के रूप में भी प्रसिद्ध है। 'सिंहलदीप' और 'हिंगलाज पर्वत' की भाँति यह भी सिद्धिस्थान का प्रतीक है।

नायिका के निवास-स्थान का वर्णन करते समय इन कवियों ने 'कैलाश' शब्द का प्रयोग किया है। 'कैलाश' उस स्थान का नाम है जहाँ पर शिव जी निवास करते हैं किन्तु प्रेमाख्यानों में चूंकि नायिका सिद्धि का प्रतीक है अतः कैलाश उस चरम भूमि का प्रतीक है जहाँ तक पहुँचना साधक का लक्ष्य है। हठयोग-साधना में बताया गया है कि सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर सहस्त्रार तक पहुँचाना साधक का लक्ष्य है। यही सहस्त्रार इस पिण्ड का कैलाश है; यहीं पर शिव का निवास है। सम्भव है कि हठयोग-साधना की इस विचारधारा से प्रभावित होकर ही इन सूफी-कवियों ने परब्रह्म की प्रतीक नायिका के निवास-स्थान के लिये 'कैलाश' शब्द का प्रयोग किया हो; उदाहरणार्थ कतिपय प्रयोग द्रष्टव्य हैं–

'बाजन बाजे कोटि पचासा, भा अनन्द सगरौं कैलासा।'[2]
'सो चित्रावलि पठवां तौकाँ, नैनन्ह देइ चलहु सिवलौकाँ।'[3]
'करत जो कौतुक खेल सब, नखत सखी चहुँ पास।
लये सो भामिनी दुलह का, गईं माँझ कैलास॥
बरनूँ का कैलास अनूपा, अचरज रैन माँझ जनु घूपा॥"[4]

'काशी' 'शिवपुरी' का प्रतीक मानी जाती है; कहा जाता है कि वह शिव जी के त्रिशूल पर बसी हुई है। प्रलयकाल में भी उसका नाश नहीं होता और जो लोग वहाँ शरीर त्यागते हैं वे शिवलोक को प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार त्रिवेणी-संगम के विषय में भी प्रसिद्ध है कि यहाँ मरने से मोक्ष

१– 'हंस-जवाहिर' पृ० १४६.
२– 'जायसी-ग्रन्थावली' 'रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खण्ड, पृ० १२१, कवित्त सं० १.
३– 'चित्रावली' –कुटीचर-खण्ड, पृ० १११, कवित्त सं० २९२.
४– 'हंस-जवाहिर', पृ० ८९.

की प्राप्ति होती है। मोक्ष एवं शिवलोक की प्राप्ति हेतु कुछ लोग काशी एवं त्रिवेणी संगम पर अपना शरीर आरे से चिरवा डालते थे; इसी को करवट लेना भी कहते थे। वहाँ एक आरा इसके लिये रखा रहता था। मोक्ष के प्रतीक त्रिवेणी संगम एवं काशी के इस महत्त्व का निरूपण करते हुए कवि उसमान ने कहा है–

"कै बेनी सिर करवट सारा, कै कासी तन तप महँ जारा।"[1]

\+ \+

"आइ प्रयाग कीन्ह तिरबेनी, करवट देखी सरग निसेनी।
कासी माहि बिसेसर पूजा, जाहि देव सर आहि न दूजा॥"[2]

काशी के इस महत्त्व के कारण ही चित्ररेखा का नायक प्रीतम कुँवर प्राण त्याग हेतु काशी जाता है–

"प्रीतम कुँवर वरे कइ वाजा,
कासी आइ मरन कर साजा।"[3]

कवि जायसी ने पद्मावती की माँग का वर्णन करते हुए इस बात की कल्पना की है कि अनेक तपस्वियों ने इस आकांक्षा से करवट (आरे से अपने शरीर को चिरवा डाला) ले लिया कि वह उसके रक्त रूपी सिन्दूर से अपनी माँग भर ले–

"करवत तपा लेहिं होइ चूरू, मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदूरू।"[4]

'चित्रावली' में साधक के मार्ग में आने वाले नगरों का जो वर्णन हुआ है वह भी प्रतीकात्मक है। पहला नगर 'भोगपुर' है जहाँ विलास की सभी सामग्री उपस्थित है। यह नगर शारीरिक इन्द्रियजनित सुख ऐश्वर्यों का प्रतीक है। दूसरा नगर 'गोरखपुर' है जो बाह्याडम्बर का प्रतीक है। 'रूपनगर' उस परम सौन्दर्य का प्रतीक है जिसके दर्शन पाकर साधक आत्मविभोर होकर अपनी पृथक सत्ता खो बैठता है। कवि नूरमुहम्मद की 'अनुराग-बाँसुरी' का 'मूरतिपुर' नामक नगर काया का प्रतीक है जिसका स्वामी जीव है।

कवि मंझन ने 'कजरी वन' को 'विलास' का प्रतीक माना है। राक्षस प्रेमा का हरण करके उसे इसी वन में लाकर रखता है। राजकुँवर मधुमालती के विरह में भटकते-भटकते कदली वन पहुँचता है और वहाँ राक्षस के द्वारा नियोजित ऐश्वर्य-विलास का अवलोकन करता है–

१– चित्रावली'–चित्रदर्शन-खण्ड, पृ० ३३, कवित्त सं० ८४.
२– वही, जोगी-ढूढ़न-खण्ड, पृ० १६०, कवित्त सं० ४२१.
३– 'चित्ररेखा', पृ० १०८.
४– 'जायसी-ग्रन्थावली', नख-शिख-खण्ड, पृ० ४१, कवित्त सं० २.

"पुनि कदली वन के पैसारा, परी साँझ जो भौ अंध्यारा।
देखा सेज नीलरँग राती, तापर राजकुँवर मदमाती।
छिरक सेज सुगंध सुबासू, लुबुधे भौंर न छोड़े पासू॥"[1]

६.४ देशस्थ विशिष्ट उपकरण सम्बन्धी-प्रतीक

इन देशस्थ प्रकृति नाम, एवं स्थान सम्बन्धी प्रतीकों के अतिरिक्त कतिपय अन्य देशस्थ प्रतीक भी इनके काव्य में प्रयुक्त हुए हैं जो इस प्रकार हैं—भारतीय सामाजिक जीवन में देवी-देवता विभिन्न शक्तियों के प्रतीक माने गये हैं। मनुष्य अभीष्ट-प्राप्ति में तनिक भी शंका होने पर देवाश्रय ग्रहण करता है। प्रायः सभी प्रेमाख्यानों की नायिकाएँ अपने प्रियतम की प्राप्ति हेतु देवालय पूजा करने जाती हैं और अनेक प्रकार की मनौतियाँ मानती हैं। अन्य देवताओं की अपेक्षा इन सूफ़ी-कवियों ने भारत में पूजित शंकर, उमा, सीता एवं विष्णु की उपासना को ही अपनाया है। इनमें भी शंकर-पार्वती की पूजा ही इन्हें विशेष प्रिय है। केवल 'कुँवरावत' में सती सीता की और 'पुहुपावती' में चतुर्भुज (विष्णु) की पूजा का उल्लेख हुआ है।

भारतीय जीवन में शकुन एवं अपशकुन सफलता एवं असफलता के प्रतीक माने गये हैं। इन कवियों ने इन शकुनों का भी उल्लेख किया है। किसी स्थान को प्रस्थान करते समय खरगोश का बाँयी ओर से दाहिनी ओर जाना, ग्वालिन का दही बेचते हुए सामने आना, पानी में मछली का दिखलायी पड़ना, पनिहारिनों का कलश भर कर लाते हुए दिखायी पड़ना, ये समस्त सगुन कार्य-सिद्धि के प्रतीक हैं।[2] राजा ज्ञानदीप जब अपने सैन्य के साथ रानी देवजानी के नगर की ओर चला तो उसके मार्ग में शकुनों की झड़ी लग गयी। शकुन उसी के मार्ग में होते हैं जिसका कार्य सफल होने को होता है। राजा ज्ञानदीप के मार्ग में दाहिनी ओर कोयलों-कौवों का बोलना, धोबी का परोहन लेकर आना, दाहिनी ओर मृग का आना, मालिन का फूल लेकर आना, वंशी की ध्वनि सुनना, क्षेमकरी और लोमा का देखना, दही-मछली की पुकार

१– 'मधुमालती' पृ० ५६-५७.

२– 'बाँयें खरहा दहिने पैसारा, महरि सीस लै दही पुकारा।
मंछ उछरि पानी देखरावै, कलस भरे आगे लै आवै॥
खेमकरी जो लोआ, आगे भै दरसाव।
सिध होइ सब काजहि, ऐस सगुन जो पाव॥'
—'मधुमालती'–व्याह-खंड–पृ० १३१.

सुनना उसकी सफलता के निश्चित लक्षण थे ।[1]

'कथा कामरूप की' में जब कुँवर ने कामकला के देश जाने की आज्ञा अपनी माता से माँगी तो उसने दही का टीका लगाकर कुँवर को विदा किया ।[2] दही का टीका इस बात का प्रतीक है कि कुँवर को अपने कार्य में सफलता प्राप्त हो ।

भारतीय सामाजिक जीवन में सिन्दूर को सौभाग्य का प्रतीक माना गया है । हिन्दी के सूफ़ी-कवियों की अधिकांश नायिकाएँ चूंकि भारतीय हैं अतः इन्होंने सौभाग्य के इस प्रतीक सिन्दूर को अपने शृंगार में विशेष महत्त्व दिया है । वह पद्मावती जो प्रियतम रत्नसेन के कैद हो जाने पर सिन्दूर लगाना तथा अन्य शृंगार करना छोड़ देती है ।[3] बन्धन मुक्त रत्नसेन के वापस लौटकर आने पर माँग में सिन्दूर भरकर उसकी आरती करने के लिये जाती है–

'बिहँसि चाँद देइ माँग सेंदूरू, आरति करै चली जहँ सूरू ।'[4]

१– "दहिने काग सवरिया बोला, जबहि मिलै धन होइ निओला ।
रजक परोहन भारे आवा, दहिने ओर मिरग देखरावा ।
मालिन आई फूल कर दीन्हा, बंशी बजाई काहु सुर लीन्हा ।
नीला खेमकरी दिखराइ, लोआ नाचत दिग मां आइ ।
दहिउ अहीरिन लेहु पुकारी, धीमर आइ मच्छ लेइ भारी ।
बायें दिसि बोला पनिहारा, तरुनी सीस कलस जल भरा ।
बांभन तिलक दुआदस कीन्हें, सिद्ध सिख मुख आसिख दीन्हें ।

चली सगुन शुभ देखि कै, सुरज्ञानी बिहँसाइ ।
भावत मिलिहै ऐ नबी, निजु विधि मेरइहि आनि ॥"

शेख नबी कृत 'ज्ञानदीप' –उद्धृत–डा० सरला–शुक्ला –'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य' पृ० १९४.

२– "बिलक के सुन्दर ने तब कही, लिआवो कुँवर के सगुन का दही ।
दही लेके माता ने टेका दीन्हा, सगुन से कुँवर को विदा तब कीन्हा ॥"
–'कथा कामरूप की' उद्धृत–'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य' पृ० १९४.

३– "सेंदुर चीर मैल तस, सूखि रही जस फूल ।
जेहि सिंगार पिय तजिगा, जनम न पहिरै भूल ॥"
'जायसी-ग्रन्थावली'–देवपाल-दूती-खंड, पृ० २६६, कवित्त सं० ६.

४– वही, पृ० २९४.

इन्द्रावती को सदा सौभाग्यवती रहने का आशीर्वाद देती हुई सखियाँ कहती हैं कि सुहाग का सिन्दूर हमेशा तुम्हारे ललाट पर बना रहे–

"सेन्दुर सदा सोहाग को रहे तुम्हारे माथ।"[१]

इसी प्रकार चन्दन को भारत देश में पूजा का प्रतीक माना गया है। देवी-देवताओं की एवं वीरों की पूजा करते समय चन्दन का प्रयोग किया जाता है। पद्मावती चन्दन और अगर से देवता को स्नान कराती हैं–

'फर फूलन्ह सब मँडप भरावा, चन्दन अगर देव नहवावा।'[२]

राजा सोहिल के वधोपरान्त जब कौलावती की माता कुँवर सुजान की पूजा एक वीर व्यक्ति के रूप में करती है तो वह उसकी दोनों भुजाओं पर चन्दन चढ़ाती है–

"पूजहि दोउ भुज चँदन चढ़ाई,
कहैं कि धनि तूँ धनि तुअ माई॥"[३]

फारसी-काव्य में रक्त-माँस आदि के उपमान बहुत प्रचलित रहे हैं। अधरों हथेलियों, माँग आदि के प्रसंग में इन कवियों ने इन उपमानों का भी प्रयोग किया है; उदाहरणार्थ जायसी ने पद्मावती के अधरों की लालिमा का वर्णन करते हुए लिखा है–

"राता जगत देखि रंगराती, रुहिर भरे आछहि विहँसाती।"[४]

यहाँ रुहिर अधरों की लालिमा का प्रतीक है। नेत्रों से रक्त के आँसू बहना तथा उनका वीरबहूटी के सदृश प्रतीत होना एक परम्परागत कल्पना है जिसकी प्रेरणा सम्भवतः हिन्दी के सूफी-कवियों को फारसी-कवियों से मिली है। मंझन ने इस कल्पना को मूर्तिमान करते हुए लिखा है–

"रकत आँसु धरा परे जो टूटी, सावन भये ते विरह विहूटी।"[५]

मंझन की यही कल्पना जायसी के 'पदमावत' में निम्नलिखित रूप में मिलती है–

"रकत के आँसू परे भुइ टूटी, रेंग चलीं जनु वीर बहूटी।"[६]

नेत्रों से रक्त के आँसुओं का प्रवाहित होना भारतीय परम्परा के विरुद्ध है। यह फारसी एवं उर्दू-साहित्य से सम्बन्धित है; उदाहरणार्थ गालिब की निम्नलिखित

१– 'इन्द्रावती' –मोती-खंड, पृ० १६४, कवित्त सं० २२.
२– 'जायसी-ग्रन्थावली'–वसंत-खंड, पृ० ८३, कवित्त सं० ९.
३– 'चित्रावली'–कँवलावती-विवाह-खंड, पृ० १५२, कवित्त सं० ३६८.
४– 'जायसी-ग्रन्थावली' नख-शिख-खण्ड, पृ० ४३, कवित्त सं० ८.
५– 'मधुमालती' पृ० १२०.
६– व्याख्याकार–श्री वासुदेवशरण अग्रवाल–'पदमावत', पृ० ३४५.

पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

"रगों में दौड़ते फिरने के हम नहीं कायल।
जब आँख से ही न टपका तो फिर लहू क्या है ?"

अस्तु, संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हिन्दी के सूफी-कवियों के काव्य में देशस्थ प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। चूंकि भारत पर काफी दिनों तक मुस्लिम राज्य रहा अतः उनकी भाषा-संस्कृति हमारी भाषा-संस्कृति से अत्यधिक घुल-मिल गयी; यही कारण है कि हिन्दी के सूफी-कवियों ने अरब और फारस तथा भारत दोनों ही देशों के प्रतीकों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। वस्तुतः जब एक देश की भाषा-संस्कृति दूसरे देश की भाषा-संस्कृति के सम्पर्क में आती है तब एक-दूसरे के प्रतीकों का आदान-प्रदान होना स्वाभाविक ही है।

---

७. परम्परागत प्रतीक-योजना

प्रतीकों की उद्भावना देश की परिस्थिति, संस्कृति, जलवायु, रहन-सहन, सभ्यता, शिष्टाचार और परम्परा के अनुसार होती है। अधिकांशतः प्रतीकों का सम्बन्ध साहित्य के विशेष युग से ही होता है। वे उसी युग में निर्मित होकर अवसित हो जाते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रतीकों में विपर्यय होता रहता है किन्तु कुछ प्रतीक ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम परम्परागत स्वीकार करते चले आते हैं; यथा-'गंगा जी' संस्कृत-साहित्य के आदिकाव्य 'वाल्मीकि-रामायण' से लेकर आधुनिक साहित्य तक सदैव पवित्रता और मुक्तिदायिनी स्वर्गदात्री देवी का प्रतीक मानी गयी हैं और मानी जायेंगी। ऐसे प्रतीक जो सुदीर्घ काल से व्यवहृत होते आ रहे हैं, परम्परागत प्रतीक कहलाते हैं। परम्परा पूर्वकाल के आप्तजनों द्वारा स्वीकृत तथा पालित विचारों और क्रियाओं के प्रति आस्था और विश्वास तथा आवश्यकतानुसार उसका पालन भी है। कभी-कभी प्रतीक के लिए ऐसी वस्तु, गुण और क्रिया का ग्रहण होता है जिनका सम्बन्ध परम्परा से रहता है; जैसे-चातक 'सच्चे' और 'निष्काम प्रेम' के प्रतीक-रूप में दीर्घकाल से स्वीकृत होता आ रहा है। इसी प्रकार कली, किसलय, पुष्प और काँटा क्रमशः प्रसन्नता, आनन्द, उल्लास और पीड़ा-व्यथा के चिर परिचित परम्परागत प्रतीक हैं। ऐसे प्रतीकों के व्यवहार से बोधगम्यता में सुगमता होती है। श्रोता और पाठक के हृदय का उनसे सरलता तथा शीघ्रतापूर्वक साधारणीकरण हो जाता है क्योंकि ऐसे प्रतीकों से वह परिचित रहता है और उनके रूप, गुण, क्रिया आदि को भली-भाँति जानता है।

वस्तुतः साहित्य के परम्परित और परिचित प्रतीकों को समझना सरल है क्योंकि उनके साथ धारणागत सम्बन्ध रहता है; कमल-चन्द्र आदि प्रत्यक्ष तथा सुधा, कल्पतरु आदि अप्रत्यक्ष प्रतीक ऐसे ही हैं। परन्तु जो कवि अपने व्यक्तिगत भावोच्छ्वास का वर्णन करता है उसे अपने निजी प्रतीक ढूढ़ने पड़ते हैं और इस प्रकार उसके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक अपने विशिष्ट अर्थ के द्योतक होते हैं, अतः उनका समझना

दूसरों के लिये कठिन हो सकता है।[1] परम्परागत प्रतीकों में बोधगम्यता की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक रहती है; ये व्यंजनात्मक होने के साथ-साथ मार्मिकता से भी युक्त होते हैं; अतः श्रेष्ठ साहित्य में नवीन प्रतीकों के उदय के साथ-साथ परम्परागत प्रतीकों का भी प्रचुर प्रयोग रहता है। इसी कारण मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों में भी परम्परागत प्रतीकों को विशिष्ट स्थान उपलब्ध हुआ है। ये परम्परागत प्रतीक तीन प्रकार के हैं–

(१) पारिभाषिक प्रतीक,
(२) साहित्यिक प्रतीक और
(३) पौराणिक प्रतीक।

हिन्दी के सूफी-प्रेमाख्यानों में इन तीनों ही प्रकार के प्रतीकों का विशद प्रयोग हुआ है।

७·१ पारिभाषिक प्रतीक

साहित्य में कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जो योगदर्शन, रसायन-शास्त्र आदि से सम्बन्ध रखते हैं। इन शब्दों की अपनी कुछ विशेष परिभाषा और अर्थसत्ता होती है जिसके कारण इन्हें पारिभाषिक प्रतीक कहते हैं। इन प्रतीकों का काव्यगत जो अर्थ होता है वह पारिभाषिक अर्थ से भिन्न रहता है; जैसे 'इड़ा' 'कामायनी' में बुद्धि का प्रतीक है। किन्तु योग-दर्शन में इड़ा नाड़ी को कहते हैं। कबीर, जायसी आदि ने इड़ा का प्रयोग बुद्धि के लिए न कर नाड़ी के लिए ही किया है।

कालिन्दी (यमुना) कृष्ण-साहित्य में प्रेम का प्रतीक है- 'देखियत कालिन्दी अति कारी' इस पंक्ति में सूरदास जी ने कृष्ण के वियोग में विरहिणी बनी हुई यमुना का काली पड़ जाना दिखाया है, किन्तु योग-शास्त्र में यमुना को पिंगला नाड़ी का प्रतीक माना गया है; जायसी ने यमुना का प्रयोग इसी अर्थ में करते हुए लिखा है–

'जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी'।

यहाँ कंस परीक्षणीय साधक का प्रतीक है (क्योंकि कंस की आज्ञा थी कि कमल लाये जायें) नाग कुण्डलिनी का प्रतीक है। कुण्डलिनी को जीतकर पिंगला नाड़ी में प्रवेश कर सहस्त्रकमल प्राप्त किया जाता है। 'कालिन्दी (यमुना) इसी पिंगला नाड़ी का प्रतीक है।

---

1. "But the poet, who writes of his private exaltations, has to find his own symbols and it my be difficult for others to appreciate them at their full value."
-The Heritage of Symbolism, Page 7 (Introduction) writer C. M. Bowra

'पदमावत' में जायसी द्वारा अपनाये गये पारिभाषिक प्रतीकों का विवेचन करते हुए श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है, "उसका (पदमावत) का पूर्वार्द्ध भाग तो सहजयान-मार्ग और नाथयोगियों के मार्ग का जैसे प्रनिनिधि ग्रंथ ही बन गया है, जिसमें इन दोनों धाराओं के अधिक-से-अधिक संकेत कौशल से यथास्थान पिरों दिये गये हैं। उनकी समृद्ध शब्दावली को श्लेषमयी शैली में कवि ने ऐसे सुन्दर ढंग से अपना लिया हैं कि ऊपर से काव्य-पक्ष नितान्त परिशुद्ध दिखायी पड़ता है, किन्तु उसके भीतर अध्यात्म अर्थों की रसवादी धारा प्रवाहित है।"[1]

सिद्धों, नाथपंथियों एवं सहजयानियों के यह संकेत केवल 'पदमावत' में ही नहीं अपितु सभी प्रेमाख्यानों में उपलब्ध होते हैं।

चाँद और सूर्य पारिभाषिक प्रतीक हैं। हठयोगियों की साधना का उद्देश्य था-इड़ा, पिंगला नाड़ियों को वश में करके सिद्धि प्राप्त करना। हठयोग के अर्थ को 'हठयो।-प्रदीपिका' की टीका में इस प्रकार समझाया गया है--

"हश्च ठश्च हठौ सूर्यचन्द्रौ, तयोर्योगो हठयोगः। एतेन हठशब्द
वाक्योः सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्य लक्षणः प्राणायामो
हठयो इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम् ॥"[2]

अर्थात् 'ह' का अर्थ है-सूर्य, 'ठ' का अर्थ है चन्द्र; इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के योग को हठयोग कहा गया है। कतिपय लोग सूर्य और चन्द्र से प्राण और अपान का अर्थ लेकर हठयोग का अर्थ 'प्राणापान ऐक्यरूप प्राणायाम' मानते हैं। 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में गोरखनाथ जी ने भी 'हठ' शब्द की व्याख्या कुछ इसी प्रकार की है--

"हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते ॥"[3]

चन्द्र इड़ा नाड़ी का प्रतीक माना जाता था और सूर्य पिंगला नाड़ी का। सूर्य और चन्द्र के इन प्रतीकों को स्पष्ट करते हुये टीका में इस प्रकार कहा गया है-"सूर्येण सूर्यनाड़्या पिंगलया" इसी प्रकार चन्द्रेण को स्पष्ट करते हुए लिखा है, चन्द्रैण इड़या'। सिद्ध कवियों में चन्द्र और सूर्य का प्रतीक बहुत प्रचलित था। आचार्य विनय श्री के एक गीत में आया है--'चन्दा आदिज समरस जोए' अर्थात् चन्द और सूर्य को समरस से युक्त करना चाहिये। यहाँ पर चन्द्र और सूर्य का समरस होना-इड़ा और पिंगला नाड़ियों के अद्वय होने या यामलभाव होने का प्रतीक है। इसी प्रकार गुण्डरीपा की निम्नलिखित पंक्ति में इन पारिभाषिक-प्रतीकों का प्रयोग द्रष्टव्य है-'चाँद सूरज वेणिण

---

१. 'पदमावत -(प्राक्कथन-) पृ० ४४
२. व्याख्याकार-श्री निवास आयंगर-'हठयोग-प्रदीपिका' पार्ट २, पृ० ३
३. 'नाथ-सम्प्रदाय' के पृ० १२३ पर उद्धृत

पङ्खा फाल' अर्थात् चन्द्र और सूर्य नाम के दोनों पंखों को काट डाल। इस पंक्ति में कवि के कथन का आशय यह है कि इड़ा-पिंगला में संचरण करते हुए प्राण को वहाँ से हटाकर सुषुम्णा में स्थित कर।

प्राचीन बंगला के लोक-गीतों में भी इन प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। हाड़ीपा या जालंधर नाथ की योगसिद्धि का कथन करते हुए मैनावती कहती है कि उसने चन्द्र-सूर्य को अपना कुंडल बना लिया है–

"ए देशिय हाड़ी नाथ बंग देशेधर,
चाँद सुरुज राखछे दुइ कानेर कुंडल।"[1]

दो कुंडल ठंडी और गर्म सृष्टिधाराओं के प्रतीक माने जाते थे। इन्हें ही चन्द्र-सूर्य कहा गया। वैदिक पारिभाषा में ठंडी धारा चन्द्र या सोम एवं गर्म धारा सूर्य या अग्नि कहलाती थी। शीत धारा को भार्गवी और उष्ण को आंगिरसी भी कहते थे। परमेष्ठी मंडल में ही भृगु और अंगिरा के दो मंडल बन जाते हैं। मंडल ही कुंडल हैं। कुंडल-रूप में इन पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग सूफ़ी-कवियों ने भी किया है; यथा–

"चाँद सुरुज दुहुँ दिसि चमकाहीं, नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं"।[2]

वस्तुतः सूफ़ी-कवियों में तो चन्द्र-सूर्य का प्रतीक अर्थबोध का सबसे सुलभ और सरल माध्यम बन गया है। प्रायः सर्वत्र ही इनका उपयोग किया गया है। कायासाधन से सम्बन्धित हठयोग की परम्परा में स्वीकृत पारिभाषिक प्रतीकों को सूफी-कवियों ने अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों का वास्तविक अर्थ योग-परिभाषाओं की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है–

"चलि राजा आवा तेहि बारी, जरत बुझाइ दूनौ नारी।
एकवार जिन्ह पिउमन बूझा, काहे कौं दोसरे सौं जूझा॥
अैस ज्ञान मन जान न कोई, कबहुँ रात्रि कबहुँ दिन होई।
धूप छाँह दुइ पिय के रंगा, दूनौं मिली रहहु एक संगा॥"[3]

इसमें प्रयुक्त राजा, बारी, जरत, नारी, एकबार, पिउमन, रात-दिन, धूप-छाँह आदि समस्त शब्द पारिभाषिक प्रतीक हैं–

---

१. 'गोपीचन्दर गान'-'उद्धृत आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स' पृ० २७८ लेखक-शशि भूषणदास गुप्त

२. व्याख्याकार-श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत' (पद्मावती-रूप चर्चा-खण्ड) पृ० ६०५, कवित सं० ४७९

३. वही, (नागमती-पद्मावती-विवाद खण्ड)-पृ० ५५७, कवित सं० ४४५

राजा-- जीव, प्राण या हंस का प्रतीक है।

तेहिबारी-- इड़ा और पिंगला दोनों के पृथक मार्ग या केन्द्रचक्रों का प्रतीक है।

जरत-- जारण करना-यह प्राण के मल और दोषों की शुद्धता का प्रतीक है।

दूनौ नारी-- इड़ा और पिंगला की प्रतीक हैं।

एक बार-- बार=द्वार। 'एक द्वार' उस रन्ध्र का प्रतीक है जिसमें से होकर दोनों नाड़ियाँ मस्तिष्क में प्रवेश करती हैं। पाँचवें विशुद्धि चक्र के पश्चात् यह रन्ध्र आता है। अंग्रेजी में इसे 'मेगनम फोरेमिन' अर्थात् महारन्ध्र कहते हैं। संस्कृत में इसी का नाम क्रौंचरन्ध्र है, क्योंकि इस रन्ध्र में सुषुम्णा या केन्द्रीय नाड़ी जाल कुछ तिरछा होकर प्रवेश करता है। यहाँ से आगे दो चक्र और माने जाते हैं- (१) आज्ञा चक्र और (१) सहस्त्रार चक्र, इसे सहस्त्रदल कमल भी कहते हैं। मस्तिष्क में इसके ऊपर विहित-द्वार है, जिसे ब्रह्म-रन्ध्र भी कहते हैं। क्रौंचरन्ध्र से विहित-द्वार तक दोनों नाड़ियाँ मिलकर सुषुम्णा में लीन हो जाती हैं। यहाँ पर जायसी का आशय यही है कि यदि सुपुम्णा को उस क्रौंचद्वार के क्षेत्र में एक बार समझ लिया जाय तो फिर इड़ा-पिंगला का पार्थक्य या विरोध नहीं रहता।

पिउ मन-- इसका अर्थ प्रिय-मणि अर्थात् मणिपद्म लेने पर यह सहस्त्रदल कमल या सुषुम्ना (सुखमन) दोनों का प्रतीक सम्भव है। किन्तु मन को फारसी-लिपि में मनि भी पढ़ा जा सकता है, जिसका प्रतीकात्मक अर्थ होगा-बिन्दु, शुक्र या रेत। इस पक्ष में चौपाई का अर्थ होगा, जिसने एकद्वार अथवा ब्रह्माण्ड चक्र में अपने बिन्दु को शान्त कर लिया है, वह फिर कामुक बनकर स्त्री में लिप्त नहीं होता। योग का सिद्धान्त है कि जब साधक विशुद्ध-चक्र या आकाश तत्त्व से ऊपर उठकर आज्ञाचक्र में पहुँच जाता है तब साधना-मार्ग से पुनःविचलित नहीं होता।

रात–दिन, धूप-छाँह ये इड़ा-पिंगला नाड़ियों के प्रतीक हैं।

इस प्रकार इन पंक्तियों का अर्थ एक पक्ष में तो राजा रत्नसेन द्वारा पद्मावती और नागमती के सौतिया–डाह को शान्त करना है तथा द्वितीय पक्ष में प्रतीकों के माध्यम से इसका योगपरक अर्थ होगा कि आत्मा या हंस ने आकर इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का जारण करके (दोषपचाकर) उन्हें बुझाया या शान्त किया। यदि दोनों नाड़ियों ने क्रौंचद्वार में पहुँच कर सुषुम्णा को पहिचान लिया है तो वे एक-दूसरे से क्यों लड़ेंगी ? अथवा एक बार भी यदि दोनों नाड़ियों ने सुषुम्णा को जान लिया

है; अथवा एक बार भी यदि उन्होंने प्राण और मन को समझा लिना है तो उनमें विरोध कहाँ रहेगा ? सुषुम्णा का ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता, अतएव वह कभी रात और कभी दिन का अनुभव करता है अर्थात् कभी चन्द्र (इड़ा) और कभी सूर्य (पिंगला) में रत रहता है। धूप और छाँह अर्थात् इड़ा और पिंगला दोनों में प्रिय (सुषुम्णा) का रंग है, अतः दोनों नाड़ियों को मिलकर साथ रहना चाहिए।

अवधी-भाषा में रचित सर्वप्रथम सूफ़ी-काव्य 'चंदायन' में भी इन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है—

"मरे सौथ के दोऊ नारी, भींमर भोरी जोबन वारी।
कै संखवान दोउ पियाईं, कोहबर जरतैं छिड़क बुझाई॥"[१]

चाँद और सूरज के इन पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग सभी हिन्दी-सूफ़ी-कवियों के काव्य में उपलब्ध होता है। 'चंदायन' में प्रयुक्त इन प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है—लोरक जब चाँदा के प्रेम-जाल में आबद्ध होकर अस्वस्थ हो जाता है तब वैद्य आकर उसकी नाड़ी को देखता है और कहता है कि—

'चाँद सुरिज दुइ निरमल अही,'[२] अर्थात् इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियाँ बिल्कुल स्वस्थ हैं।

इन प्रतीकों का प्रयोग 'मधुमालती' में भी हुआ है—

"वैदन्ह आइ नाटिका बूझि विचारा पीर।
चाँद सुर्ज-दुइ निर्मल, दोख न कुँअर सरीर॥"[३]

चंद्र और सूर्य का ही नामान्तर गंगा-यमुना है। 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है कि—

'इड़ा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इड़ा पिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुण्डलिनी।'

इस प्रकार इसमें इड़ा और पिंगला नाड़ियों के लिये क्रमशः गंगा और यमुना तथा कुण्डलिनी शक्ति के लिए बालरंडा शब्दों को परिभाषिक प्रतीक-रूप में निश्चित किया गया है। सूफ़ी-कवियों ने इन पारिभाषिक प्रतीकों को ज्यों-का-त्यों आत्मसात कर लिया है ; उदाहरणस्वरूप दो-एक पद द्रष्टव्य हैं—

"तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दूनहूँ औ मानहु सुख भोग॥"[४]

---

१. संपादक-डा० परमेश्वरी लाल गुप्त-'चंदायन' पृ० २३४
२. वही,-पृ० १५०
३. 'मधुमालती', सहजा-खण्ड-पृ० ४७
४. व्याख्याकार-श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पद्मावत'-(नागमती-पद्मावती-विवाद खण्ड,—) पृ० ५५७, कवित सं० ४४५

यहाँ एक ओर तो शृंगार-पक्ष में पद्मावती और नागमती दोनों के मिलकर रहने एवं अपने पति राजा रत्नसेन की सेवाकर सुख-भोग प्राप्त करने का वर्णन वर्णित है और दूसरी ओर इड़ा-पिंगला के प्रतीकवाद का भी पूरा समर्थन है।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों को पारिभाषिक शब्दावली में 'त्रिवेणी' की संज्ञा से भी सम्बोधित किया गया है। सूफ़ी-कवि जायसी के काव्य में इस प्रतीक का सुन्दर प्रयोग हुआ है; यथा—

"सात खंड औ चारि निसेनी अगम चढ़ाव पंथ तिरवेनी।"[१]

यहाँ पर 'तिरवेनी' शब्द इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

यौगिक परिभाषा में जैसे चन्द्र और सूर्य, गंगा और यमुना, इड़ा और पिंगला नाड़ियों के प्रतीक माने गये हैं, वैसे ही शून्य, दसवाँ-द्वार आदि ब्रह्मरन्ध्र के। मध्य-कालीन युग में इन प्रतीकों का बहुत अधिक उल्लेख हुआ है। गोरखनाथ ने ब्रह्मरन्ध्र के लिये शून्य का प्रतीक प्रयुक्त किया है-'अजपा जपै' सुनि मन धरे'। कहा जाता है कि सहस्रार का अमृत इसी शून्य या दशम द्वार में होकर नीचे झरता रहता है। सुषुम्णा जिस मार्ग से ब्रह्माण्ड या मस्तक में प्रवेश करती है, वहीं यह दसवाँ-द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) है। यहाँ के मार्ग को टेढ़ा कहा गया है—

"दसवँ दुवार गुपुत एक नाँकी, अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँकी।
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी, जौं लै भेद चढ़ै होइ चाँटी॥"[२]

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में दशम-द्वार' के प्रतीक से ब्रह्मरन्ध्र का जो वर्णन हुआ गया है वह अति रहस्यात्मक है—

"नव पौरी पर दसवँ दुवारा, तेहि पर बाज राज घरियारा।
घरी सो बैठि गनै घरियारी, पहरि-पहरि सो आपनि बारी॥
जबहीं घरी पूजि तेइँ मारा, घरी-घरी घरियार पुकारा।
परा जो डाँड़ जगत सब डाँड़ा, का निचिंत माटी का भाँड़ा॥"[३]

यहाँ पर कवि ने सिंहलगढ़ के दसवें-द्वार का वर्णन किया है। इस द्वार पर राज घड़ियाल बजा करता है। हठयौगिक अर्थ में 'दशम-द्वार' 'ब्रह्मरन्ध्र' का प्रतीक है और राज घरियार 'अनहद नाद' का। घरियारी साधक का प्रतीक है। गढ़पक्ष में, घरियारी घड़ी रूपी जल-पात्र के पूर्णरूप होने पर जो कि घटिका का द्योतक है, घंटा बजा देता है। योगपक्ष में, जब साधक अनहद नाद श्रवण के लिये अग्रसर होता है

१. 'जायसी-ग्रंथावली' (अखरावट) पृ० ३२०, कवित्त सं० २४
२. व्याख्याकार-श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत'-(पार्वती-महेश-खंड) पृ० २४५, —कवित्त सं० २१५
३. 'जायसी-ग्रंथावली' (सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड)—पृ० १६, कवित्त सं० १८

तब उस स्तर पर तरह-तरह के नाद सुनायी पड़ते हैं। प्रत्येक घटिका के अन्त में होने वाली घंटा-ध्वनि विश्व की नश्वरता का प्रतीक है। साधक जब एक स्तर से दूसरे स्तर की ध्वनि सुनता है तो उसे संसार की नश्वरता का और अधिक बोध होने लगता है।

सुषुम्णा के इस प्रवेश-मार्ग को क्रौंचद्वार की संज्ञा से भी सम्बोधित किया गया है। उसका यह टेढ़ा भाग वंकनाल है, उसे ही जायसी ने बाँकी बाट या टेढ़ा मार्ग कहा है। इस गढ़ में जो सुरंग है वही सुषुम्णा के भीतर जाने का मार्ग है। उसके निचले छोर पर मूलाधार चक्र में सरग-दुवारी है—

'ढूँढ़ि लेहि ओहि सरग-दुवारी औ चढ़ु सिंघलद्वीप।'[1]

यह सरग-दुवारी सुषुम्णा के आरम्भ का प्रतीक है। इसी प्रकार निम्नांकित पंक्ति

'दसवँ दुवार तारु का लेखा, उलटि दृष्टि जो लाव सो देखा।'[2]

में भी दसवँ दुवार ब्रह्मरन्ध्र का ही प्रतीक बन कर प्रयुक्त हुआ है।

चन्द्र-सूर्य और ब्रह्मरन्ध्र की भाँति सोना और रूपा भी पारिभाषिक शब्द हैं जो विशिष्ट अर्थों में रसायन और धातुवाद के अनुयायी लोगों में प्रसिद्ध थे। इन लोगों का विश्वास था कि इस व्याधिग्रस्त नश्वर शरीर से ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता; अतः वे पहले इस शरीर को विविध रसायनिक प्रयोगों के सहारे दिव्य, दृढ़, नित्य और स्थिर बनाते थे, फिर प्राण-साधना करते थे। शरीर को दिव्य बनाने वाला सबसे प्रसिद्ध रसायन पारद है। रसेश्वर-दर्शन में पारद को शिव का वीर्य माना गया है तथा अभ्रक को भगवती का रज; और बताया गया है कि इन दोनों के समन्वित प्रयोग से दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है। सिद्ध आचार्यों ने सोना और रूपा की इन परिभाषाओं को स्वीकार किया था। सिद्ध-साहित्य में इन प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है; उदाहरणार्थ कम्बलिपा के चर्यागीत की एक पंक्ति प्रस्तुत है—

'सोने भरती करुणा नावी, रूपा थोई नाहिक ठावी।'[3]

अर्थात् करुणा की नाव सोने से भरी हुई है, उसमें रूपा या चाँदी रखने के लिये स्थान नहीं है। इसमें सोना 'शून्य' का प्रतीक है और रूपा (चाँदी) 'रूप के संसार' का, जो कि अनित्य और अस्थिर है। जायसी के 'पदमावत' में इन प्रतीकों के प्रयोग से अर्थगाम्भीर्य की सृष्टि हुई है। पद्मावती सुवर्ण का प्रतीक है और चम्पावती रूपा (चाँदी) की। सोना चाँदी के सम्पर्क में आते ही मलिन हो जाता है और उसे

---

१. व्याख्याकार-श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत'—(पार्वती-महेश-खंड)—पृ० २४५, कवित्त सं० २१५

२. वही, पृ० २४७, कवित्त सं० २१६

३. बागची, चर्यापद—८

शुद्धि या सलोनी-प्रक्रिया की आवश्यकता पड़ती है। यही सृष्टि का नियम है। शून्य में रूप की उत्पत्ति निरन्तर होती है। रसायनिकों के अनुसार पारद की सिद्धि शरीर के अमृतत्व एवं जीवन्मुक्ति के लिये आवश्यक है। पारद की सहायता से सुधातु सुवर्ण में परिवर्तित हो जाती है। पारद ही एक ओर शुक्र का रूप है जिसकी साधना से शरीर अमर हो जाता है ; दूसरी ओर पारद वह रस या प्रेम है जिसके प्रभाव से साधक को सुवर्ण रूप पदमावती की प्राप्ति होती है। जायसी ने कितने ही स्थानों पर सोना, चांदी, अभरक, हरतार, सुहागा आदि पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग कर जान बूझकर रसायन-दर्शन के संकेत अपने काव्य में रक्खे हैं, जो अधिकांश में द्वयर्थक हैं ; उदाहरणस्वरूप दो-एक पद प्रस्तुत हैं-

"पार न पाव जो गंधक पिया, सो हरतार कहौ किमि जिया।
सिद्धि गोटिका जापहँ नाहीं, कौन धातु पूछतु तेहि पाहीं।।'
अब तेहि बाजु राँग भा डोलौं, होइ सार तब बरकै बोलौ।
अभरक कै तन एँगुर कीन्हा, सो तुम फेरि अगिनि महँ दीन्हा।।"[१]

यहाँ प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'पार' (पारा) गंधक और 'हरतार' रसायन-दर्शन के शब्द हैं। रसायन-शास्त्र के अनुसार हरतार, पारा और संखिया ये तीनों आग देने से उड़ जाते हैं, किन्तु गंधक के साथ यदि पारद को घोट दिया जाय तो गंधक पारद को बद्ध कर लेता है, पारा उड़ता नहीं और पारद के कण भी अलग दिखलायी पड़ते हैं, ऐसा पारा कज्जली कहलाता है। द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त सिद्ध-गुटिका भी रसायनिक शब्द है। रसायन-शास्त्र के अनुसार सिद्ध-गुटिका पारद, चांदी, सोना रूप उत्कृष्ट धातु बनाने के लिए आवश्यक है।

इसी प्रकार चतुर्थ पंक्ति में आये आभरक और ईंगुर शब्द भी पारिभाषिक हैं। जैसे पारद के लिए गंधक का जारण आवश्यक है वैसे ही अभरक का भी। अभ्रक, पारद, गन्धक को एक साथ घोटकर बालुका-यंत्र में पुट देने से रस-सिन्दूर या लाल रंग का ईंगुर बन जाता है। इसमें पारद शुद्ध अवस्था में रहता है। अभ्रक उस पारद को बांधे रखती है, किन्तु यदि उस ईंगुर को उर्ध्वपातन यंत्र में डालकर फिर अग्नि पर चढ़ा दे तो गंधक और पारद अलग-अलग हो जायेंगे, किन्तु जो अभ्रक बुभुक्षित पारद के पेट में जीर्ण हो चुकी है, पारद उसे अपने भीतर धारण किये रहेगा।

वस्तुतः रसायन-शास्त्र के ये शब्द यहाँ पारिभाषिक प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुए हैं। पार 'शुक्र रूप रत्नसेन' का, गंधक 'रज रूप पद्मावती' का एवं सिद्धि-गोटिका 'पद्मावती' का प्रतीक है। रसेश्वर-दर्शन के अनुसार अभ्रक 'पार्वती के रज' का और

१. व्याख्याकार-श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत' (पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खण्ड,) पृ० ३४२, कवित्त सं० २९४

पारद 'शिव के बीज' का[1] प्रतीक है। यहाँ पर प्रयुक्त अभ्रक 'पद्मावती' का प्रतीक है। इन प्रतीकों के माध्यम से उपर्युक्त पंक्तियों का प्रेमपरक अर्थ यह होगा; —

पद्मावती के जीवन के लिए भी रत्नसेन की उतनी ही आवश्यकता है जितनी रत्नसेन को पद्मावती की। रत्नसेन कहता है कि जिसके पास सिद्धि प्राप्त करने वाली वह पद्मावती रूपी गुटिका नहीं रही, उससे धातुवाद का क्या पूछना? अब उसके बिना मैं रांगे की भांति निकम्मा हो गया हूं, अतः जब मेरे पास पद्मावती रूपी तत्त्व होगा तभी बलपूर्वक कुछ कह सकूँगा! अभ्रक रूपी उस पद्मावती के साथ इस शरीर को मिलाकर मैंने ईंगुर बना लिया था, पर तुमने उसे अग्नि में डालकर पुनः अलग कर दिया है—

"परा प्रीति कंचन मह सीसा, बियरि न मिलै स्याम पै दीसा।
कहाँ सोनार पास जेहि जाऊँ, देइ सोहाग करै एक ठाऊँ॥"[2]

इसमें प्रयुक्त कंचन, सीसा, सोहाग आदि शब्द रसायन-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। रसायन-शास्त्र के अनुसार सीसा मिलने से सोना बिखर जाता है, पर सुहागा मिलने से शुद्ध होता है। यहाँ पर 'सुवर्ण' प्रेम का प्रतीक है, सीसा 'संदेह' का और सुहाग 'सौभाग्य' का।

रसायनिकों से मतानुसार बारहबानी सुवर्ण सोने की शुद्धि का सबसे ऊँचा आदर्श है। साधक के लिए यह परमावश्यक था कि वह बारहबानी सोना बने—

"कनक दुआदस बानि होइ चह सुहाग वह माँग।"[3]

"माँग सहस्रार-चक्र का प्रतीक है। कम्बलिपा की उक्ति है-"

"बाम दाहिण चापी मिलि-मिलि माँगा।
बाटत मिलिल महासुह साँगा।"[4]

अर्थात् वाम-दक्षिण को (इड़ा-पिंगला को) वश में करके माँग (सहस्रार) में ले जाने से ही महासुख का संग प्राप्त होगा। बारहबानी सोना ही सहस्रार-चक्र तक पहुँचा सकता है। यह साहित्य में शुक्र, साधक एवं प्रेमिका का प्रतीक बनकर प्रयुक्त होता है। पद्मावती की माँग रत्नसेन रूपी सौभाग्य की आकांक्षा रखती है,

---

१ अभ्रकस्तव बीजन्तु मम बीजन्तु पारदः। अनयोर्मेलन देवि मृत्युदारिद्रय नाशनम्।
—'सर्वदर्शन-संग्रह।'

२. व्याख्याकार-श्री वासुदेवशरण अग्रवाल-पदमावत, नागमती-सुआ-खण्ड, पृ० १००, कवित्त सं० ८३।

३. वही, (नख-शिख-खंड) पृ० ११३, कवित्त सं० १००

४. वही, (प्राक्कथन) पृ० ५८।

जिससे वह बारहवानी हो सके, या पूर्णता को पहुँच सके। लौकिक पक्ष में जो पद्मावती मातृकक्षि में आयी है, उसकी पूर्णता तभी है जब उसे रत्नसेन का सुहाग मिले।

"चाँद लीत है (हइ) गहनै सुकु बैठा जो माँग।"[१]

इसमें प्रयुक्त 'सुकु' एवं 'माँग' पारिभाषिक प्रतीक हैं। सुकु 'शुक्र' का प्रतीक है और माँग 'सहस्रास-चक्र' का।

रसायनिक पारिभाषिक प्रतीकों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाने के साथ-साथ सूफी-कवियों ने सहजयान के पारिभाषिक प्रतीकों को भी अपनाया है। रत्नसेन की योग-साधना समाप्त होने पर उसे भोग के लिये प्रेरित करती हुई सखियाँ विनोद-पूर्वक कहती हैं—

"धातु कमाइ सिखे तैं जोगी, अब कस अस निरधातु वियोगी।
कहा सो खोए बीरौ लोना, जेहितें होइ रूप औ सोना।।"[२]

अर्थात् हे जोगी तूने धातु बनाना सीखा अर्थात् लोहे को पारस के योग से सोना बनाने का अभ्यास किया। तब भी तू वियोगी क्यों बना है ? जैसे निर्धातु हो। तेरी वह रूप की बूटी कहाँ गयी ? जिससे रूप और सोना दोनों एक साथ मिलते हैं। यहाँ कवि ने सहजयान के पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग किया है। निर्धातु का अर्थ है धातुशून्य या शून्य अवस्था। महासुख-चक्र में पहुँचकर भी तू वियोगी जैसा क्यों बना है। अपने को सर्वरूप सम्पन्न भोग के लिये तैयार कर। बीरौ लोना 'पद्मावती' का प्रतीक है। उसके सान्निध्य में 'रूप' और 'सोना' अर्थात् रूप और शून्यता इन दोनों की एकत्र स्थिति सम्भव है। सहजयान की परिभाषा में बताया गया है कि काम कुधातु या लोहा है। काय-साधन और मानस-साधन से काम शुद्ध होकर प्रेम में परिवर्तित होता है। प्रेम के सान्निध्य में सौन्दर्य का प्रतीक पद्मावती का रूप और संयम की पवित्रता दोनों सम्भव हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मानवी भाव-रूप कहलाता है और दिव्य भाव-स्वरूप, यहाँ पर रत्नसेन 'मानवी भाव रूप' का प्रतीक है और पद्मावती 'दिव्य भाव-स्वरूप' का।

सहजयान की परिभाषा में बताया गया है कि विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि पहले मानव की मृत्यु हो जाय। वस्तुतः मृत्यु होना मानव के पशुभाव के लोप होने का प्रतीक है। सहजयान की परिभाषा में यही सच्चा मरण है कि मानव शरीर और मन से इतना शुद्ध हो जाय कि पाशविक प्रवृत्तियों के दोष दूर से भी उसका स्पर्श न कर सकें। सूफी-कवियों ने इसे ही मरजिया की संज्ञा दी है—

१— 'चन्दायन' पृ० ५०.

२— व्याख्याकार—श्री वासुदेव शरण अग्रवाल—'पदमावत' (पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड) पृ० ३३८, कवित्त सं० २६३.

"सिन्धु मरजिया होइ धसै, रतन चढ़ै तब हाथ।"[1]

मरजिया होने के पश्चात् सिन्धु में प्रवेश करने पर अर्थात् मानव की अहम्-भावना और उसकी पाशविक प्रवृत्तियों की विनष्टता के पश्चात् ही रतन (परब्रह्म) की प्राप्ति होती है। किन्तु सोहिल कौंलावती को, बिना मजरिया बने कटक (सेना) के गर्व में फूला हुआ प्राप्त करने का प्रयास करता है, इसी कारण वह उसे प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाता है। इसी कारण रतनसेन कहता है—

"मरै सो जान होइ तन सूना।"

यहाँ 'सूना' उसी सर्वशून्य अवस्था का प्रतीक है जिसे प्राप्त कर लेने पर विशुद्ध चित्त वज्रमय बन जाता है। जो इस अवस्था को उपलब्ध कर लेता है वह मानो सिद्धि गुटिका पा लेता है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिये पहले मरण अर्थात् रूप-लोक का त्याग आवश्यक है। यह 'मरजिया' अर्थात् मरकर फिर जीवित होने की अवस्था है जो मानव के अहम्-भाव की, उसकी पाशविक प्रवृत्तियों की विनष्टता का प्रतीक है।

महासुख कमल के विषय में कहा गया है कि सहज-सुन्दरी वहाँ जोगी के साथ विलास करना चाहती है। वहाँ पहुँचे हुए जोगी को सदा-सदा के लिये उसके साथ युगनद्ध भाव या नित्ययुक्त भाव प्राप्त हो जाता है।[2] सिद्ध विरूपा ने कहा है, "वह अकेली शुंडिनी (कलाली) इधर इड़ा और पिंगला नाड़ियों को सुषुम्ना नाड़ी में लाकर एकत्र करती है और उधर बोधचित्त को ले जाकर शून्य में भी ला जोड़ती है। उसके निकट चौसठ यंत्रों में भरा मद (महासुख) संभालकर रखा हुआ रहता है और वहाँ एक बार भी पहुँचकर मदपी फिर लौटने का नाम तक नहीं लेता।"[3]

सूफी-कवियों की नायिकाएँ भी नायकों से इस बात की प्रतिज्ञा कराती हैं कि वह जन्मपर्यन्त कभी उनसे पृथक न होगा। जो सुखवासी में सदा उनके साथ निवास कर सके, उन्हीं से वे प्रेम करेंगी। पद्मावती रत्नसेन से कहती है कि—

१— "सोहिल ऊठा गरब कै, चला कटक लै साथ।
सिन्धु मरजिया होइ धसै, रतन चढ़ै तब हाथ।" —'चित्रावली' —सोहिल-खंड, पृ० १३७, कवित्त सं० ३५८.

२— लेखक—शशिभूषण दास गुप्त—'आब्सक्योर रिलीजस कल्टस्' (अल्पज्ञात धार्मिक सम्प्रदाय) पृ० १२०.

३— "एक से शुंडिनि दुई घर सान्धअ चीअण वाकलअ वारुणी वान्धअ।
+ + +
चौशठ घड़ीये देट पसारा, पइठेल गराहक नाहि निसारा।' —चर्या, ३ पृ० १०६.

"तासौं नेह जो दिढ़ करै थिर आछहि सहदेस ।"[१]

रत्नसेन उसकी बात स्वीकार करता है और उसे विश्वास दिलाता है कि वह जन्म भर उससे अलग न होगा–

"अब जिउ जरम जरम तोहि पासा, किएउँ जोग आएउँ कबिलासा ।
गुरि गुरि आपु हेराइ जो मुए न छाड़ै पास ।।"[२]

वस्तुतः उस सिद्धावस्था में पहुँचने के लिये मरण की आवश्यकता है । उसे ही दूसरे शब्दों में नैरात्म्य-भाव की प्राप्ति कहा जाता है । उसके लिये ही रत्नसेन पद्मावती से कहता है 'गुरि गुरि हेराइ' अर्थात् सब प्रकार से अपने रूप स्कन्धों को विलीन करके जो अपने आप को खो देता है, वही उस सर्वशून्य स्थिति में सदा बना रह सकता है । नैरात्म्य-भाव की प्राप्ति को ही सहज की संज्ञा दी गयी है । नैरात्म्य, शून्यता, सहजसुन्दरी, प्रज्ञा, योगिनी, मुद्रा में सब एक-दूसरे के पर्याय प्रतीक हैं । इस अवस्था में सहजसुन्दरी योगी से कोई परदा नहीं रखती । सूफ़ी-कवियों की नायिकाएँ इन्हीं सहज सुन्दरियों की प्रतीक हैं और नायक योगियों के । पद्मावती रत्नसेन से कहती है–

"तासों कवन अँतरपट जो अस प्रीतम पीउ ।
नेवछावरि गई आप हौं, तन मन जोबन जीउ ।"[३]

वह चाहती है कि सुखवासी में पहुँचकर रत्नसेन महासुख का आनन्द लेने वाला उष्णीष कमल का भौंरा बनकर जन्मपर्यन्त उसके साथ युगनद्ध-भाव से रहे । ऐसा न हो कि वह फिर धोखा दे और गृही से उदासी बन जाय ।

"होइ गिरिही पुनि होहि उदासी ।"[४]

इन प्रतीकों के अतिरिक्त सहजयान में दो अन्य प्रकार के प्रतीकों का वर्णन और उपलब्ध होता है, जिनका प्रयोग हिन्दी के सूफ़ी-काव्यों में हुआ है, प्रथम, पान के समान रंग में रंग जाना और द्वितीय, युगनद्ध-भाव के रूपक के लिये नायक-नायिका का चौसर खेलना । पान उस रंग का प्रतीक है जो पान, सुपारी, कत्था, चूना इन चारों के साथ मानव के अपने प्रयत्न से अपना मुखरस मिला देने से उत्पन्न होता है । वस्तुतः ये चारो द्रव्य—पान, सुपारी, कत्था और चूना–चार प्रकार की शून्य अवस्थाओं के प्रतीक हैं–पान 'शून्य', सुपारी 'अतिशून्य', कत्था 'महाशून्य' और चूना 'सर्वशून्य' का प्रतीक है । पान, सुपारी, कत्था एक ओर हैं और चूना दूसरी ओर ।

१– व्याख्याकार–श्री वासुदेवशरण अग्रवाल–'पदमावत'– (पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड,) पृ० ३६३, कवित्त सं० ३१०.
२– वही, –पृ० ३६४, कवित्त सं० ३१३.
३– वही, पृ० ३७८- कवित्त सं० ३१५.
४– वही, पृ० ३६२, कवित्त सं० ३१०.

पान, सुपारी एवं कत्थे को सर्वथा चकनाचूर कर लेने पर भी जव तक चूने के साथ उनका मेल नहीं किया जाता, तव तक रंग नहीं रचता–

"पान सुपारी खैर दुहुँ, मेरै करै चक चून।
तव लगि रंग न राचै, जव लगि होइ न चून।"[1]

पान, सुपारी, कत्था में तीन एक ओर, और चूना दूसरी ओर; इस प्रतीक से कवि ने शून्य चतुष्टय की ओर संकेत किया है। चर्यापदों में वर्णित शून्यता की चार अवस्थाओं में से शून्य, अतिशून्य, और महाशून्य दोषयुक्त हैं। प्रथम अवस्था, शून्य में चालीस दोष मन में रहते हैं। द्वितीय अवस्था, अतिशून्य में मन के तेतीस दोष माने गये हैं। तृतीय अवस्था, महाशून्य में सात चित्त-दोष होते हैं। शून्य को आलोक, अतिशून्य को आलोकाभास और महाशून्य को आलोकोपलव्धि कहते हैं। ये तीनों अवस्थाएँ चित्त से ही सम्वन्धित हैं। चौथी अवस्था सर्वशून्य है। यह स्वयं प्रकाश स्थित है, नितान्त विशुद्ध और सव दोषों से शून्य; इसे ही ज्ञान, परमसत्य और सर्वज्ञाता कहा जाता है। प्रथम शून्यत्रय से ऊपर यह चतुर्थ शून्य पाप और पुण्य, सत् और असत् से अतीत है। दोहों और चर्यापदों में इस शून्य चतुष्टय के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

यह भी कहा गया है कि नीचे के तीन शून्यों में समस्त वासनाये निवास करती हैं, जिन पर सर्वशून्य का प्रहार किया जाता है और तभी उनका सर्वथा तिरोभाव हो पाता है। जैसे चूना पान, सुपारी और कत्था के साथ मिलकर एक विशेष रंग उत्पन्न करता है वैसे ही तीनों शून्यों से मिलकर सर्वशून्य एक विलक्षण रंग उत्पन्न करता है जिसे सर्वशून्यता या अरूप कहते हैं। जायसी के 'पदमावत' में रत्नसेन अपने को पेड़ी का पान और पद्मावती को सुनिरासि का पान कहता है। "पेड़ी हुत सुनि-राशि वखानूँ।"[2] यहाँ पेड़ी मूलाधार या प्रथम शून्य अवस्था का प्रतीक है और सुनिराशि सर्वशून्य अवस्था का। पहली तीन अवस्थाओं की तुलना में पद्मावती रूपी सर्वशून्य अवस्था असीम और अनन्त है, उसे ही कवि ने पद्मावती का वड़ा संसार कहा है। उस संसार में प्रवेश-हेतु इस शरीर को गाड़कर मृत कर देना या विरह की अग्नि में भस्म करना आवश्यक है–

"सुनि तुम्हार संसार वड़ौना, जोग लीन तन कीन्ह गड़ौना।"

इन प्रतीकों का प्रयोग हमें जायसी के पूर्ववर्ती कवियों के काव्य में भी उपलव्व होता है। मौलाना दाऊद ने चाँद के वियोग में लोरक की दशा का वर्णन इन्हीं

१– 'पदमावत'–पृ० ३५६, कवित्त सं० ३०८.
२– वही, पृ० ३६०, कवित्त सं० ३०६.
३– वही, पृ० ३६०, कवित्त सं० ३०६.

प्रतीकों के माध्यम से किया है। लोरक कहता है—

"पानु भएउ चाँदा तेहि जोगू, सिर देइ खेलेंउँ चित्त धरि भोगू।
गात किहेउँ जस अहसु सुपारी, खाँडि पीसि दोइ कीत्यों नारीं।
बिरह दगध हउ चूना कीन्हा, जरत नीर तेहि ऊपर दीन्हा॥"[१]

इसी प्रकार 'मिरगावती' में राजकुँवर के वियोग से व्यथित रूपमणि के कथन में इन प्रतीकों का प्रयोग द्रष्टव्य है—

"सूखि सुपारी भयउ बिनु नाहाँ, रंग पिय दियो और धनि काहाँ।
हौ पिय बिन डोलौ जस पानूँ, चून भयउ चित्त भाउ न आनूँ।
बिरह सरौता खाँडै किया, माँस न रहा सबै लै गया।"[२]

उपर्युक्त पंक्तियों में पान 'शून्य', सुपारी 'अतिशून्य', कत्था 'महाशून्य' और चूना 'सर्वशून्य' का प्रतीक है। रूपमणि कहती है कि 'चून भयउ चित्त भाव न आनूँ' अर्थात् प्रिय-वियोग में मैं चूना हो गयी हूँ; मेरे हृदय में कोई भाव नहीं रह गया है। हृदय में कोई भाव न रहना 'सर्वशून्य अवस्था' का प्रतीक है। इस अवस्था में हृदय समस्त वासनाओं एवं दोषों से रहित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त सूफ़ी-कवियों में जायसी के काव्य में मध्यकाल के अतिसरस और सटीक प्रतीक चौपड़ के खेल को भी अपनाया गया है। चौपड़ में रंग-बाजी का खेल स्त्री और पुरुष, प्रेमी और प्रेमिकाओं के मिलन या गुनद्ध-भाव का प्रतीक है। सहजयान और चर्यापदों में भी इस प्रतीक का प्रयोग उपलब्ध होता है; जैसा कि श्री शशिभूषणदास गुप्त ने लिखा है—"शून्य और अतिशून्य की दो पहली अवस्थाएँ वासना के दो प्राथमिक रूपों की सूचक हैं। तीसरा महाशून्य उन दोनों का स्वामी अविद्या चित्त है। पहले दो को मारकर फिर तीसरे को भी मारना होता है। इसी के लिये सहजयानी लोग शतरंज की परिभाषा का प्रयोग करते थे।"[३]

जायसी ने अपने 'पदमावत' में चौपड़ के खेल का वर्णन किया है। पद्मावती रत्नसेन के यह कहने पर कि मैं जन्म भर तुमसे अलग न हूँगा, कहती है—

"अैसे राजकुँवर नहि मानौं, खेलु सारि पासा तो जानौं।"[४]

यहाँ पर प्रयुक्त 'सारि पासा' पद 'युगनद्ध-भाव का प्रतीक है। पद्मावती के इस कथन के तीन अर्थ हैं। वह कहती है कि मैं यों ही तुम्हारी बात का विश्वास

१– 'चंदायन'–पृ० २०८.
२– 'मिरगावती' पृ० ३२५, कवित्त सं० ३०६.
३– 'आब्सक्योर रिलीजस कल्टस्' 'अल्पज्ञात धार्मिक सम्प्रदाय' पृ० ५६.
४– व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल–'पदमावत' (पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड) पृ० ३६५, कवित्त सं० ३१२.

नहीं कर सकती। यदि चौपड़-पासे के खेल में तुम युग बाँध सको (युगनद्ध हो सको) तो समझूँगी कि तुम अति प्रवीण हो। रतिक्रीड़ा में युगनद्ध हो सको तो जानूँगी कि तुममें सार है। योग में तुम इड़ा-पिंगला को मिला सको तो समझूँगी कि तुम कुण्डलिनी या सुषुम्णा से सान्निध्य प्राप्त कर चुके हो। उत्तर में रत्नसेन उसे अपनी अनन्य साधना का विश्वास दिलाता है और कहता है कि मैं कविलास में आकर युगनद्ध-भाव को प्राप्त हो गया हूँ-

"मारि सारि सहि हौं अस राँचा, तेहि बिच कोठा बोल न बाँचा।
पाकि गहे पै आस करीता, हौं जीतेहुँ हारा तुम्ह जीता।
मिलि कै जुग नहि होउँ निनारा, कहाँ बीच दुतिया देनिहारा।
अब जिउ जरम-जरम तोहि पासा, किएउँ जोग आएउँ कविलासा॥"[1]

इस दोहे में चौपड़ के खेल के प्रयुक्त जुग, जोग, कविलासा, बिचकोठा आदि शब्द काम-शास्त्र, योग एवं अध्यात्म अर्थों के भी प्रतीक हैं। कामशास्त्र (प्रेम-पक्ष) में 'जुग' शब्द 'स्त्री-पुरुष' का प्रतीक है और योग-पक्ष में 'इड़ा' और 'पिंगला' नाड़ियों का। 'जोग' अध्यात्मपक्ष में 'योग' का और प्रेमपक्ष में 'जोड़ा' का प्रतीक है। इसी प्रकार कविलासा शब्द प्रेमपक्ष में 'महल के उस ऊपरी भाग, जहाँ राजा-रानी रहते थे, का प्रतीक है और योग-पक्ष में ब्रह्माण्ड-चक्र' का प्रतीक है 'बिच कोठा' शब्द प्रेम-पक्ष में 'उस सभा-मण्डप या दरबार-आम' का प्रतीक है जहाँ राजा राजकार्य करते थे, किन्तु योगपक्ष में यह शब्द 'शरीर के मध्य में स्थित हृदय-गुहा' का प्रतीक है जिसमें अनहद-नाद सुना जाता है।

७ २ पौराणिक प्रतीक

प्रतीक धर्म, कर्म, गुण और रूप के अनुसार ग्रहण किये जाते हैं। धर्म, कर्म या रूप आदि की साम्यता के लिये जब किसी ऐसे व्यक्ति का नाम प्रतीक-रूप में ग्रहण किया जाता है जो पुराण प्रसिद्ध है तो ऐसे प्रतीकों को पौराणिक प्रतीकों की संज्ञा दी जाती है; उदाहरणार्थ नारद और विभीषण के नाम को प्रस्तुत किया जा सकता है। ये कर्मगत पौराणिक प्रतीक हैं। 'नारद' ऐसे व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है जो इधर-उधर चुगली करके आपस में लड़ाई-झगड़ा करवाने में सिद्धहस्त होते हैं। इसी प्रकार विभीषण का प्रतीक-रूप में प्रयोग घर के भेदिये के लिये होता है।

इस प्रकार के प्रतीक आदिकाल से ही साहित्य-क्षेत्र में प्रयुक्त होते आ रहे हैं; यथा—

"सुनि बज्जन राजन चढिग बहु पष्षर समहाउ।
मनहु लंक विग्रह करन चलउँ रघुपति राउ॥"[2]

१— व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल—'पदमावत', (पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड) पृ० ३७२.

२— संपादक—डॉ० माताप्रसाद गुप्त, —पृथ्वीराज राउस' पृ० १८०.

'पृथ्वीराज रासउ' की उपरोक्त पंक्तियों में लंका 'कन्नौज राज्य' का प्रतीक है और रघुपति राउ (श्री रामचन्द्र जी) 'दिल्लीश्वर पृथ्वीराज' का।

यद्यपि ये प्रतीक परम्परागत प्रतीकों की श्रेणी में आते हैं किन्तु प्रतीकों का अर्थ बदलते रहने के कारण 'नयी कविता' में ऐसे उपमानों को नये अर्थों से संवलित करके ग्रहण किया गया है; यथा -हरिनारायण व्यास ने अपनी 'एक मित्र' शीर्षक कविता में युद्ध में त्रस्त नारियों का वर्णन द्रौपदी और दुःशासन के प्रतीकों के माध्यम से किया है–

"द्रौपदी-सी चीखती नारियाँ निर्वस्त्र
जिनके चीर दुःशासन कहीं पर
फेंक आया खैंचकर।"

प्रस्तुत कविता में द्रौपदी को 'असहाय पीड़ित तथा संकटग्रस्त नारियों के' तथा दुःशासन को 'अत्याचारियों' के प्रतीक-रूप में ग्रहण किया गया है।

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी परम्परा से चले आ रहे इन पौराणिक प्रतीकों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। रूपमुरारि, राम, सीता, रावण, हनूमान, नल, दमयन्ती, अर्जुन, द्रौपदी, बाली, सुग्रीव आदि पौराणिक व्यक्तियों को प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया है। 'चंदायन' में रूपमुरारि, सहदेव, भीम, राघव आदि पौराणिक नामों का प्रतीक-रूप में प्रयोग दृष्टव्य है––

"अति विधवाँस पंडित ते बड़े, रूपमुरार दयी के गढ़े।"[1]

अर्थात् रूपमहर के सैनिक विद्वता में पंडितों से भी बड़े थे और रूप में विधाता ने मानों कृष्ण के समान सुन्दर बनाया था। इस प्रकार रूपमुरार (कृष्ण) यहाँ रायमहर के सैनिकों के सौन्दर्य का प्रतीक बन गये हैं।

"पंडित पढ़ा खरा सहदेऊ, चार वेदजित जाय न कोऊ।
भीम बली भोज कै जोरा, राघो बंसक कुंकु लोरा॥"[2]

यहाँ पर सहदेव, भीम, राघो—ये सभी पौराणिक व्यक्ति लोरक के प्रतीक हैं। मैना चांद से कहती है कि लोरक पांडित्य में सहदेव के समान है; चारों वेदों में उसे कोई जीत नहीं सकता। बल में वह भीम के समान है और रघुवंशी-वंश का है। 'मिरगावती' में रावण, सीता, राम, वाली और कृष्ण का उस स्थल पर प्रतीक-रूप में प्रयोग हुआ है जब राजकुँवर राक्षस को मारकर उसके बन्धन में पड़ी हुई राजकुमारी रूपमणि को छुड़ाकर उसके माता-पिता के पास लाता है–

१-सं० डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त—'चंदायन' पृ० ६१.
२-वही, पृ० २३०.

"लोग नगर सब देखैं धावा, रावन मार सिय लै आवा।
यहै राम जैं मारेउ वारी, इहै कान्ह जैं नाथसि कारी।।"[१]

यहाँ रावन राक्षस का और सिय (सीता) राजकुमारी रूपमणि का, राम तथा कान्ह राजकुँवर का एवं वारी (वाली) राक्षस का प्रतीक है।

इसी प्रकार विवाहोपरान्त एक दिन जब राक्षस राजकुँवर को उड़ाकर ले जाता है तब रानी मिरगावती वियोग-व्यथित हो स्वयं के लिये दमयन्ती का और राजकुँवर के लिये नल का प्रयोग करती है—

"को नल आनि दमावति पासा, मरौं वियोग उरध-हम साँसा।[२]

'मधुमालती' में राम, रावन और सीता का पौराणिक प्रतीक-रूप में प्रयोग हुआ है—

"दोसर राम औतरा आई, रावन हरी जो सिया छोड़ाई।"[३]

यहाँ राम 'राजकुँवर' मनोहर का, रावन राक्षस का और सिआ (सीता) 'राजकुमारी प्रेमा' का प्रतीक है।

राम, रावण के इन प्रतीकों का प्रयोग 'पद्मावत' में भी उपलब्ध होता है। पद्मावती की सखियाँ उसके स्वप्न पर विचार करती हुई कहती हैं कि—

"किछु पुनि जूझ लागि तुम्ह रामा, रावन सौं होइहि सँगरामा।"[४]

राम नायक रत्नसेन का प्रतीक है और रावन गन्धर्वसेन का।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में श्रवणकुमार एवं राजा दशरथ का प्रतीकात्मक प्रयोग दृष्टव्य है—

"सरवन ! सरवन ! ररि मुइ माता काँवरि लागि।
तुम्ह बिनु पानि न पावैं दसरथ लावैं आगि।।"[५]

'चित्रावली' में हनूमान को सिद्ध परेवा का, सीता को चित्रावली का, राघव को सुजान का और रावण को विरह का प्रतीक माना गया है—

"हनिवंत कहा सीय कुसलाता, राघव बदन सुनत भा राता।'[६]

१-'मिरगावती पृ० १९९, कवित्त सं० १४५.

२-वही, पृ० ३०८, कवित्त सं० २८२.

३-'मधुमालती'—राकसमारि—पेमहि-लै-चला-खण्ड-पृ० ८७.

४-'जायसी-ग्रंथावली'-वसंत-खण्ड-पृ० ८५, कवित्त सं० १६.

५-वही, (नागमती-संदेश-खंड) पृ० १६०, कवित्त सं० ४.

६-'चित्रावली"-(सिद्धसमागम-खड) पृ० १७८, कवित्त सं० ४६७.

"सीता रावन वस परी, करी न कोटि उपाइ।
तो लहुँ नाहि उधार निजु, जौलहुँ राम न जाइ ॥"[१]

इन परम्परागत पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से 'इन्द्रावती' की निम्नलिखित पंक्तियों में भावों की जो अभिव्यक्ति हुई है, वह दर्शनीय है--

"अर्जुन धनुर्धधारी कहाँ, राहु सो वेधै आइ।
मीटै पन अति गाढ़ा, द्रौपदी व्याही जाइ ॥"[2]

अर्जुन 'नायक' का, 'मत्स्य-वेध समुद्र से मोती निकालने' का और द्रौपदी नायिका इन्द्रावती का प्रतीक है। इन्द्रावती के पिता ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो समुद्र में प्रवेश कर उससे मोती निकालने में सफल होगा, उसी के साथ इन्द्रावती का विवाह होगा। उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त अर्जुन, राहु-वेध और द्रौपदी के प्रतीकों द्वारा इस भाव को व्यंजित किया गया है कि कौन व्यक्ति अर्जुन की भाँति प्रतिज्ञा पूरी कर उससे विवाह करने में समर्थ होगा।

७.३ साहित्यिक प्रतीक

ऐसे प्रतीक जो आदिकाल से एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते आ रहे हैं, परम्परागत साहित्यिक प्रतीक कहे जाते हैं। इन प्रतीकों के चयन में कवि सदैव इस बात का ध्यान रखता है कि उसके हृदय में जिस भाव का उदय हुआ है उस भाव को जाग्रत करने वाले शब्दों को ही वह प्रतीक-रूप में चुने, यथा—'ज्योत्स्ना' शीतलता, शुभ्रता और सौन्दर्य के भाव को जाग्रत करता है। अतः जब कवि शीतलता, शुभ्रता और सौन्दर्य के भाव का बोध कराना चाहता है तब वह 'ज्योत्स्ना' शब्द का प्रतीक-रूप में प्रयोग करता है।

हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपनी नायिकाओं का सौन्दर्य-चित्रण करते समय अधिकांशतः परम्परागत प्रतीकों का ही आश्रय लिया है। नायिका के सौन्दर्य-लक्षणों का वर्णन करते हुए उनके केशों का काला, सुकुमार और कुटिल होना आवश्यक बताया गया है। इसके लिये भ्रमर, नाग, राहु, नागिन, लहरमयी यमुना, वासुकि आदि उपमान भारतीय काव्य-परम्परा में प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुए हैं। सूफी-प्रेमाख्यानों में भी इन प्रतीकों के माध्यम से नायिका के केशों की सुन्दरता का वर्णन किया गया है–

१-'चित्रावली'–(सिद्धसमागम-खण्ड) पृ० १७८, कवित्त सं० ४६७.
२-'इन्द्रावती' (फाग-खण्ड) पृ० ३६, कवित्त सं० १८.

"नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा ।"[1]
"ससि कै सरन लीन्ह जनु राहाँ ।"[2]
"लहरैं देइ जनहुँ कालिंदी ।"[3]
"लहर लेहिं विषधर विष भरे ।"[4]

माँग के वर्णन में सूफ़ी-कवियों ने सर्वत्र खड्ग के प्रतीक को अपनाया है; यथा-

"नाग स्वरूप सोहागिनि जानहुँ खरग कै धार ।"[5]

भारतीय साहित्य में इस प्रतीक को बहुत कम अपनाया गया है, इसे फारसी-काव्य में अधिक प्रतिष्ठा मिली है। इसी प्रकार माँग के लिये दीपक प्रतीक भी फारसी-कवियों में ही अधिक मान्य रहा है, हिन्दी के सूफी-कवियों ने भी इसका प्रयोग किया है–

"माँग स्वरूप देखि जिउ हरई, दीपक वदन जोति तो वरई ।"[6]

माँग के वर्णन में इन फारसी प्रतीकों को अपनाने के साथ-साथ इन कवियों ने सुरसती, त्रिवेणी, दामिनि आदि भारतीय प्रतीकों को भी ग्रहण किया है–

"जमुना माँह सुरसती देखी ।"[7]
"जनु घन महँ दामिनि परगसी ।"[8]

नेत्र-वर्णन में भी इन कवियों ने विविध प्रतीकों की योजना की है, जिनमें से कुछ परम्परागत हैं और वे फारसी या भारतीय काव्य में बराबर प्रयुक्त होते आये हैं, यथा—

"राते कँवल करहिं अलि भवाँ ।"[9]

राते कँवल नेत्रों के कोएँ के प्रतीक हैं और अलि पुतलियों के। इन प्रतीकों द्वारा कवि ने नायिका के नेत्रों की चपलता और उनका श्याम व रक्तिम होना व्यंजित

१-सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल-'जायसी-ग्रंथावली'-(पदमावत-मानसरोदक खण्ड) पृ० २४.
२-वही,
३-वही, पदमावती-रूप-चर्चा-खण्ड, पृ० २१०.
४-'चित्रावली' (परेवा-खण्ड) पृ० ६६, कवित्त सं० १७७.
५-'मधुमालती' सिगार-खण्ड, पृ० २६.
६-वही,
७-'जायसी-ग्रंथावली'-नख-शिख-खण्ड पृ० ४१.
८-वही,
९-वही, पृ० ४२.

किया है। नेत्र का यह (कमल) उपमान संस्कृत-साहित्य से लेकर आज तक प्रयुक्त होता आ रहा है। यह प्रतीक आदिकाल से ही कवियों को इतना अधिक प्रिय रहा है कि उन्होंने नायिका के नेत्र, हाथ, पैर और कहीं-कहीं नायिका के लिये ही इसका प्रयोग किया है; यथा–'प्रसन्नराघवम्' नाटक में महाकवि श्री जयदेव ने सीता जी के लिये 'कुवलयलोचना' शब्द को प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया है–

"·········श्रृंगारस्य रहस्यमुत्पलदृशस्तत् किञ्चिदालोकितम्······।"[१]

चन्दरबरदायी ने कमलों को नायिका पद्मावती के सम्पूर्ण अंगों का ही प्रतीक मान लिया है––'विगसि-कमल-स्त्रिग।' इन कवियों ने नेत्रों के लिए तुरंग का भी प्रतीक-रूप में प्रयोग किया है; यथा–

"उठहि तुरंग लेहि नहि बागा, चाहहि उलथि गगन कँह लागा।"[२]

नेत्रों के लिए प्रयुक्त तुरंग का यह प्रतीक भी अति ध्वनिपूर्ण है और साथ-ही-साथ परम्परागत भी है। नायिका मुग्धा है। उसके नेत्र किसी रूप और शक्ति के सजीव संघात को ढूढ़ने के लिये बार-बार आगे की ओर भागना चाहते हैं किन्तु लाज की लगाम उनको मर्यादा में रखने का प्रयास करती है।

इसके अतिरिक्त खंजन और मृग के माध्यम से भी कवियों ने नेत्रों के सौंदर्य को व्यंजित किया है; उदाहरणार्थ खंजन के उपमान द्वारा व्यक्त 'अमरूकशतक' की नायिका का नेत्र-सौन्दर्य दृष्टव्य है–

"लोलेदृशौ रूचिर चन्चल खन्जरीटौ।
तद्बन्धनाय सुचिरार्पित सुभ्रु चाप
चाण्डाल पाश युगलाविव शून्यकार्णौ॥"[३]

खंज़न और मृग के प्रतीकों द्वारा हिन्दी के सूफी कवियों ने भी नेत्र-सौन्दर्य की व्यंजना की है–

"का बरनौं जो खंजन जोरा, हरा चित्त देखत तन मोरा।"[४]

१-व्याख्याकार-पं० शेषराज शर्मा शास्त्री-'प्रसन्नराघवम्' पृ० १२२.
२-'जायसी-ग्रंथावली'–नख-शिख-खंड-पृ० ४२.
३- उनपर चंचल नयन
रुचिर चंचल खंजन हैं,
सूने कान व्याध के पाश युगल से
भौंह चाप पर चढ़े फाँसने को खंजन को।
अनु० कमलेशदत्त, त्रिपाठी-'अमरूकशतक'-पृ० १६३.
४-'मधुमालती'-पेमा का दुख-खंड-पृ० ७०.

"खंजन लरहिं मिरिग जनु भूले ।"[1]
"खजन जानु सरद रितु आये ।"[2]
"कै दुइ मिरिग लरत सिर नाँचे ।"[3]
"घूंघट पट के वोट मधि दुलहिन निरखत नाहिं ।
"कनक सरीके पींजरे खंजन जनु अकुलाहिं ।।"[4]

सूफी-कवियों के रूप-सौन्दर्य का मुख्य प्रतीक पारसरूप है । पारस भारतीय साहित्य के निर्गुण-ब्रह्म के प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हुआ है; यथा—पुष्पदंताचार्य ने गंगा की स्तुति करते हुए इस प्रतीक का प्रयोग किया है—

'अयः स्पर्शेलग्नं सपदिलभले हेमपदवी·········' जैसे स्पर्शमणि अर्थात् पारस (निर्गुण-ब्रह्म) का स्पर्श कर लोहा (जीवात्मा) सोना हो जाता है ।·········

हिन्दी-साहित्य में भी इस पारस प्रतीक का प्रयोग उपलब्ध होता है; यथा—

"हमारे प्रभु औगुन चित्त न धरो ।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर वधिक परो ।
सो दुविधा पारस नहि जानत, कंचन करत खरो ।"[5]

अर्थात् जैसे लोहा चाहे पूजा में रखा हुआ हो और चाहे वधिक के घर का हो, किन्तु पारस अपने स्पर्श से दोनों को ही स्वर्ण वना देता है उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने भक्तों के बीच ऊँच-नीच का, अमीर-गरीब का कोई भेद-भाव नहीं रखता, बल्कि दोनों पर ही समान दृष्टि रखकर उनका कल्याण करता है ।

एक और स्थल पर भी सूर ने इसका प्रयोग किया है—

"सोहत लौह परसि पारस ज्यों सुवरन बारह बानि ।
पुनि वह चोप कहाँ चुंवक ज्यों लपटाय लपटानि ।।"[6]

यहाँ लोहा जीव का, पारस निर्गुण ब्रह्म का और चूंवक सगुण ब्रह्म (कृष्ण) का प्रतीक है ।

हिन्दी के सूफी-कवियों ने भी पारस को निर्गुण ब्रह्म का प्रतीक माना है, किन्तु साथ ही उसे इन कवियों की अपेक्षा अधिक मधुर रूप में अपनाया है । इनके

१-'जायसी-ग्रंथावली'-नख-शिख-खंड-पृ० ४३.
२-'चित्रावली' परेवा-खंड-पृ० ७१, कवित्त सं० १८१.
३-वही.
४. 'ज्ञानदीप' उद्धृत—'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० ४२८.
५. सं० डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम'—'सूर-संचयन' पृ० ११९, पद सं० ३२.
६. वही, पृ० १७२, पद सं० २२६.

काव्य में प्रयुक्त पारस रूप वह रूप है जिसकी स्पर्श-दीप्ति से समस्त संसार में लावण्य और माधुर्य छा जाता है। 'पदमावत' में इस पारस रूप का सुन्दर चित्रण हुआ है-

"कहा मानसर चाह सो पाई, पारस-रूप इहाँ लगि आई।
भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे, पावा रूप-रूप के दरसे॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर समीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥"[1]

इसी प्रकार निम्नांकित पंक्तियों में ललाट की कान्ति का वर्णन करते हुए जायसी ने उसकी लोकोत्तर तथा सृष्टिव्यापी ज्योति का भी वर्णन किया है। वे समस्त विश्व की ज्योति को उसी की ज्योति से द्योतित और प्रोद्भासित मानते हैं--

"पारस-जोति लिलाटहि ओती, दिस्टि जो करै होइ तेहि जोती।"[2]

अधम पात्र अलाउद्दीन ने भी उस 'पारस-रूप' की दर्पण में एक झलकमात्र प्राप्त की थी, परन्तु उतने से ही उसे ज्ञात हुआ कि धरती और स्वर्ग सभी सोना हो गये हैं-

"देखि एक कौतुक हौं रहा, रहा अँतरपट पै नहि अहा।
सरवर देख एक मैं सोई, रहा पानि, पै पानि न होई॥"
सरग आइ धरती महँ छावा, रहा धरति, पै धरत न आवा।
तिन्ह महँ मुनि एक मंदिर ऊँचा, करन्ह अहा, पर कर न पहुँचा॥
तेहि मंडप मूरति मैं देखी, बिनु तन, बिनु जिउ जाइ बिसेखी।
पूरन चंद होइ जनु तपी, पारस-रूप दरस देइ छपी॥"[3]

अस्तु, स्पष्ट है कि जायसी के रूप-सौन्दर्य वर्णन का मुख्य प्रतीक 'पारस' है।

७·४ अन्य

इसके अतिरिक्त इन कवियों ने उन परम्परागत प्रतीकों को भी अपनाया है जिनके माध्यम से कवियों ने नायक और नायिका के, जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम को व्यंजित किया है; ऐसे प्रतीकों में कमल और सूर्य, चन्द्रमा और चकोर, दीपक

---

१. 'जायसी-ग्रन्थावली'-मानसरोदक-खंड-पृ० २५.
२. वही, (पदमावती-रूप-चर्चा-खंड) पृ० २११, कवित्त सं० ६.
३. वही, चित्तौर-गढ़-वर्णन-खंड-पृ० २५७-२५८, कवित्त सं० २०.

एवं पतिंगा, चुम्बक और लोहा, गुलाब और भ्रमर, राग और हिरण प्रमुख हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से कवि साधक और साध्य के बीच के व्यवधान की ओर संकेत करता है। सूर्य और कमल के बीच आकाश का जो व्यवधान है, वह भी उनकी प्रीति में बाधक नहीं होता; चन्द्रमा और चकोर की प्रीति में भी यही अन्तर है। इस अन्तर के होते हुए भी ये प्रेम-प्रतीक इस रूप में आदर्श हैं कि इनका प्रेम एकनिष्ठ है।[1] अपने प्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी की उपस्थिति इन्हें आनन्द नहीं दे पाती। पतंगा यह जानकर भी वह दीपक के सम्पर्क में भस्म हो जायेगा, दीपक से प्रेम करना नहीं छोड़ता; हिरण यह जानकर भी कि राग का मोह उसकी मौत का फन्दा है, राग के वशीभूत होता है। सामान्यतया सभी हिन्दी के सूफी-कवियों ने इन प्रतीकों का प्रयोग किया है–

"तौ उत्तम का ध्यान भला है, कमल सुरुज की प्रीति निवाहै।
कहाँ मयंक कहाँ ससिनेही, दीपक कहाँ कहाँ तमगेही॥"[2]
"आनवस्तु पर उपनत दोहा, चुम्बक पाहन चाहत लोहा।
देखौ पतंग गृह्य मन रीझा, मन भावन मग ऊपर सीझा॥
पंकरुह तिमिरारि लुभाना, जलमहँ ताहि देखि विगसाना।
पाइ गुलाव गुलाव सनेही, चहचहात आनन्दत देही।
भ्रमरकोस मृगमद नितरागी, प्रेम की रीत निरार सुभागी॥"[3]

+ + +

"कहाँ चाँद कहँ रहइ चकोरा, प्रीत लाग चितवत तेहि ओरा।
औ अरविन्द रहै जलमाहीं, रवि सेवत तेहि जोगे नाहीं॥
दादुर कँवल सनेह न पावै, वन सो मधुकर तेहि नित धावै॥"[4]

इस प्रकार इन प्रतीकों के माध्यम से इन कवियों ने साधक और साध्य के प्रेम को व्यंजित किया है। 'सारस-जोरी' और 'हंस-जुगल' को दाम्पत्य-प्रेम का प्रतीक माना गया है। 'अभिज्ञान शाकुतलम्' में कवि कालिदास ने दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला

---

१. 'शशि चकोर अरविंद अलि, दिय पतंग मृगराग।
जिन विन चल्यो न क्यों तजे, जदपि एक अनुराग॥"
ले-डॉ० अम्बाशंकर नागर–'गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ' पृ० ७६.
२. 'अनुराग-बाँसुरी'–पृ० १०४.
३. वही, पृ० ११२.
४. 'इन्द्रावती'-मालिन-खंड-पृ० ४४, कवित्त सं० ८.

का जो चित्र अंकित कराया है, उसमें हंस-युगल का चित्र अंकित करना[1] दाम्पत्य-प्रेम का द्योतक है। परम्परा से चले आ रहे इस प्रतीक को सूफ़ी-कवियों ने भी ग्रहण किया है–

"राजकुँवर मिरगावति रानी, सारस जोरी दयी जो आनी।"[2]

यहाँ सारस जोरी 'राजकुँवर और रानी मिरगावती के दाम्पत्य-प्रेम' का प्रतीक है–

"सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह।
झुरि झुरि पींजर हौ भई, बिरह काल मोहि दीन्ह॥"[3]

यहाँ 'सारस जोरी' कहकर नागमती ने अपने और रत्नसेन के प्रेम को व्यंजित किया है।

इसके अतिरिक्त कोयल, चातक, मयूर, चकई-चकवा आदि प्रतीकों के माध्यम से भी इन कवियों ने नायक-नायिका के प्रेम-पीर की अभिव्यंजना की है–

"कुहू कूहू करि कोइल राखा,
पपीहा नित बोलै पिउ पीऊ।"

इसी प्रकार 'छिताई-वार्ता' में भी छिताई की प्रेम-पीर को निम्नलिखित प्रतीकों के माध्यम से व्यंजित किया गया है–

"इकु कोइल अरु चकई, मोर
इकु वसंत अरु सलिल झकोर॥
सारस सबद सुनावै पीव।
बिकलित बदन सुन्दरी जीव॥"[4]

सौन्दर्य एवं प्रेमपरक इन प्रतीकों का चयन करने के साथ-साथ इन कवियों ने परम्परा से चले आ रहे अन्य साहित्यिक प्रतीकों को भी अपनी अभिव्यंजना-शैली का माध्यम बनाया है। अमृत और विष, फूल और काँटा को सुख एवं दुःख का, प्रसन्नता एवं अवसाद का प्रतीक माना गया है। सूफी-कवियों ने भी इनका इसी अर्थ में प्रयोग किया है; यथा–

---

१. 'कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्त्रोतोवहामालिनी'
टीकाकर–डॉ० सुरेन्द्रदेव शास्त्री-'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पृ० ३९७.
२. 'मिरगावती' पृ० १६६, कवित्त सं० ९६.
३. 'जायसी-ग्रंथावली', पृ० १५१.
४. 'छिताई-वार्ता' पृ० ६५-६६.

वर्तित हो जाते हैं। नागमती की इस अवस्था का वर्णन जायसी ने फूल और काँटे के प्रतीक से इस प्रकार किया है–

"मो कहँ फूल भये सब काँटे, दिस्टि परत अस लागहिं चाँटे।"[१]

फूल और काँटे का यह परम्परागत प्रतीकात्मक प्रयोग 'मधुमालती' में भी द्रष्टव्य है–

"बिना काँटे जग फूल न आवा।"[२]

अर्थात् संसार में बिना दु:ख के सुख का आगमन नहीं होता।

अस्तु, स्पष्ट है कि इन हिन्दी के सूफी-कवियों ने परम्परा से चले आ रहे इन प्रतीकों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाकर इनकी परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा है।

१- 'जायसी-ग्रन्थावली'-नागमती-वियोग खंड पृ० १५६, कवित्त सं० १३.

२- 'मधुमालती'–विछोह-खंड पृ० ४४.

८ | साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक-योजना

जो प्रतीक किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित होते हैं और जिनका प्रयोग केवल साधनात्मक क्रियाओं की अभिव्यक्ति के लिये होता है, उन प्रतीकों को साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक कहा जाता है। सिद्ध, नाथ, संत और सूफ़ी-कवियों का साहित्य सम्प्रदायगत साहित्य के अन्तर्गत आता है; इनकी साधना के अपने-अपने पृथक क्षेत्र हैं और इनके काव्य में प्रयुक्त प्रतीक साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक कहे जाते हैं।

जिस सम्प्रदाय की जैसी साधनात्मक क्रियाएँ होती हैं, उसके अनुकूल ही उस सम्प्रदाय में प्रतीकों का प्रयोग होता है। चूंकि सूफ़ी-सम्प्रदाय की साधना एक प्रेम-साधना है अतः इस सम्प्रदाय के कवियों के काव्य में प्रेम व सौन्दर्य सम्बन्धी प्रतीकों का ही विपुल प्रयोग हुआ है। इन प्रतीकों के साथ ही सूफ़ी-कवियों ने कुंडली-योग, हठयोग और तंत्र-मंत्र साधना के प्रतीकों को भी स्वीकार किया है। साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक-योजना के अन्तर्गत इनके काव्य में तीन प्रकार की साधनाओं के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है–

१– प्रेम-सौन्दर्य सम्बन्धी

२– साधना सम्बन्धी (अ) कुंडली योग (ब) हठयोग।

३– तंत्र-मंत्र सम्बन्धी।

८.१ प्रेम-सौन्दर्य सम्बन्धी प्रतीक

सृष्टि के विकास का मूल कारण रति या वासना है। 'वृहदरण्यकोपनिषद' में स्पष्ट कहा गया है कि आदि-पुरुष ने रमण की कामना से ही द्विधा फिर बहुधा रूप धारण किया। परमपुरुष की इस रमण-कामना की तृप्ति हेतु भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों को जुटाने की चेष्टा की गयी। विश्व के समस्त प्राचीन सभ्य देशों में देवदासी की प्रथा का पाया जाना इस बात

का पुष्ट प्रमाण है।[1]

सूफ़ी-मत में इस मादन-भाव की अभिव्यक्ति रति के माध्यम से हुई है। चूँकि भावना का सम्बन्ध सौन्दर्य और प्रेम से है अतः सूफियों ने ईश्वर की कल्पना या तो सौन्दर्य-रूप में की है या प्रेम-रूप में। प्रसिद्ध सूफी इब्नेसिना सौन्दर्यवादी थे और मंसूर हल्लाज प्रेमवादी। हिन्दी के सूफी-कवि इन दोनों से ही प्रभावित हुए हैं। उनका सम्पूर्ण काव्य सौन्दर्य और प्रेम की मधुर भावना से आप्लावित है। उन्होंने अपनी नायिकाओं के माध्यम से जिस सौन्दर्य का वर्णन किया है, उसमें पवित्रता है; एक अलौकिक आनन्द विधायक विशेषता है। उस दिव्य सौन्दर्य के साक्षात्कार से अज्ञान रूपी अंधकार नष्ट हो जाता है; जन्म-जन्मान्तर के पाप धुल जाते हैं। यही सौन्दर्य-भावना प्रेम का मूल कारण है। इसीलिये सूफियों ने प्रेम तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उनका विश्वास है कि परमात्मा से प्रेम करने पर वह भी जीव की ओर आकर्षित हो जाता है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि प्रेम का आनन्द पाने के लिये ही ब्रह्म ने सृष्टि-रचना की और जीव के हृदय में प्रेम उत्पन्न किया। यह प्रेम जीव के हृदय में सर्वदा वर्तमान रहता है। एक ओर तो यह प्रेम साधक के हृदय की समस्त कलुष भावनाओं, वासनाओं और आकांक्षाओं को विनष्ट कर हृदय को स्वच्छ एवं निर्मल कर देता है; और दूसरी ओर उसके हृदय को उस अनन्त सौन्दर्य के रस से परिपूर्ण कर देता है। उस समय साधक उस परब्रह्म के प्रेम में वेसुध वना रहता है उसकी चिरविरहावस्था परमात्मा कोपा ने के लिये उसे व्याकुल किये रहती है। प्रेम की यह पीर ही उन्हें संसार में सर्वाधिक मूल्यवान प्रतीत होती है।[2]

सूफ़ियों के अनुसार प्रेम अत्यधिक विरह विशिष्ट होता है। यही प्रेम-तत्त्व साधक को प्रेरणा देता है; इसी को पाकर वह उन्मत हो उठता है। रूमी ने इस स्थिति का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है–

It is the flame of love that fired me.
This is the wine of love that inspired me.

१– लेखक-डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत-'कवीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन' पृ०. ३८-३६.

२– "तीनि लोक चौदह खंड सवै परै मोहि सूझि।
प्रेम छाड़ि नहि लोन किछु जो देखौं मन वूझि॥"
"जायसी-ग्रंथावली"-राजा-सुवा-संवाद-खंड–पृ० ३९, कवित्त सं० ५.

Wouldst thou learn how lovers bleed.
Hearken, hearken tq the Reed."[1]

अर्थात् प्रेम की ज्वाला ने ही मुझे प्रज्वलित किया है। उसी की मदिरा ने मुझे उन्मत्त बनाया है। इस नर-कुल घास से यह सीख लो कि प्रेमी किस प्रकार से अपना रक्त बहाता है। यही दिव्य सौन्दर्य साधक को सिद्धि के द्वार पर ले जाता है—

"Love will not let his faithful servant's tire,
Immortal Beauty draws them on and on,
From glories upto glory, drawing nigher,
At each remove and loving to be drawn."[2]

अर्थात् प्रेम सच्चे प्रेमी को कभी थकने नहीं देता। उसे वह नित्य नवीन शाश्वत सौन्दर्य की अनुभूति कराता रहता है और वह प्रत्येक पद पर नित्य नयी विभूति प्रदान करता है।

रूमी के सदृश जायसी आदि भी सूफ़ी थे इसीलिये उन्होंने दिव्य सौन्दर्य और प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति की है।

सामान्यतः प्रेमासक्ति और रूपासक्ति का चिर और अन्योन्य सम्बन्ध रहा है। जहाँ प्रेम है वहाँ सौन्दर्य है, और जहाँ सौन्दर्य है वहाँ प्रेम। चूंकि सूफ़ियों का प्रधान प्रतीक है 'प्रणय' और उसका आलम्बन है प्रियतम माशूक इस प्रियतम की यह विशेषता है कि वह सुन्दरतम् ही नहीं अपितु सौन्दर्य का मूल स्रोत है तथा उसकी आभा यत्र-तत्र सर्वत्र ज्योतित हो रही है। उसका अस्तित्व, उसका सौन्दर्य शाश्वत है; अतः यदि उसका सानिध्य सुलभ हो सके तो तज्जनित आनन्द भी शाश्वत होगा। प्रसिद्ध सूफी-संत और दार्शनिक इब्नुल अरबी ने स्त्री- प्रेम को ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक माना है। उन्होंने अपने 'फ़ुसुसुल हिकाम' शीर्षक ग्रंथ में लिखा है, "जिस प्रकार ईश्वर की प्रतिच्छाया के रूप में मनुष्य का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार पुरुष की प्रतिच्छाया के रूप में स्त्री की स्थापना हुई। इसलिये व्यक्ति स्त्री और ईश्वर दोनो से प्रेम करता है। स्त्री का पुरुष से वही सम्बन्ध है जो ईश्वर का प्रकृति से है, अतः इस अर्थ में जब स्त्री से प्रेम किया जाता है तो वह प्रेम ईश्वरीय होता है"[3] अल गजाली ने लिखा है, "स्त्री-पुरुष

---

1. Bumi By Nicholson P. 43.
2. Rumi, By Nicholson, P. 30.
३. "मध्ययुगीन प्रेमाख्यान"—पृ० १९.

का प्रेम उस ईश्वर-मनुष्य-प्रेम के लिए एक पुल मात्र है। ईश्वर-प्रेम की प्राप्ति के लिये ही इसकी उपयोगिता है; उसकी अनुभूति कर लेने के बाद इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है।"[१] हिन्दी के सूफी-कवि प्रथम विचारधारा को स्वीकार करते हुए भी द्वितीय विचारधारा के पोषक हैं। समस्त हिन्दी–प्रेमाख्यानक कवियों ने नायिका को परब्रह्म का प्रतीक माना है (केवल कवि शेख निसार कृत 'यूसुफ जुलेखा और प्रेमदर्पण में नायक को प्रतीक माना गया है) और इनके रूप-सौन्दर्य के माध्यम से ईश्वरीय ज्योति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

नायिका के नख–शिख-सौन्दर्य के चित्रण में परब्रह्म के सौन्दर्य का आभास मिलता है; जैसे-मुख या 'कपोल' ईश्वरीय सौन्दर्य का प्रतीक है; उसमें दयालुता, उदारता, प्रकाश, रक्षण एवं संहार सभी शक्तियों का समन्वय है। सूफी-कवि जहाँ भी नायिका के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, उसे इसी समन्वित सौन्दर्य का प्रतीक बनाने का प्रयास करते हैं।[२]

'जुल्फ' या 'अलक' उस अज्ञान या अन्धकार का प्रतीक है जो जीवात्मा को वास्तविक सौन्दर्य देखने या सत्य-ज्ञान प्राप्त करने में बाधा डालता है। हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपनी नायिकाओं के सौन्दर्य–चित्रण के अन्तर्गत इस लटका वर्णन किया है। लगभग सभी प्रेमाख्यानों में नायक नायिका के मुख पर लट को अवलोक कर मूच्छित या वास्तविक सत्य से परे हो जाता है। कवि नूर मुहम्मद ने इसका विस्तार से वर्णन किया है–

"परी वदन पर लट सटकारी, तपी देवस भा निसि अंधियारी।
मोहि परा दरसन कर चेरा, हना बान धन आँखिन फेरा॥
एक कहा लट सो मुख शोभा, होत अधिक लखि मुरछा लोभा।
एक कहा लट नागिन कारी, डसा गरल सो गिरा भिखारी॥
एक कहा लट जामिन होई, रात जानि जोगी गा सोई॥"[३]

नायिका के मुख पर अंकित तिल एकत्व का प्रतीक है और इसी कारण

१– डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा 'पदमावत' की भूमिका के पृ० ५१ पर उद्धृत।

२– "चित्रावली झरोखे आई, सरग चाँद जनु दीन्ह दिखाई।
भयो अँजोर सकल संसारा, भा अलोप दिनकर मनियारा॥"
"चित्रावली"-दरसन-खण्ड-पृ० १०६, कवित्त सं० २७७.

३– "इन्द्रावती"-फुलवारी खण्ड (प्रथम-खण्ड) पृ० ६० कवित्त २९-३०.

काले तिल के रूप में चित्रित किया जाता है। साथ ही यह पूर्ण शून्य का भी प्रतीक है।[1]

इसी प्रकार भ्रू या भौंह भी परम सौन्दर्य का प्रतीक है और इस सौन्दर्य से समस्त संसार विधा हुआ दृष्टिगत होता है।[2]

इसी प्रकार नायिका के 'लब' या 'अधर' परमेश्वर की जीवनदायिनी शक्ति के प्रतीक हैं।[3] नायिका की आँख अथवा नेत्र-दृष्टि ईश्वरीय अनुकम्पा का प्रतीक है। जिस पर उसकी कृपा दृष्टि हो जाती है, वह सांसारिक माया-मोह के जाल से मुक्त हो जाता है।[4]

परब्रह्म की प्रतीकस्वरूप नायिका के इस सौन्दर्य को श्रवण कर, स्वप्न, चित्र या साक्षात् दर्शन द्वारा अवलोक कर नायक मूर्च्छित हो जाता है। नायक का बेसुध होना भक्त साधक की समाधि का प्रतीक है, जिसके माध्यम से (समाधि से) उसे ईश्वर सानिध्य की प्राप्ति होती है। होश में आने पर नायक प्रेम-साधना में लीन हो जाता है। उसका प्रियतम अगोचर है, अतः उसका हिजाब (पर्दा) भी प्रतीक हुआ तथा विप्रलम्भ एवं उसके अन्तर्गत की समस्त दशाएँ उद्दीपन, संचारी

१– 'तिल है सुन्न इकाई केरा, तेहि दिस करत जगत जिउ फेरा''।
–'इन्द्रावती' पाती खंड-पृ० ७०, कवित्त सं० ५.

''परछाहीं तिल एक ही सब नैनन्ह महँ जोति।'
–''चित्रावली''-परेवा खण्ड-पृ० ७१, कवित्त सं० १८३.

''जस मोंहि बिरह टूटि निल परा, जग मोहै कारन जस धरा।
सो तिल मुँह क भयउ सिंगारू, मुँह न खोर न खेली संसारू॥
तिह तिल साथ लागि जिउ गया, देखहु धाइ सबन हिय किया।''
–सं० डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त-'मिरगावती', पृ० १४६, कवित्त सं० ५६.

२– ''जा सहु हेर जाइ सो मारा, गिरवर टरहि भौंह जो टारा।''
''जायसी-ग्रंथावली'' (पदमावत) पृ० २११, क० सं० ७.

३– ''अधर तेहिक जिउदाता आही, देत भलो जीवन जस चाही''।
–''इन्द्रावती''-पाती-खंड-पृ० ७७, कवित्त सं० २६.

४–''जो काहू पर डारे डीठी, सो जन देइ जगत दिस पीठी।'' इन्द्रावती-मालिन-खंड-पृ० ४५, कवित्त ११.

''वर कामिनि चषु मीन सम, निमिष हेर तन जाहि।
बहुरि जनम भरि मीन जिमि, पलक न लागै ताहि॥'' चित्रावली, परेवा–खण्ड–पृ० ७१, कवित्त सं० १८१.

आदि भाव भी उसी के द्योतक हुए । संयोग उसका लक्ष्य हुआ । उसको उपलब्ध करना (फ़ना हो जाना) परम ध्येय हो गया । तदुपरान्त प्रेमी प्रियतम बन जाता है अतएव मृत्यु का आलिंगन प्रियतम के आलिंगन का प्रतीक समझा गया ।

इस प्रेम-साधना के मध्य दर्पण को साधक के हृदय का प्रतीक माना गया है, क्योंकि उसी दर्पण के मध्य साधक को परमेश्वर का दर्शन उपलब्ध होता है, अतः दर्पण का स्वच्छ होना आवश्यक है ।[1]

इस प्रकार सूफ़ी-कवियों ने नायक को जीव का और नायिका को ब्रह्म का प्रतीक मानकर दाम्पत्य-प्रेम की साधना के माध्यम से जीव और ब्रह्म के प्रेम का वर्णन किया है । इनकी इस साधना में प्रणय रूपी मदिरा त्रास निवारण का प्रतीक मानी गयी है–

"बिना कदम्बरि के पिये, त्रासन मन सों जात ।
दयावती होइ दीजिये, होलिक लागी प्रात ।।"[2]

वस्तुतः सूफ़ियों की प्रेम-साधना में पूर्णोल्लास प्राप्ति के साधनों में से प्रेम-सुरा का सेवन प्रमुख था, अतः सुरा, साकी (शराब पिलाने वाली) सागर (पात्र, प्याला) सराय (सुरापान करने का स्थान विशेष) तथा तज्जनित उल्लास, झूमना और बेहोशी सब-के-सब प्रतीक-रूप में ग्राह्य हुए हैं । एक विद्वान की सम्मति में "हाफिज की मदिरा आन्तरिक प्रसन्नता, सराय-पूजागृह और फारस का पुराना पुजारी आत्मिक गुरू है ।"[3] इस प्रकार इनकी प्रेम-साधना में सुरा आन्तरिक उल्लास, साकी परमात्मा तथा बेहोशी संसार से निर्लिप्त भाव के प्रतीक माने गये हैं ।

अस्तु, स्पष्ट है कि सूफी-कवियों ने प्रेम सौंदर्य सम्बन्धी साधना को अपनाकर जीव और ब्रह्म के प्रेम को व्यंजित किया है । उनके नायक जीव के और नायिका ब्रह्म की प्रतीक है । जीवरूपी नायक परब्रह्म की प्रतीक नायिका के सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होकर सांसारिक वासनाओं से विमुख हो जाता है और योगी होकर उसकी प्राप्ति-हेतु घर से निकल पड़ता है । तत्पश्चात् अनेक कठिनाइयों का सामना कर नायिका को प्राप्त कर नायक उसके प्रेम में लीन हो जाता है । प्रतीक-रूप में साधक परब्रह्म को प्राप्त कर उसके प्रेम में निमग्न हो जाता है और इस प्रकार वह दाम्पत्य-प्रेम की साधना द्वारा फ़ना की स्थिति को प्राप्त कर लेता है ।

१– "यह दरपन तुम्ह लेहु सँभारी, जेहि महँ देखहु दरस पियारी ।
अब नहि लावहु चित्त बैरागा, माँजत रहब जौ मैल न लागा ।।"
–'चित्रावली'–परेवा-आगमन-खण्ड, पृ० १०२, कवित्त सं० २६४.

२– 'इन्द्रावती'–पृ० ३४, कवित्त सं० ३६.

३– ईरान के सूफी-कवि-हाफिज पर लेख ।

८.२ साधना-सम्बन्धी प्रतीक

साधना-क्षेत्र में हिन्दी के सूफ़ी कवियों ने सूफी-साधना के साथ-साथ कुंडली योग तथा हठयोग साधना-पद्धति के प्रतीकों को भी स्वीकार किया है। कुंडली-योग सूफियों से पूर्वकाल की धार्मिक-साधना का प्रमुख अंग था। इसके अनुसार यह शरीर ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधि है, जो इस घट में है वही बाहर है; और जो बाहर है वही इस घट में है। सहजयानी, नाथ पंथी, हठयोगी, तांत्रिक तथा संतों सभी ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर प्रतीकों के माध्यम से इसकी अभिव्यक्ति की है। हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी इसे स्वीकार कर अपनी निम्नलिखित पंक्तियों में कुंडली-योग के इसी भाव को व्यंजित किया है--

"सातौं दीप नवौं खण्ड आठौं दिसा जो आहिं।
जो ब्रह्माण्ड सो पिण्ड है, हेरत अन्त न जाहिं॥"[१]

जायसी का अभिमत है कि ब्रह्म ने 'आदम' का सृजन कर यह कहा कि संसार में यह जगत के अनुरूप ही दूसरा जगत उत्पन्न हुआ अर्थात् जो ब्रह्माण्ड में है वही मनुष्य-पिण्ड में है।[२] ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानों एक बूँद में समुद्र समाया हुआ है-"बुन्दहि समुँद समान।"[३] यहाँ पर बुन्दहि 'मनुष्य-पिण्ड' का और समुँद 'ब्रह्म और समस्त ब्रह्माण्ड' का प्रतीक है और इस प्रकार इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह हुआ कि मनुष्य पिण्ड के भीतर ही ब्रह्म और समस्त ब्रह्माण्ड है।

अत: यह पिण्ड (शरीर) जो ब्रह्माण्ड का प्रतीक है, इसके भीतर ही उस दिव्य परम चैतन्य-ज्योति का साक्षात्कार प्राप्त किया जा सकता है जो विश्व में व्याप्त है। वही मानव में एक केन्द्र पर व्यक्त होती है। उसी की संज्ञा हृदय-कमल है। वेदान्त में कहा गया है-"उस ब्रह्म की नगरी में एक छोटा-सा कमल है, जिसमें छोटा-सा स्थान है। उसके भीतर जो छोटा-सा आकाश है, उसमें जो है उसे ढूढ़ो और उसे ही जानो।"[४] इस प्रकार हृदयकमल या हृदयाकाश के भीतर तत्त्व को ढूँढ़ने और पहचानने की जो पद्धति प्राचीन उपनिषद् काल में आरम्भ हुई थी, उसमें और निर्गुण संत-सूफ़ियों के दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं पड़ा। जायसी ने कहा है-

---

१- 'जायसी-ग्रन्थावली'-(अखरावट) पृ० ३०९, कवित्त सं० ८.

२- वही, पृ० ३०७, कवित्त सं० ६.

३- वही, पृ० ३०८, सोरठा ७.

४- 'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नं-
-तराकाशस्तस्मिन यदन्तः तदन्वेष्टव्यम्। तद् वावविजिज्ञासितव्यम्॥"
--छान्दोग्य उपनिषद ।१।१.

"अहुठ हाथ तनु सरवर हिया कँवल तेहि माँह,
नैनहि जानहु निअरे कर पहुँचत अवगाह ।।"[१]

इसमें हिया कँवल 'ब्रह्म का', नैन 'ज्ञान का', और कर 'भोग-प्रवृत्तियों' का प्रतीक है। इस प्रकार इसका प्रतीकात्मक अर्थ होगा—हृदय-कमल में ब्रह्म का निवास है; ज्ञान-चक्षुओं से तो उसका शीघ्र प्रत्यक्षीकरण हो जाता है, पर भोग-प्रवृत्तियों से वह अथाह हो जाता है। जायसी से लगभग सौ वर्ष पहले जैन निर्गुणमत में भी यही भाव व्यंजित हुआ था—

"हत्थ अहुट्ठहं देवली बालहं णाहि पवेसु,
संतु णिरञ्जणु तहि बसइ णिम्मल होइ गवेसु ।।"[२]

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने प्रेम-साधना के अन्तर्गत कुण्डली-योग के समस्त प्रतीकों को गृहीत किया है, जिससे उनके काव्य में भारतीयता का गहरा रंग आ गया है। 'सिंहलद्वीप' का वर्णन करते समय जायसी ने कुण्डली-योग के प्रतीकों का प्रयोग किया है—

"नव पौरी बाकी नव खण्डा,
नवहु जो चढ़ै जाइ ब्रह्माण्डा ।।"[३]

नव पौरी शरीर के नव-द्वारों का प्रतीक है, जिनका उल्लेख अथर्ववेद के 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोहया' वर्णन से मिलने लगता है। इन नवद्वारों के ऊपर दसवाँ द्वार है। ऐसा कहा जाता है कि सहस्त्रार का अमृत इसी दशमद्वार में होकर नीचे झरता रहता है। कुण्डलिनी जिस मार्ग से ब्रह्माण्ड या मस्तक में प्रवेश करती है उसी को दसवें-द्वार की संज्ञा दी गयी है, किन्तु साथ ही इस मार्ग का रास्ता अत्यन्त टेढ़ा होता है। इसका भेदन वही कर सकता है जो पिपीलका-मार्ग का अनुसरण करे। इसी भाव को जायसी ने अपनी निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है—

"दसवँ दुवार गुपुत एक ताका,
अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका।
भेदै जाइ सोइ वह घाटी,
जो लै भेद, चढ़ै होइ चाँटी ।।"[४]

१— व्याख्याकार—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल—'पदमावत' प्रेम-खण्ड, कवित्त सं० १२१—८-९,

२— पाहुड दोहा संख्या ९४,—उद्धृत—व्याख्याकार—श्री वसुदेवशरण अग्रवाल, 'पदमावत' (प्राक्कथन) पृ० ५२.

३— 'जायसी-ग्रन्थावली', पदमावत—सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड—पृ० १५, कवित्त सं० १६.

४— वही, —पार्वती-महेश-खण्ड—पृ० ९३, कवित्त सं० ६.

कुण्डली-योग की भाँति हठयोग-साधना के प्रतीकों को भी हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपने काव्य में प्रयुक्त किया है। 'सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति' में हठयोग की व्याख्या करते हुये बतलाया गया है कि 'ह' का अर्थ सूर्य है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र, इन दोनों के योग को ही हठयोग कहा जाता है–

"हकारः कथितः सूर्यष्ठकार चन्द्र उच्यते
सूर्यचन्द्रमसोयोगात् हठयोगो निगद्यते ॥"[1]

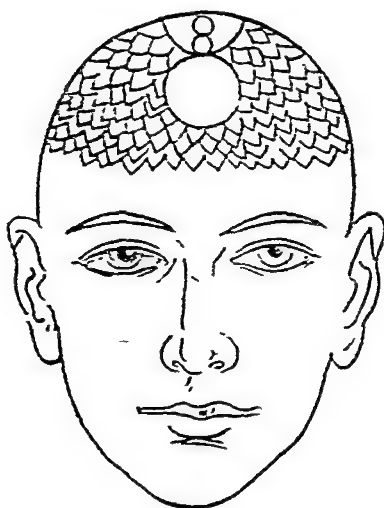
ऊपर के श्लोक में आये हुए सूर्य और चन्द्र की व्याख्या कई प्रकार से की गयी हैं। गोरक्षशतक में चन्द्र, सूर्य और अग्नि को क्रमशः इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का प्रतीक माना गया है।[2] 'हठयोग प्रदीपिका' में गंगा, यमुना और सरस्वती को इनका प्रतीक माना गया है।[3] इड़ा वाम भाग में स्थित है और पिंगला दाहिने भाग में तथा सुषुम्ना बीच में स्थित है। ये दोनों (इड़ा और पिंगला) काल (मृत्यु) का निर्देश करती है और सुषुम्ना काल का भक्षण करती है। 'गोरक्षशतक' में उसे ही योगी कहा गया है जो इन दोनों का योग करावे। सूफ़ी-कविवों ने नायक को सूर्य और नायिका को चन्द्र का प्रतीक मानकर इन दोनों का मिलन कराया है। मिलन परम-पद महासुख का प्रतीक है। इस महासुख को बौद्धों ने निर्वाण, शून्य और विज्ञान कहा है। ऐसा माना जाता था कि निर्माण में बोधिचित्त की अवस्था वैसी ही रहती है जैसी एक स्त्री के आलिंगन करने से होती है। तांत्रिक शक्ति के साथ मिलन को योग कहते हैं। बौद्धमत वाले परम सत्य से पाये जाने वाले आनन्द को प्रज्ञा कहते हैं और उनका कहना है कि सभी स्त्रियों में इस प्रज्ञा का निवास है अतएव उनके मतानुसार योगतंत्र की साधना बिना शक्ति के सम्भव नहीं है। गोरक्षशतक[4] में कहा गया है कि महामुद्रा आदि को जानने वाला मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। महामुद्रा सूर्य और चन्द्र को एक दूसरे की ओर चालित करती है। सूर्य को नायक और चन्द्र को नायिका का प्रतीक मानकर एक दूसरे की ओर आकर्पित होने और एक दूसरे के पास जाने की उत्कट अभिलापा का सूफ़ी-कवियों ने सुन्दर वर्णन किया है।

'पद्मावती' जब मढ़ी में रत्नसेन को देखने जाती है तब रत्नसेन उसके रूप को देखकर बेसुध हो जाता है; पद्मावती उसके हृदय पर चन्दन से निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखकर लौट जाती है–

१– 'नाथ-सम्प्रदाय' पृ० १२३ पर उद्धृत।
२– 'गोरक्षाशतक' (श्लोक ३२).
३– 'हठयोग-प्रदीपिका' (श्लोक ५१).
४– गोरक्षशतक (श्लोक ७६).
४– वही, (श्लोक ५७),

घरी आइ तब गा तू सोई, कैसे भुगुति परापति होई।
अब जौं सूर अहौ ससिराता, आएउ चढ़ि सो गगन पुनिसाता।।"[1]

इसमें 'भुगुति' शब्द महासुख का प्रतीक है। षटचक्रों से ऊपर सहस्रार चक्र सातवाँ गगन है, यही अन्तिम सातवाँ चक्र है, जहाँ शिव और शक्ति का मिलन होता है। यह सहस्रदलों का पद्म है, इसीलिये इसे सहस्रार कहते हैं। बालरवि के रंग से यह रञ्जित है। इसी पद्म में अमृत से सिक्त पूर्णचन्द्र है। इस पद्म में एक त्रिभुज है, जिसमें शून्य प्रकाशित हो रहा है। यहीं पर विन्दु है, यहीं ईश्वर है। इसके मध्य में ब्रह्म का आवास है। विन्दु के ऊपर संखिनी है। यह वह देवी है जो जन्म देती है;



सहस्रार चक्र

पालन करती है तथा विनाश करती है। इस पद्म में ही पूर्ण मिलन उन्मनी का अनुभव होता है। यहाँ संसार के समस्त बन्धनों से मुक्ति प्राप्त होती है और उस मुक्ति के आनन्द का उपभोग होता है। मायापाश से मुक्त शिव निर्वाण-शक्ति के साथ यहीं अवस्थान करते हैं। जहाँ इसकी प्राप्ति होती है उसे कृष्ण चर्यापाद ने महासुख का आवास कहा है जो मेरुगिरि के शिखर पर स्थित है।[2] जायसी ने निम्नलिखित पंक्ति में इसी का वर्णन किया है–

१– 'जायसी-ग्रन्थावली–बसन्त-खण्ड, पृ० ८४, कवित्त सं० १३.

२– "वरगिरि शिखर उतुंग मुनि शबेर जहि कि अवास।
न उसो लंघिअ पन्चाननेहि करिवर दुरिअ आस।।
एहु सो गिरिवर कहिअभनि एहु सो महासुअ थाव।"
–सं० हरप्रसाद शास्त्री (बंगाब्द १३२३), बौद्धगान ओ दोहा० पृ० १३०-१३१.

"सात खंड ऊपर कविलासू, तहँ सोवनारि सेज सुखवासू ।"[1]

सातखण्ड के ऊपर कैलाश की स्थिति तथा विभिन्न चक्रों के रंग का वर्णन योग-ग्रन्थों में मिलता है ।[2] षटचक्रों के भेदन के बाद शून्य-चक्र मिलता है जो सहस्त्रार कहलाता है, क्योंकि वह सहस्त्रदल कमल के आकार का है । उस सहस्त्रार को इस पिण्ड का कैलाश कहा गया है जहाँ पर शिव का निवास है ।[3] सूफी-कवियों ने 'विवाह-खण्ड' में वर-वधू के रहने के लिये जिस धवलगृह का वर्णन किया है, वह इसी कैलाश का प्रतीक है । इन कवियों ने धवलगृह के सात खंडों को सात रंगों के रत्नों से जड़ा हुआ बताया है । ये सात खण्ड योग के सात चक्रों के प्रतीक हैं । षटचक्रों के ऊपर सहस्त्रार-चक्र बताया गया है ।[4] 'हठयोग प्रदीपिका' में बताया गया है कि चित्त और प्राण को जब योगी अन्तर में, ब्रह्म में लीन कर देता है और दृष्टि निश्चल किये हुए बाहर, नीचे ऊपर देखता हुआ भी नहीं देखता तो यह शांभवी मुद्रा कहलाती है ।[5] जायसी के 'पदमावत' की निम्नलिखित पंक्ति इसी शांभवी मुद्रा का प्रतीक है—

"परगट लोकाचार कहुवाता, गुपुत लाउ जासौं मन राता ।"[6]

'हठयोग प्रदीपिका' में बतलाया गया है कि प्राणायाम के द्वारा जब श्वांस सुषुम्ना से होकर ऊपर की ओर उठती है तो इस क्रम में शरीर में कई प्रकार की अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं और योगी को कई प्रकार से अनाहत-नाद सुनायी पड़ते हैं । पहले वह नगाड़े जैसी आवाज सुनता है और क्रमशः जब श्वाँस उस स्थान पर पहुँचती है । जहाँ शिव का आवास है तब वह बाँसुरी की सुरीली आवाज जैसी आवाज सुनता है । वस्तुतः योगी की साधना का उद्देश्य 'लय' की प्राप्ति है और यह 'लय' नाद की साधना पर निर्भर करता है । इसी नाद को ध्यान में रखकर जायसी ने नौं दरवाजों तथा दसवें ब्रह्मरन्ध्र में राजघड़ियाल के बजने का वर्णन किया है—

१– 'जायसी-ग्रन्थावली'—पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड, पृ० १२८, कवित्त सं० १.

२– 'नाथ-सम्प्रदाय', पृ १२८.

३– वही, पृ० १२७, पर उद्धृत ।

४– "सात खण्ड धौराहर सातहुँ रंग नग लागु ।
देखत गा कविलासहि दिरिट पाप सब भागु ।।"
'पदमावत' —रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खंड, कवित्त सं० १७.

५– "अंतर्लक्ष्यविलीन चित्तपवनो योगी सदा वर्तते,
दृष्ट्वा निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्न पश्यन्नपि ।
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसदाद् गुरोः,
शून्याशून्य विलक्षणं स्फुरति तत्त्वं परं शांभवम् ।।"
—हठयोग-प्रदीपिका (४।३६)

६– 'पदमावत'—पार्वती-महेश-खण्ड, कवित्त सं० २१६.

"नवौं पँवरि पर दसौं दुआरू, तेहि पर बाज राज घरिआरू।"[1]

यहाँ पर दसवाँ दरवाजा 'ब्रह्मरन्ध्र' का और राजघरियार 'नाद' का प्रतीक है।

इसी प्रकार कुतुबन ने भी अपनी 'मृगावती' में 'हठयोग-साधना' के प्रतीकों को अपनाया है। राजकुँवर मृगावती को खोजते हुए राजमहलों में आता है और मृगावती द्वारा सखियों से यह पूछाये जाने पर कि वह क्या चाहता है? वह मृगावती की ही मांग करता है; इस पर सखियाँ मृगावती से आकर कहती हैं–

"शिखर ऊँच बड़ तरुवर औ फर लाग अकास।
करह करील न पहुँचै मनसा वै फर चाह बेरास॥"[2]

अर्थात् शिखर रूपी शरीर में मेरुदण्डरूपी वृक्ष है और उसका मुक्ति रूपी फल ब्रह्माण्ड रूपी आकाश में लगा हुआ है। सांसारिक माया जाल में आबद्ध व्यक्ति उस तक पहुँच नहीं पाते, किन्तु यह योगी उसी फल को पाना चाहता है यहाँ पर सिखर 'शरीर' का, तरुवर 'मेरुदण्ड' का, फल 'मुक्ति' का, 'आकास ब्रह्माण्ड' का और करह-करील "सांसारिक माय-जाल में बँधे हुए व्यक्तियों" का प्रतीक है। इन प्रतीकों के माध्यम से इसमें इस ओर संकेत किया गया है कि यह शरीर साधना का क्षेत्र है। शरीर में सबसे नीचे के चक्र में कुण्डलिनी शक्ति सुसुप्तावस्था में रहती है। साधना द्वारा इसे जाग्रत करने पर यह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर मेरुदण्ड के ऊपर चढ़ती हुई ब्रह्माण्ड तक पहुँचती है और साधक मुक्त हो जाता है; किन्तु यह मुक्ति साधक ही प्राप्त कर पाता है, सांसारिक माया-पाश से आबद्ध व्यक्ति नहीं।

इसी प्रकार नाड़ियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे संख्या में ७२००० हैं[3] जिनकी रक्षा काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह किया करते हैं। सूफी-कवियों में इन नाड़ियों के लिये सहस सैनिक तथा काम, क्रोध आदि के लिये पांच कोतवाल, बटमार आदि शब्दों को प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया है।[4]

१– 'पदमावत'–सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड, कवित्त सं० ४१.

२– सम्पादक–डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त, 'मिरगावती' पृ० २५३, कवित्त सं० २२१.

३– 'गोरक्ष-शतक' (श्लोक २५)।

४– "पँवरी नवौं वज्र कइ साजी, सहस-सहस तहँ बैठे पाजी।
फिरहिं पांच कोटवार सो भँवरी, काँपै पाँय चँपतवै पँवरी॥"

—'पदमावत'-सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड, कवित्त सं० ४१-२

"देखा गढ़ छीका सबै परघट बैरी पाँच,
सोच रहै निसदिन मनहुँ जीव विधी गुन-ज्ञान।
हम बटमार न छाड़ै काहूँ, देव सबै जो चहै बनाहूँ॥"

—'हंस-जवाहिर' पृ० २१

भारतीय साधना पद्धतियों के प्रतीकों के साथ ही सूफी-साधना के प्रतीकों को भी इन कवियों ने अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। इनके प्रेमाख्यानों में अनहदनाद के लिये 'घड़ियाल' तथा 'ब्रह्मरन्ध्र' के लिये 'दशमद्वार' के साथ ही सूफी साधना के चार 'वासस्थानों' का भी प्रयोग हुआ है। जायसी की पंक्ति "चारि बसेरे सो चढ़ै सत सो उतरे पार" में 'चारि बसेरे' सूफी साधना के चार पड़ावों–शरीअत तरीकत, मारिफत और हकीकत के प्रतीक है। वस्तुतः सूफी-साधना को अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु इन चारों अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। इन अवस्थाओं को एक प्रकार से हमारे यहाँ के कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड, ज्ञानकाण्ड और सिद्धावस्था का प्रतीक माना जा सकता है।

शरीअत

यह सूफी साधक की प्रथमावस्था है। इस अवस्था में मुस्लिम और सूफ़ी दोनों के क्रिया-कलाप एक ही हैं। 'शरीअत' के पालन से मुस्लिम में 'मोहब्बत' का अविर्भाव होता है और उसी मुहब्बत की प्रेरणा से वह अलौकिक प्रियतम की खोज में निकल पड़ता है। इस अवस्था में उसे मोनिन (प्रणयी) की संज्ञा मिलती है। सबसे पहले तो मोमिन को उन बातों का त्याग और पश्चाताप करना पड़ता है जो अल्लाह के रास्ते में बाधक है। इन्हें 'तोबा' कहा जाता है। उसे इन बाधाओं से लड़ना पड़ता है। जो 'ज़हद' कहलाती हैं। जब वह अपने प्रयत्न में सफल हो जाता है तब उसे 'सब्र' का सहारा लेना पड़ता है, अन्यथा उसमें गर्व का संचार हो जाता है और वह शैतान के फन्दे में फँस जाता है, अतः शैतान के भुलावे से बचने के लिये उसे अल्लाह का शुक्र मनाना पड़ता है। ईश्वर के आदेश (रिजाअ) पर चलने के लिये उसमें भय (खोफ) का होना आवश्यक है। ईश्वर से भयभीत रहने के साथ-साथ उसे ईश्वर पर आस्था रखनी चाहिये और जीविका के फेर में इधर उधर भटकना (तवक्कुल) नही चाहिये। उसे तटस्थ होकर ईश्वर का ध्यान (रज़ा) करना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर ध्यान और साधना (फ़िक्र) से उसमें अल्लाह की 'मोहब्बत' का जन्म होता है। प्रीति उत्पन्न होने से मोमिन या मुस्लिम सूफ़ी (सालिक) बन जाता है और 'शरीअत' से आगे बढ़कर 'तरीकत' में प्रवेश करता है। मुस्लिम को तसव्वुफ के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये सामान्यतः तोबा, ज़हद, सब्र, शुक्र रिजाअ, खौफ़, तवक्कुल, रजा, फ़िक्र और मोहब्बत का क्रमशः अनुष्ठान करना पड़ता है। कुछ लोग इन्ही को मुक़ामात कहते हैं किन्तु वास्तव में ये मुस्लिमों के मुक़ामात हैं सूफ़ियों के नहीं, क्योंकि सूफी मोहब्बत को अपना प्रेम प्रस्थान समझते है, लक्ष्य नहीं।[१]

१– 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' पृ० ६१।

तरीकत

यह 'सूफी' की प्रथम और साधक की द्वितीयावस्था है। दूसरे शब्दों में इसे तसव्वुफ की 'शरीअत' भी कहा जा सकता है।[१] 'तरीकत' पर चलने से जिस 'म्वारिफ़' का आविर्भाव होता है उसमें चिन्तन का पूरा-पूरा योग है। 'म्वारिफ़' की दशा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह वासनात्मक न हो कर प्रज्ञात्मक है। प्रज्ञात्मक ज्ञान होने के कारण उसको किसी अनिष्ट का भय नहीं रह जाता, वह सत्य का अनुभव कर लेता है और 'मारिफत' की अवस्था में पहुँच जाता है।

मारिफत

यह ज्ञानावस्था है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मुरीद परमसत्ता के अभास के साथ-साथ उसके रहस्यों की कुंजी भी प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को 'हाल' की दशा कहा जाता है। सूफी की संज्ञा 'सालिक' से अब 'आरिफ' हो जाती है।

यह अवस्था अल्लाह की अनुकंपा का प्रसाद है, "अतः वह बिना शरीअत और तरीकत के व्याकरण के भी उत्पन्न हो सकती है।"[२]

हक़ीक़त

इस अवस्था के उपरान्त साधक 'हक़ीक़त' में प्रवेश करता है। 'हक़ीक़त' वास्तव में साधन नहीं, साधक की अनुभूति की अवस्था है। इसी अनुभूति की उपलब्धि के लिये 'सालिक' सारी योजना करता है। इस अवस्था में आकर साधक 'अनऽलहक' का उद्घोषक करता है। परमसत्ता का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर साधक ब्रह्ममय हो जाता हैं। यही फ़ना की स्थिति है। इस अवस्था को 'मक़ाम' की संज्ञा भी दी गयी है। ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकरूपता से भी ऊपर साक्षात्कार का आनन्द प्राप्त करके मनुष्य पूर्ण बन जाता है। उसकी आत्मा ईश्वर में निवास करती है। यही सूफ़ी का चरम लक्ष्य 'बक़ा' है। 'फ़ना' और 'वक़ा' में अन्तर इतना है कि 'फ़ना' में साधक का 'अहम्भाव' तिरोहित हो जाता है और तब वह सब प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त होकर प्रियतम में लय हो जाता हैं जिसे 'वक़ा' की स्थिति कहते हैं।

सूफ़ियों ने उपर्युक्त चारों अवस्थाओं के साथ-साथ चार लोकों की भी कल्पना की है। आत्मा और परमात्मा, शब्द एवं अल्लाह की मीमांसा करते हुए हल्लाज ने 'नासूत' एवं 'लाहूत' की कल्पना की थी। हल्लाज के उपरान्त इमाम गज्जाजी ने 'नासूत' के साथ 'मलकूत' और 'लाहूत' के साथ 'जबरूत' लोकों की कल्पना की। सूफ़ियों ने इन चारों लोकों—नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत—का

१– 'तसव्वुफ अथवा सूफिमत' पृ० ९२
२– वही

स्वागत किया और किसी किसी ने एक अन्य लोक 'हाहूत' की भी कल्पना कर डाली। सामान्यतः नासूत नरलोक, मलकूत देवलोक, जबरूत ऐश्वर्यलोक एवं लाहूत माधुर्य लोक है। हाहूत को सत्यलोक कहा जा सकता है। साधक इन्हीं लोकों में विश्राम करता हुआ परब्रह्म में लीन होकर सांसारिक बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस दृष्टि से इन लोकों की तुलना क्रमशः जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था से की जा सकती है। हाहूत को तुरीयातीत भी कहा जा सकता है। 'मोमिन' प्रथमावस्था में 'शरीअत' के नियमों का पालन करते हुए 'नासूत' (नरलोक) में विहार करता है। द्वितीयावस्था में 'मुरीद' तरीकत का पालन कर 'मलकूत' (देवलोक) में विचरण करता है। तृतीयावस्था में 'सालिक' मारिफत में आकर 'जबरूत' (ऐश्वर्यलोक) में विचरता है और चतुर्थावस्था में आरिफ़ हकीकत का चिन्तन कर लाहूत (माधुर्यलोक) में तल्लीन हो जाता है। यही सूफ़ी साधना की पराकाष्ठा है। कुछ लोग इसके भी आगे पहुँचकर 'हाहूत' (सत्यलोक) में विहार करते हैं, पर सामान्यतः सूफ़ी 'हाहूत' के क़ायल नहीं हैं।

'सालिक' को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये कतिपय भूमियों को पार करना पड़ता है। इन भूमियों को सूफ़ियों ने 'मुक़ामात' की संज्ञा दी है। पीछे शरीअत में बताये गये मुक़ामात, जो 'तौबा' से प्रारम्भ होकर 'मोहब्बत' में समाप्त होते हैं, सूफ़ियों के वास्तविक मुक़ामात नहीं हैं। वे मुक़ामात उनके लिये ठीक हैं जो शरीअत के आधार पर ही अल्लाह की मोहब्बत चाहते हैं। सूफ़ियों के लिये तो 'वस्ल' अथवा 'फ़ना' जरूरी है, मोहब्बत का सामान्य सम्बन्ध नहीं। वस्तुतः सूफ़ियों के मुक़ामात अबूदिया, इश्क, जुहद, म्वारिफ़, वज्द हकीक़ और वस्ल हैं। अब्द प्रियतम की खोज में शरीअत की मंजिल पर उस समय निकल पड़ता है जब उसमें मुरशिद इश्क की चिनगारी डाल देता है। वह 'तौबा' आदि पड़ावों को पार करके 'इश्क' के मुक़ाम पर प्रथम मंजिल समाप्त कर लेता है। फिर आशिक अपने माशूक को अपनाने के लिये अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध (जेहाद) कर 'जुहद' की भूमि पर पहुँचकर 'तरीक़त' की दूसरी मंजिल म्वारिफ़ मुक़ाम पर पड़ाव डालता है। 'म्वारिफ़ से 'आरिफ़' और आगे बढ़ता है, तब उसे सत्य (वज्द) की झलक मिलने लगती है और वह 'हकीक' के मुक़ाम पर तृतीय मंजिल (मारिफ़त) को समाप्त करता है। इस मुक़ाम पर उसे 'हकीक' का आभास तो मिल जाता है पर उसका संयोग नहीं मिलता; इसलिये वह कुछ और आगे बढ़कर 'वस्ल' की भूमि पर अपने प्रियतम का साक्षात्कार कर उसी के संयोग में निरत हो जाता है। इस प्रकार(फ़ना) के मुक़ाम पर अपनी यात्रा समाप्त कर देता है। अब उसे प्रियतम के अतिरिक्त और कुछ दिखायी नहीं देता, यहाँ तक कि उसका अहंभाव भी नहीं रह जाता और तब

उसे शाश्वत 'बक़ा' का आनन्द मिल जाता है, जो सूफियों का ध्येय है। डा० चन्द्रबली पांडेय का अभिमत है कि 'अब्द' को यदि सामान्य प्राणी मान लें और 'बक़ा' की परिस्थिति को 'फ़ना' से सर्वथा भिन्न माने तो तसव्वुफ़ के मुक़ामात क्रमशः इश्क, ज़हद, म्वारिफ़, वज्द, हक़ीक़, वस्ल एवं फ़ना हैं।[१]

सूफियों की इस साधनापरक यात्रा का विवरण निम्नांकित चार्ट से कुछ अधिक सरलतापूर्वक समझा जा सकता है—

क्रम संख्या	अवस्था	लोक	यात्रा की संज्ञा	मुक़ामात		
				प्राम्रभ	मध्य	अन्त
१.	शरीअत	नासूत	मोमिन	अब्द		इश्क़
२.	तरीक़त	मलकूत	सालिक	इश्क	ज़हद	म्वारिफ़
३.	मारिफ़त	जबरूत	आरिफ़	म्वारिफ़	वज्द	हक़ीक़
४.	हक़ीक़त	लाहूत हाहूत	हक़	हक़ीक़	वस्ल	फ़ना बक़ा

हिन्दी-सूफी कवियों के काव्य में इस सूफ़ी-साधना का पूर्ण विवरण प्रतीक-रूप में उपलब्ध होता है। जायसी की निम्नलिखित पंक्ति में:—

"सात खण्ड औ चारि निसेनी, अगम चढ़ाव पंथ तिरबेनी।"[२]

सात खण्ड सूफियों के सात मुकामात—अबूदिया, इश्क, ज़हद, म्वारिफ़, वज्द, हक़ीक़ और वस्ल या बक़ा के प्रतीक हैं। तसव्वुफ़ में जिक्र की चार श्रेणियाँ मानी गयी हैं-जिक्रे जली, जिक्रे खफ़ी जिक्रे लाइलाह और जिक्रे इल्लल्लाह। इनके माध्यम से सूफी ईश्वर का स्मरण करता है। जायसी की उपरोक्त पंक्ति में आये "चारि निसेनी" शब्द से जिक्र की इन्हीं चार श्रेणियों की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार जायसी ने "सात खण्ड" और "चारि निसेनी" प्रतीकों के माध्यम से बताया है कि जो व्यक्ति सूफियों के इन सात मुक़ामतों को जिक्रे जली, जिक्रे खफ़ी, जिक्रे लाइलाह और जिक्रे इल्लल्लाह के माध्यम से ईश्वर का स्मरण करता हुआ पार करता है, वह अंत में लाहूत की अवस्था को प्राप्त कर परमात्मा के साथ 'एकमेक' की स्थिति को उपलब्ध कर लेता है।

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों के नायक रूपी साधक इस सूफी-साधना के मार्ग पर चलते हुये 'हक़ीक़त की अवस्था में पहुँचकर नयिका रूपी परब्रह्म को प्राप्त कर उसके

१— तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ९५।
२—'जायसी-ग्रन्थावली' पृ० ३२०।

साथ एकाकार हो जाते हैं और इस प्रकार उन्हें शाश्वत 'बक़ा' का आनन्द मिल जाता है। उदाहरणार्थ 'पद्मावत' के नायक रत्नसेन का सूफी-साधना के मार्ग पर अग्रसर होने का चित्र द्रष्टव्य है–

हीरामन सुआ (गुरु) उसके हृदय में इश्क़ की चिनगारी जाग्रत कर देता है और रत्नसेन (साधक) मोहब्बत की प्रेरणा से नायिका (अलौकिक प्रियतम) की खोज में निकल पड़ता है। वह अल्लाह के रास्ते में बाधक नागमती, राज्यादि का त्याग कर देता है। यद्यपि उसकी पत्नी नागमती, उसकी माता, उसके भाई-बन्धु तथा प्रजा आदि उसके समक्ष अनेक बाधाएँ उपस्थित करते हैं किन्तु वह इन बाधाओं का सामना (जहद) करते हुए अपने प्रयास में सफल होता है। वह सब्र का सहारा लिये रहता है। पद्मावती (परमात्मा) के निरन्तर ध्यान और फ़िक्र से उसमें उसकी मोहब्बत का जन्म होता है और वह मोमिन या मुस्लिम सूफ़ी (सालिक) बन जाता है, उसमें ज्ञान का उदय हो जाता है—

"हिय कै जोति दीप वह सूझा, यह जो दीप अँधियारा बूझा।
उलटि दीठि माया सौं रुठी, पलटि न फिरी जानि कै झूठी।"[1]

रत्नसेन का पहला पड़ाव सागर-तट पर होता है, इसे 'शरीअत' का प्रतीक माना जा सकता है। रत्नसेन का यहाँ तक का मार्ग इतना कठिन नहीं है जितना कि दूसरी अवस्था 'तरीक़त' में प्रवेश करते समय समुद्र की भीषणता और भयंकरता का है–

"पै गोसाइँ सन एक बिनाती, मारग कठिन जाव केहि भाँती॥
सात समुद्र असूझ अपारा, मारहिं मगरमच्छ घरियारा॥
उठैं लहरि नहि जाइँ सँभारी, भागिहि कोइ निबहै बैपारी॥
खार, खीर, दधि, जल, उदधि, सुर, किलकिला अकूत।
"को चढ़ि नाँघै समुद्र ए, है काकर अस बूत॥"[2]

रत्नसेन प्रेमपंथ का एक सत्यनिष्ठ पंथी है। वह यात्रा की कठिनाइयों से जूझता हुआ छः सागरों को पार करके सातवें समुद्र के पास पहुँचता है। यहाँ से उसकी तीसरी अवस्था (मारिफ़त) प्रारम्भ होती है–

"सतएँ समुद्र मानसर आए, मन जो कीन्ह साहस सिधि पाए॥
देखि मानसर रूप सोहावा, हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अँधियार रैन मसि छूटी, भा भिनुसार किरनि रवि फूटी॥"[3]

१–जायसी-ग्रंथावली-प्रेम-खंड, पृ० ५१, कवित्त सं० ७।
२– वही, राजा-गजपति-संवाद-खंड, पृ० ५६, कवित्त सं० २।
३– वही, सात-समुद्र-खंड, पृ० ६७, कवित्त सं० १०।

'ख्वारिफ़' के मुक़ाम पर 'मारिफ़त' की इस अवस्था में पहुँचकर रत्नसेन (मुरीद) को परमसत्ता का आभास (दर्शन) मिलता है।[1] वह महादेव के द्वारा पद्मावती (परमात्मा) को प्राप्त करने के रहस्य की कुँजी प्राप्त कर लेता है।[2]

'ख्वारिफ़' के मुकाम से 'आरिफ़' (रत्नसेन) और आगे बढ़ता है। गंधर्वसेन ने उसकी गर्दन में नागफाँस डलवा दिया, परन्तु उसके मन में हर्ष या विषाद की भावना उत्पन्न नहीं हुई। उसे सत्य (वज्द) की झलक मिलने लगती है। वह कहता है कि अब तक "मैं" "मैं" के धोखे में पड़ा हुआ मैं गर्व से इतराता रहा; परन्तु अब जबकि मैं सिद्ध हो गया अर्थात् मुझे ज्ञान की प्राप्ति हो गयी तो मेरी "मैं" "मैं" की भावना अर्थात् मेरा अहम्भाव समाप्त हो गया और मेरी समझ में आया कि मैं (रत्नसेन अर्थात् जीवात्मा) पद्मावती (परब्रह्म) की परछायी मात्र था। मेरा अस्तित्व उसी के कारण था यह ज्ञान होते ही अहम्भाव तिरोहित हो गया; अर्थात् जीव ब्रह्म की छाया है, यह द्वैत-भावना न रहकर अद्वैत-भावना आ गयी।[3]

इस प्रकार रत्नसेन (आरिफ़) 'हक़ीक़' के मुक़ाम पर तृतीय मंजिल (मारिफ़त) को समाप्त करता है। इस मुकाम पर उसे 'हक़' का आभास तो मिल जाता है पर उससे संयोग नहीं हो पाता। आगे चलकर महादेव की सहायता से उसे पद्मावती (परब्रह्म) की प्राप्ति हो जाती है। वह 'वस्ल' के मुकाम पर पद्मावती (परब्रह्म) का साक्षात्कार कर उसी के संयोग में निरत हो जाता है। इस प्रकार 'फ़ना' के मुक़ाम पर रत्नसेन अपनी यात्रा समाप्त करता है। अब उसे पद्मावती के अतिरिक्त और कुछ दिखायी नहीं देता अर्थात् साधक को सर्वत्र परब्रह्म की ही झलक अवलोकित होती है; यहाँ तक कि उसका अहम्-भाव भी नहीं रह जाता। इस अवस्था (हक़ीक़त) में आकर उसे शाश्वत 'बक़ा' का आनन्द मिल जाता है जो सूफ़ी-साधना का चरम लक्ष्य है।

जायसी ने सूफ़ी-साधना की इन चारों अवस्थाओं का उल्लेख 'अखरावट' में भी किया है—

"कही 'तरीकत' चिसती पीरू, उघरति असरफ औ जहँगीरू ॥
राह 'हक़ीक़त' परै ना चूकी, पैठि 'मारिफ़त' मारि बुड़ूकी ॥"[4]

१– 'जायसी-ग्रन्थावली', वसंत-खण्ड, पृ० ८४, कवित्त सं० १२।

२– वहीं, पार्वती-महेश-खण्ड, पृ० ९३, कवित्त सं० ९।

३– वही, गंधर्वसेन-मंत्री-खंड, पृ० १०५।

४– वही, पृ० ३२१-३२२।

जायसी की भाँति अन्य सूफी-कवियों ने भी इन वासस्थानों का प्रयोग किया है। कवि उसमान की 'चित्रावली' के अन्तर्गत परेवा द्वारा भोगपुर, गोरखपुर, नेहनगर एवं रूपनगर इन नगरों का जो वर्णन हुआ है वह सूफी-साधना की इन्हीं चारों अवस्थाओं का प्रतीक है। पहला नगर 'भोगपुर' है जहाँ विलास की समस्त सामग्री उपस्थित है।[1] इस आकर्षण के मध्य से वही साधक सफल होकर जा सकता है जो 'शरीअत' के नियमों का पालन करता है। दूसरा नगर 'गोरखपुर' है जो बाह्याडम्बरों से परिपूर्ण है, किन्तु वेश-भूषा या जोगियों जैसे ठाठ हृदय-शुद्धि नहीं करते।[2] हृदय-शुद्धि, आत्मिक शान्ति एवं परम-प्रेम के लिये ये सभी वस्तुएँ अनावश्यक हैं। इसे 'तरीक़त' का प्रतीक कहा जा सकता है। तीसरा नगर 'नेहनगर' है जिसे 'मारफ़ित' का प्रतीक माना जा सकता है। इस नगर में वही पदार्पण कर पाता है जो 'भोगपुर' 'गोरखपुर' की ओर आकर्षित नहीं होता क्योंकि इस पुर में अपनत्व का, विलास एवं रूप का त्याग आवश्यक है। ऐसा साधक ही 'रूपनगर' अर्थात् 'सिद्धावस्था' (हक़ीक़त) तक पहुँच पाता है। यह चौथा नगर 'रूपनगर' उस परम सौन्दर्य का प्रतीक है जिसके दर्शन पाकर साधक आत्मविभोर होकर पृथक सत्ता खो बैठता है।[3] इस प्रकार प्रतीकों के माध्यम से सूफी-साधना एवं लक्ष्य का सुन्दर चित्रण इन नगरों के वर्णन में उपलब्ध होता है।

सूफ़ी-साधना भावाविष्टावस्था (हाल) का एक महत्वपूर्ण स्थान है। 'हाल' साधक की बेसुध अवस्था का प्रतीक है।

१— "प्रथम भोगपुर नग्र सोहावा, भोग विलास पाउ जहँ काया।।" 'चित्रावली' परेवा—खंड, पृ० ८०, कवित्त सं० २०५।

२— "आगे गोरखपुर भल देसू, निवहै सोइ जो गोरख भेसू।
एही भेष सिद्धि बहु अहहीं, एही भेष बहुत ठग रहहीं।।
एही भेष सों बहु ठग आये, एही भेष सों बहुत ठगाये।
जो भूले एहि भेष जग. खुले न तेहि हिय आछ।
आगे चलैं न तहँ रहैं, वरु फिरि आवैं पाछ।।
जो कोउ आगे चाहै चला, परगट देह भेष सो रला।।"
—'चित्रावली'-परेवा-खण्ड-पृ० ८१, कवित्त सं २०८-२०९।

३— '-आगे नेहनगर भल देसू, रंक होइ जहँ जाइ नरेसू।
आगे पंथ चलै पै सोई, जाके संग कछु भार न होई।।
ऐसन जिअ जेहि लोभ न होई, रूपनगर मग देखै सोई।
हेरत तहाँ पन्थ नहिं पावा, हेर न चहै जो आपु हेरावा।।
पथिक तहाँ जो जाइ भुलाना, विमल पंथ तेहीं पहिचाना।।"
—वही, पृ० ८२, कवित्त सं० २११-२१२

सूफी-कवियों ने नायिकाओं के गुण-श्रवण या दर्शन द्वारा नायकों का जो मूर्च्छित होना दिखाया है, वह इसी हाल-अवस्था का प्रतीक है। हीरामन तोता जब राजा रत्नसेन से पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करता है तब राजा प्रेम की उत्कट अभिलाषा का अनुभव करता हुआ मूर्च्छित हो जाता है। उसकी इस 'हाल' अवस्था का वर्णन जायसी ने अति सुन्दर ढंग से किया है –

"सुनतहि राजा गा मुरुछाई, जानहुँ लहरि सुरुज कै आई।
परा सो पेम समुँद्र अपारा, लहरहिं लहर होइ बिसँभारा॥
विरह भँवर होइ भाँवरि देइ, खिन-खिन जीव हिलोरहिं लेइ॥
खिनहि निसास बूड़ि जिउ जाई, खिनहि उठै निसँसै बौराई।
खिनहि पीत खिन होइ मुख सेता, खिनहि चेत खिन होइ अचेता॥"[१]

राजा की साधना पूर्ण नहीं है, अतः वह भावोल्लास की अवस्था को प्राप्त हो कर फिर इस जगत् में लौट आता है। लेकिन जो हर्षातिरेक और आनन्द का जगत् है, उससे अलग होने पर जब उसे चेतना आती है तो उसे दुःख होता है और वह पुनः उस अवस्था को प्राप्त करना चाहता है। उसकी इस स्थिति का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं–

"जो भा चेत उठा बैरागा, बाउर जनहुँ सोइ अस जागा।
आवत जग बालक जसरोवा, उठा रोइ हा ग्यान सो खोवा॥
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ, इहाँ मरनपुर आएहुँ कहाँ।
केइँ उपकार मरन कर कीन्हा, सकति जगाय जीउ हर लीन्हा॥
सोवत अहा जहाँ सुख साखा, कस न तहाँ रोवत बिधि राखा॥"[२]

इसी प्रकार नूर मुहम्मद ने भी नायक राजकुँवर का इन्द्रावती को स्वप्न में देखकर मूर्च्छित हो जाना दिखाया है–

"देखि बदन लट सुन्दरताई, सपने बीच परा मुरुछाई।"[३]

इस हालावस्था का ऐसा ही वर्णन जामी के 'नफहात-अल-उन्स' में मिलता है। जिसकी तुलना जायसी की उपर्युक्त पंक्तियों से की जा सकती है। जामी ने शहावु-

---

१– व्याख्याकार-श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत' (प्रेमखण्ड) पृ० १३४-१३५ कवित्त ११९।

२– वही, पृ० १३६-१३७, कवित्त १२१।

३– 'इन्द्रावती', स्वप्न-खण्ड-कुँअर, पृ० ११, कवित्त सं० ३।

द्दीन सुहरवर्दी के एक शिष्य का उल्लेख किया है। वह 'फ़ना' की मंजिल में परमात्मा के एकत्व का ध्यान करता हुआ 'हाल' की अवस्था में था। एक दिन वह रोने लगा और रो-रोकर अपना दुःख प्रकट करने लगा। शेख के पूछने पर कि उसे क्या हुआ है? उसने बतलाया कि 'अनेकत्व' की बाधा के कारण वह उस 'एक' के दर्शन से वंचित हो गया है। उसे नामंजूर कर दिया गया है, अस्तु उसे पुनः वह उल्लासावस्था प्राप्त नहीं हो रही है। शेख ने उसे सान्त्वना दी कि वह अपने मार्ग में अग्रसर हो रहा है।

इसके अतिरिक्त सूफी-साधना के अन्य प्रतीकों को भी इन कवियों ने ग्रहण किया है। जायसी ने सिंहलद्वीप का वर्णन करते हुए एक स्थल पर कहा है कि सिंहल-गढ़ में 'नीर' और 'खीर' नामक दो नदियाँ हैं और 'मोतीचूर' नामक एक कुण्ड है। उस कुण्ड में अमृत का पानी है और कपूर की कीच। इसके पास इन्द्र के स्वर्ग के कल्पवृक्ष तुल्य एक सोने का पेड़ है जिसकी जड़ पाताल में है और शाखा स्वर्ग में। इस पर फैली हुई अमरबेलि को कौन पा और चख सकता है? चन्द्रमा इस वृक्ष के पत्ते हैं और तारागण इसके फूल। तपस्या करके ही कोई इस वृक्ष के फल को पा सकता है और अगर कोई वृद्ध उसे खा ले तो वह नवयौवन पा जाता है। इस अमृत भोग की बात सुनकर राजा भी इसके लिये याचक बन गये। जिसने इसे पाया वह अमर हो गया, उसे न कुछ शरीर की व्याधि रही और न मन के रोग की।[1]

जायसी द्वारा किया गया गढ़ का यह वर्णन सूफ़ियों के स्वर्ग, स्वर्ग में बहने वाली नदियों और स्वर्ग के तूबा वृक्ष का प्रतीक है। सूफ़ियों का विश्वास है कि स्वर्ग आठ हैं जिनमें सबसे भीतरी और ऊँचा स्वर्ग 'जन्नते अदन' है। यहीं वह स्वर्ग है जहाँ स्वर्गीय विभूति की झलक पायी जाती है। इसकी प्राप्ति बड़ी साधना और

१— "गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी, पानी भरहिं जैसी दुरपदी।
और कुण्ड एक मोतीचूरू, पानी अंम्रित कीच कपूरू॥
ओहिक पानि राजा पै पिआ, बिरिध होइ नहिं जौ लहि जिआ।
कंचन बिरिख एक तेहिपासा, जस कलपतरु इन्द्र कबिलासा।
मूल पतार सरग ओहि साखा, अमरबेलि को पाव को चाखा॥
चांद पात औ फूल तराईं होइ, उजियार नगर जहँ ताईं॥
वह फर पावै तपि कै कोई, बिरिध खाइ नवजोवन होई॥
राजा भये भिखारी सुनि वह अंम्रित भोग।
जेइँ पावा सो अमर भा ना किछु व्याधि न रोग॥
'पदमावत'-सं० डा० माताप्रसाद गुप्त-पृ० ३७, कवित्त सं० ४३।

पुण्यबल से होती है। इस स्वर्ग में अनेक नदियाँ बहती हैं जिनमें कवसर, तसनीम और सल्सबील प्रमुख हैं। 'ओहिक पानि राजा पै फिआ' यहाँ जायसी का राजा से मतलब सिंहलद्वीप के राजा से तो है ही, लेकिन साथ ही इस शब्द का संकेत जिब्राइल की ओर भी है। जिब्राइल का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि जब देववाणी सुनकर हजरत मुहम्मद भय से काँप उठे थे, तब जिब्राइल ने ही उनको बताया था कि वे अल्लाह के पैगम्बर हैं। मुहम्मद साहब ने जिब्राइल को मनुष्य के रूप में आकाश और पृथ्वी के मध्य देखा था। जिब्राइल का आवास-स्थान उजले मोती वाला आठवाँ स्वर्ग है। इसके ऊपर वाले लोक में जाना सम्भव नहीं। जिब्राइल के मोती वाले स्वर्ग में ही तूबा वृक्ष की जड़ें हैं, जिसे जायसी ने कंचन बिरिक्ष कहा है। तूबा का अर्थ सहज आनन्द है। यह तूबा ८ स्वर्गों में आठ बागों में फैला हुआ है। सूफ़ियों के अनुसार इस वृक्ष की शाखाएँ प्रत्येक स्वर्ग में फैली हुई हैं। इन स्वर्गों में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के ठहरने के स्थान पर इसकी डालियाँ गयी हुई हैं। भगवत-कृपा और कठोर साधना से ही इस पर फैली अमरबेलि के आनन्द का कोई उपभोग कर सकता है।[1]

'छिताई-वार्ता' तथा ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' में भी इस प्रकार के वृक्ष का प्रतीक-रूप में वर्णन हुआ है, जिसकी जड़ पाताल में है और जो आकाश में फैला हुआ है।

समग्र रूप में कहा जा सकता है कि सूफ़ी-कवि भारतीय योग-साधनाओं से अति प्रभावित हुए थे। यही कारण है कि उन्होंने साधना-क्षेत्र में अपने काव्य में यदि एक ओर सूफ़ी-साधना के प्रतीकों को अपनाया है तो दूसरी ओर कुंडली-योग और हठयोग के प्रतीकों को भी अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। उनके काव्य में कुंडली योग, हठयोग और सूफ़ी-साधना के प्रतीकों का अद्भुत समन्वय हुआ है।

८.३ तन्त्र-मन्त्र सम्बन्धी प्रतीक

हिन्दी के सूफी-कवियों पर तंत्र-मंत्र-साधना का भी प्रभाव पड़ा है। तंत्र-मंत्र अति प्राचीन है। पहले वैदिक मत के सदृश यह भी मान्य और प्रतिष्ठित समझा जाता था। 'वायव्य-संहिता' में भारतवर्ष में केवल ३ मत प्रधान बताये गये हैं, उनमें तंत्र-मत भी एक है। 'मनुस्मृति' के टीकाकार कुल्लूल भट्ट[2] ने तंत्रों को श्रुति रूप कहा है। 'कुलार्णव तंत्र'[3] में तांत्रिक साधना को कलियुग का प्रधान धर्म कहा गया है।

१. ले० श्री रामपूजन तिवारी-हिन्दी-सूफ़ी-काव्य की भूमिका, पृ० २०७-२०८
२ 'वैदिक तांत्रिकश्चैव द्विविधा श्रुति कीर्त्तिता' (कुल्लूल भट्ट)
३. 'प्रिंसपिल्स ऑफ तंत्रास-आर्थर एवलेन, पृ० ४२

भारतवर्ष की समस्त धर्म-पद्धतियों और साधनाओं में तंत्र-साधना सबसे अधिक गुह्य और रहस्यमय है। तांत्रिकों ने उसकी गुह्यता बड़ी श्लाघनीय मानी जाती है। उनका कहना है कि वेदशास्त्र और पुराणादि सामान्य गणिका के सदृश हैं, जिन तक सब की पहुँच हो सकती है, किन्तु शाम्भवी विद्या कुलवधू के सदृश आवरणाच्छन्न रहती है; उस तक अधिकारी की ही पहुँच हो पाती है।[1] इसी प्रकार 'तंत्रशास्त्र' नामक ग्रंथ में तांत्रिक-साधना की गुह्यता पर बल देते हुए लिखा गया है कि 'उसे प्रगट नहीं होने देना चाहिए।'[2] 'विश्वसार' नामक तंत्र में तांत्रिक साधना को मातृजारवत् छिपाने का आदेश दिया गया है।[3]

तंत्र-मंत्र की इस रहस्यप्रियता और गुह्यतात्मकता उसके वास्तविक स्वरूप को साधारण जनता के समक्ष नहीं आने दिया। तांत्रिक-साधकों ने अमूल्य सत्य-खडों की अभिव्यक्ति लौकिक प्रतीकों के माध्यम से की; साधारण जनता इन्हीं प्रतीकों में उलझकर रह गयी। इसका फल यह हुआ कि तांत्रिक-साधना के प्रतीकों के सांकेतिक अर्थ की परम्परा ही लुप्त हो गयी और साधारण जनता तंत्र-मत के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रह जाने के कारण उनके लौकिक प्रतीकों को उसका वास्तविक रूप समझकर उनकी निन्दा करने लगी। वार्ड साहब,[4] मोनियर विलियम्स[5] तथा विल्सन[6] आदि विद्वानों ने इसकी अति निन्दा की है।

तंत्र से आजकल प्रायः शाक्तों के धर्म-ग्रन्थों अथवा जादू-टोने के ग्रन्थों का अर्थ लिया जाता है, किन्तु तंत्र का वास्तविक अर्थ उपर्युक्त अर्थों से कहीं व्यापक है। उसकी शास्त्रानुकूल व्याख्या करते हुए आर्थर एवलेन ने लिखा है कि तंत्रों से अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थों से है जो कलियुग के लिये भगवान शिव द्वारा निरूपित

---

१. "वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।
या पुनः शाम्भवी विद्या गुप्ता कुल वधूरिव॥"

२. सं०-आर० एम०-चटर्जी—'तंत्रसार' पृ० ६८१

३ 'प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्याद्वमाचार गतौ प्रिये।
अतोवाम पथ देवि गोपयेत मातृजारवत्॥'
—'कल्याण का योगांक' के—पृ० १७५ से उद्धृत।

४ ले० वार्ड साहब—ए० व्यू ऑफ दि हिस्ट्री लिटरेचर एण्ड माइथोलोजी ऑफ दि हिन्दूज' पृ० ४८६-५०२

५. ले० मोनियर विलियम्स—'ब्राह्मैनिज्म एण्ड हिन्दुइज्म' पृ० १०० (संस्करण १८८१)

६. ले० विल्सन-'हिन्दू-सेक्ट्स' (भाग १) पृ० ८ तथा (भाग २) पृ० ७७

किये गये हैं।[१]

पाश्चात्य विद्वान इलियट[२] और भारतीय विद्वान कृष्णमाचारी[३] आदि विद्वानों की धारणा है कि तंत्र अति अर्वाचीन ग्रन्थ है, अतः तंत-मत को भी अर्वाचीन मानना होगा; किन्तु विचार करने पर हम देखते हैं कि तांत्रिक विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद के दशम मंडल के देवीसूक्त में इस मत की उपासना का स्वरूप चित्रित मिलता है। ऋग्वेद,के पश्चात् अथर्ववेद[४] में तांत्रिक साधना के आचार-विचार का अच्छा विकास हुआ है। महाभारत[५] में भी ऐसे अनेक श्लोक आये हैं जिनमें देवी की महिमा का वर्णन किया गया है। श्रीमतभगवत्[६] में भी एक स्थल पर कात्यायनी देवी की पूजा की बात कही गयी है 'मार्कण्डेय पुराण'[७] में भी देवी की महिमा का वर्णन मिलता है, अस्तु तंत्र-मत को हम आर्वाचीन नहीं कह सकते; और न इसे हम अनार्यों या विदेशियों की देन ही कह सकते हैं।[८] जिस प्रकार भारतवर्ष की अन्य धर्म-पद्धतियों का विकास श्रुतियों से हुआ है उसी प्रकार तंत्र-साधना का जन्म भी वेदों से ही हुआ है। वैदिक धर्म की एक धारा होने के कारण ही तंत्र-मत मध्यकालीन संतों एवं सूफियों को प्रभावित कर सका। वेद-वाह्य तामसिक धर्म-पद्धतियों से संत लोग कभी प्रभावित नहीं हो सकते थे।

तंत्रों का कथन है कि सुयोग्य गुरु की अध्यक्षता में साधना प्रारम्भ करो। हिन्दी के सूफी-कवियों ने भी अपने प्रेमाख्यानों के नायकों की साधना में गुरू को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इनकी मान्यता है कि गुरू की सहायता के विना ब्रह्म की प्राप्ति होना असम्भव है। गुरू ही साधक को उसके साधना-पथ पर अग्रसर करता

---

१. 'It denotes that body of religious scripture which is stated to be revealed by shiva as the Specific scripture of the fourth or present Kaliyug.

२. 'हिन्दुइज्म एण्ड वुद्धिज्म' (भाग २) पृ० १२५

३. 'हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल लिटरेचर,' पृ० ३४

४. ले० डी० एन० वोस–'तंत्राज देयर फिलासफी एण्ड आकल्ट सीक्रेट्स पृ० ३

५. ले० आर्थर एवलेन–प्रिंसपिल्स ऑफ तंत्राज' (भूमिका) पृ० ६४

६. वही

७. ले०–डी० एन० वोस–'तंत्राज देयर फिलासफी एण्ड आकल्ट सीक्रेट्स' पृ० ३

८. 'दि शाक्ताज' में अरनेस्ट एपिया ने पृ० ६३ पर तंत्रमत को अनार्यों की देन कहा है।

है। 'पदमावत' में हीरामन तोते को गुरु का प्रतीक माना गया है।[1]

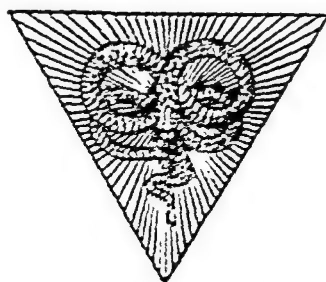
तांत्रिकों में हंस आत्मा और प्राण का प्रतीक माना गया है। 'हं' शिव का वाचक है और 'स' प्रकृति का। इसकी स्थिति शरीर में अनाहत चक्र में बतलायी गयी है। 'आनन्द-लहरी' में एक स्थल पर लिखा है कि हम तुम्हारे अनाहत चक्र में निवास करने वाले 'हं' और 'स' को प्रणाम करते हैं। यह 'हंस' अज्ञान की झील में मोह-पंक से उद्भूत विश्व-कमल में निवास करता है, किन्तु जब यह हंस निष्प्रपञ्च हो जाता है तब यह आत्मा को प्रदर्शित करता है। उस समय इसका पक्षित्व नष्ट हो जाता है और 'सोऽहं' आत्मा मात्र शेष रह जाता है। इस प्रकार 'हंस' शब्द 'मुक्तात्मा' का प्रतीक बन जाता है। हिन्दी के सूफी-कवियों ने 'हंस' शब्द का प्रयोग जीव और मुक्तात्मा दोनों ही अर्थों में किया है। जायसी ने लिखा है–

'जो एहि खीर-समुद्र महँ परे, जीव गँवाइ हंस होइ तरे।'[2]

यहाँ हंस शब्द 'पक्षी' और 'मुक्तात्मा' दोनों का प्रतीक है। इसी प्रकार जब रत्नसेन अपने साथियों सहित छः समुद्र खीर-समुद्र, दधि-समुद्र, उदधि-समुद्र, सुरा-समुद्र किलकिला-समुद्र, प्रेम-समुद्र पार करके सातवें समुद्र मानसर में पहुँचता है जो कि 'ब्रह्मलोक' का प्रतीक है, उस स्थल पर भी हंस को 'मुक्तात्मा' का प्रतीक मानकर क्रीड़ा करते हुए एवं मुक्ताफल रूपी मोतियों को चुगते हुए दिखाया गया है–

'हँसहि हंस औ करहि कीरीरा, चुनहि रतन मुक्ताहल हीरा'।[3]

तंत्रों में कुंडलिनी-भेदन क्रिया का बड़ा महत्त्व है। यह कुंडलिनी-शक्ति



कुंडलिनी शक्ति

शरीर में मूलाधार चक्र में निवास करती है।[4] यह सुषुप्तावस्था में रहती है और

१. 'गुरु सुवा जेइ पंथ देखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।'
 - जायसी-ग्रन्थावली–'पदमावत' उपसंहार–खण्ड–पृ० ३०१

२. 'जायसी-ग्रन्थावली'-सात-समुद्र-खण्ड पृ० ६०

३. वही-पृ० ६७, कवित्त सं० १०

४. 'घेरण्ड संहिता'–'मूलाधार आत्मशक्ति कुण्डली परं देवता।'

साढ़े तीन वलय लेकर त्रिकोण से लिपटी रहती है। इसके बायीं ओर इड़ा नाड़ी रहती है और दायीं ओर पिंगला नाड़ी तथा इन दोनों के बीच सुषुम्ना नाड़ी का प्रवाह रहता है। इड़ा और पिंगला रूपी कुण्डलों से आक्रांत रहने के कारण इसका नाम कुण्डलिनी पड़ गया है।[१] कुण्डलिनी-शक्ति नाड़ियों के मार्ग से सहस्त्रार तक पहुंचती है। इसीलिये तंत्रों में नाड़ी-साधना को विशेष महत्त्व दिया गया है। शरीर में 'भूति-शुद्धि तंत्र' के अनुसार बहत्तर हजार, 'प्रपंचसार तंत्र' के अनुसार तीन लाख और 'शिव संहिता' के अनुसार तीन लाख पचास हजार नाड़ियाँ होती हैं।[२] इनमें सबसे प्रमुख तीन नाड़ियाँ मानी गयी हैं इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना; इन्हें प्रतीकात्मक भाषा में क्रमशः *गंगा, यमुना और सरस्वती तथा त्रिवेणी* कहा गया है।[३] इड़ा और पिंगला के लिए चन्द्र (शशि) और सूर्य प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है।[४]

तंत्रों की इस नाड़ी साधना को तो हिन्दी के सूफी-काव्य में विशेष स्थान मिला है। उनके प्रेमाख्यानों में चन्द्र, शशि (इड़ा) को नायिका का और सूर्य (पिंगला) को नायक का प्रतीक मानकर इन दोनों का मिलन (योग) कराया गया है। कहीं-कहीं इन्हें गंगा और यमुना भी कहा गया है ; यथा—

"तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी लिखा मुहम्मद जोग"।[५]

अर्थात् तुम दोनों (पद्मावती और नागमती) गंगा-जमुना के समान हो; तुम्हारे लिये परस्पर योग या संगम लिखा है। यहाँ पर गंगा इड़ा का प्रतीक है और जमुना पिंगला का।

इसी प्रकार कुण्डकिनी-भेदन क्रिया का भी प्रतीक-रूप में वर्णन हुआ है। 'पदमावत' में शंकर जी रत्नसेन को सिंहलगढ़ (शरीर) भेदन की जो प्रक्रिया बताते

---

१ 'कल्याण का योगांक' पृ० ३८६

२. 'सर्पेंट पावर'—आर्थर पृ० ८३
उद्धृत डा० गोविन्द त्रिगुणायत,—'हिन्दी की निर्गुण-काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि' पृ० २२४

३. '……त्रिवेणी योगः स प्रोक्ता तत्र स्नान महाफलम्'
—'षटचक्र निरूपण टीका' पृ० ४

४. 'वेदचु पिंगला नाम नाड़ी सूर्य विग्रहा,
वामगा या इड़ा नाड़ी शुक्ला चन्द्रस्वरूपिणी।'—षटचक्रनिरूपण टीका।
उद्धृत —डा० गोविन्द त्रिगुणायत—'हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि,' पृ० २२५

५. 'पदमावत', नागमती—पदमावती-विवाद-खण्ड-पृ० ५५७, कवित सं० ४४५

हैं, उसमें इस कुण्डलिनी-भेदन के प्रतीकों को अपनाया गया है। वे कहते हैं कि—

"नौ पौरी तेहि गढ़ मंझिआरा, औ तहँ फिरहि पाँच कोटवारा।
दसवँ दुआर गुपुत एक नाँकी, अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँकी ॥
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी, जौ लै भेद चढ़ै होई चाँटी ॥
गढ़ तर सुरंग कुंड अवगाहा, तेहि महँ पंथ कहौं तोहि पाहाँ ॥"[१]

यहाँ पर दसवँ दुआर 'ब्रह्मरन्ध्र' का 'चाँटी' 'पिपीलका मार्ग का' 'सुरंग' 'सुषुम्ना नाड़ी का' और 'कुंड' 'कुण्डलिनी के रहने के स्थान का' प्रतीक है। इस प्रकार इन प्रतीकों के माध्यम से इसका यह अर्थ होगा कि शरीर में नौ इन्द्रिय-द्वार हैं जिनकी रक्षा काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह ये पाँच कोतवाल किया करते हैं। ब्रह्मरन्ध्र नामक दसवाँ द्वार गुप्त स्थान है; कुण्डलिनी को वहाँ तक चढ़ाना अत्यन्त कठिन कार्य है। गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही साधक ब्रह्मरन्ध्र तक कुण्डलिनी को पहुँचा पाता है। इस शरीर रूपी दुर्ग के निम्न भाग में कुंड है जिसमें कुण्डलिनी रहती है। इसी के पास से सुषुम्ना रूपी सुरंग गयी है। ब्रह्माण्ड में पहुँचने का मार्ग इसी में होकर गया है अर्थात् इसी के साधने से कुण्डलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना में चढ़ती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है।

इसके अतिरिक्त तांत्रिक परम्परा में उस समय जो पीठ-उपपीठ आदि प्रख्यात थे, उनका प्रतीकार्थ भी हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने ग्रहण किया है। कामरूप तांत्रिकों का एक प्रसिद्ध सिद्ध स्थान माना गया है; यहाँ पर तांत्रिक सिद्धि प्राप्ति के लिये जाया करते थे। 'पदमावत' में भी यह तांत्रिक सिद्धि का प्रतीक बनकर आया है। 'पदमावत' का राघव चेतन ताँत्रिक सम्प्रदाय का प्रतीक है। इसका चरित्र समाज के उस वर्ग का प्रतीक है जो वैष्णव धर्म के विरुद्ध था। वह भूत, प्रेत और यक्षिणी की पूजा करता था। उसकी वृत्ति उग्र और हिंसापूर्ण थी। कोमल और उदात्त भावों से उसका हृदय शून्य था; विवेक का उसमें लेश न था। वह इस बात का मूर्तिमंत प्रमाण था कि उत्तम संस्कार और बात है तथा पांडित्य दूसरी बात। कामरूप की प्रसिद्ध जादूगरनी लोना चमारिन उसकी गुरु थी।[२] वह यक्षिणी के बल से अमावस्या के दिन ही द्वितीया सिद्ध कर देता है।[३]

१– 'पदमावत'-पार्वती-महेश-खण्ड कवित्त सं० २१५

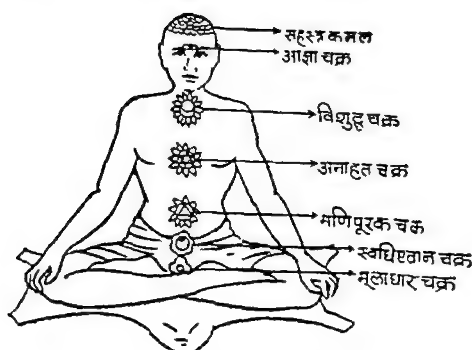
२–'एहि कर गुरु चमारिन लोना,
सिखा काँवरू पाढ़ित टोना।'
व्याख्याकार-श्री वासुदेव शरण अग्रवाल 'पदमावत'-राघव-चेतन-देश-निकाला–खण्ड कवित्त सं० ४४८-६

३–'राघव पूजा जाखिनी दुइज देखावा साँझ।'-वही, कवित सं० ४४७-८

इसके अतिरिक्त हिन्दी के सूफी-कवि बौद्ध तंत्र-मंत्र साधना से भी प्रभावित हुए हैं। बौद्ध तंत्रमत का उदय महायान की मंत्रयान शाखा से हुआ है। मंत्रयान का उदय द्वितीय शताब्दी के आस-पास हुआ था, किन्तु मन्त्रो के गूढ़ रहस्यों का प्रचार साधारण जनता में न हो सका। परिमाण यह हुआ कि मंत्रयान को अपनी वेशभूषा परिवर्तित करनी पड़ी और उसे सामान्य जादू-टोना, जंत्र-मंत्र तथा यौनमूलक यौगिक साधना अपनानी पड़ी, जिनकी प्रतिष्ठा सामान्य जतना में पहले ही से थी। इन लोगों ने इतना अवश्य किया कि पूर्व प्रचलित तंत्र-मंत्र, जादू-टोने, यौन-यौगिक प्रक्रियाओं आदि को बौद्धिक विचारधारा से अनुप्राणित करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया। मन्त्रयान का यह नया रूप ही वज्रयान कहलाया। दासगुप्ता ने वज्रयान के तीन भाग माने हैं— (१) मंत्रयान (२) सहजयान (३) कालचक्रयान।[१] इसमें से हिन्दी के सूफी-कवियों पर सहजयान का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। सहजयान के अनुसार मस्तिष्क में जो सहस्त्रार चक्र है उसी की संज्ञा उष्णीय कमल है। इस उष्णीय कमल में महासुख का निवास है। महासुख कमल में शक्ति का जो रूप है। उसे सहजसुन्दरी कहा जाता है। उस सहजसुन्दरी के साथ सिद्ध योगी सदा-सदा के लिये युगनद्ध होकर महासुख का अनुभव करता है। सूफी-कवियों ने इस उष्णीय कमल को 'कबिलास' की संज्ञा से संबोधित किया है—

"सात खण्ड ऊपर कबिलासू, तहँ सोवनारि सेज सुखबासू ॥"[२]

'सात खण्ड' शरीरस्थ सात चक्रों के प्रतीक हैं और कबिलास 'आठवें उष्णीय कमल' का तथा सुखबासी 'महासुख' का प्रतीक है।



१—'इंट्रोडक्शन टु तांत्रिक बुद्धिज्म' का फुटनोट, पृ० ७१।
उद्घृत-'हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि पृ० २४१
२— टीकाकार-श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत' पदमावती-रत्नसेन-भेंट-खण्ड, पृ० २७९, कवित्त सं' २६१

यहाँ (उष्णीय कमल या सहस्त्रार में) पहुँचकर साधक सहजसुन्दरी के साथ अनन्त विलास करता है। इसे ही शिव और शक्ति का सम्मिलन कहते हैं। यही युगनद्ध भाव या युगलभाव कहा जाता है। सुखबासी स्त्री और पुरुष के अनन्त विलास का स्थान या सुखभोग मनाने की जगह है। जब साधक की पहुच उस स्थान तक हो जाती है तब नायिका के साथ उसके विहार का वर्णन सूफी-कवियों ने ठीक उसी प्रकार किया है जैसे सहजयान में हुआ है। उस निर्मल सहज या महासुख की अवस्था में फिर पाप और पुण्य का भेद नहीं रह जाता।[1] सूफी-कवियों द्वारा इसी का साहित्यिक वर्णन विवाह के अनन्तर नायक-नायिका के सुखाबसी में सम्मिलन और सुखभोग में किया गया हैं। जिस प्रकार सहजसुन्दरी निर्मल बोधि-चित्त या वज्रसत्व से मिलने के लिये अपने को सजाती है उसी प्रकार सखियाँ नायिका का शृंगार करती हैं।[2]

८·४ अन्य प्रतीक

प्रेम-सौन्दर्य, साधना, एवं तंत्र-मन्त्र सम्बन्धी इन प्रतीकों के अतिरिक्त सूफी काव्य में कतिपय अन्य प्रतीत भी प्रयुक्त हुए हैं, जो विशेष रूप से सूफी-सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं।

'अंडरहिल' ने प्रतीकों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। उनका विचार है कि साधक को गंभीर तड़पन तीन प्रकार की होती हैं और उसकी अभिव्यक्तियाँ भी तीन प्रकार की होती हैं- तड़पन की प्रथम स्थिति में, वह यात्री बनकर निकल जाता है; अर्थात् वह अपने सामान्य जगत से निकलकर भव्य देश में जाता है। दूसरी तड़पन, हृदय की हृदय के लिये होती है, आत्मा की पूर्ण मैत्री के लिये होती है। यह तड़पन साधक को प्रेमी बना देती है। तीसरी तड़पन, हृदय के शुद्धीकरण और उसकी पूर्णता के लिये होती है। यह साधक को साधु और फिर पूर्ण संत बना देती है।[3]

यद्यपि अंडरहिल ने अपने उपरोक्त विचार क्रिश्चियन-रहस्यवाद को दृष्टि में रखते हुये अभिव्यक्त किये हैं, पर साधक के यात्री बनकर निकलने, अपने प्रेम पात्र

१– 'हउ सुण्ण जगु सुण्णु तिहुँ अनुसुण्ण णिम्मल सहजे न पापण पुण्ण।'
(तल्लोपा दोहा-कोश, दोहा सं० ३४।

२– 'राजै तपत सेज जो पाई, गाँठि छोरि धनि सखिन्ह छपाई।
कहै कुँवर, हमरे अस चारू, आज कुँवरि कर करब सिगारू॥"
'जायसी-ग्रन्थावली' पदमावती-रत्नसेन भेंट-खण्ड पृ० १२८ कवित्त सं० २.

३– 'मिस्टीसिज्म'–अंडरहिल–पृ० १२६-१२७

को प्राप्त करने तथा हृदय को शुद्ध करने की प्रवृत्ति हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों में भी पायी जाती है। हिन्दी के सूफी-काव्य में नायक नायिका को स्वप्न में या साक्षात् अवलोककर अथवा उसका रूप, गुण, श्रवणकर उस पर मुग्ध हो जाता है और उसके विरह में व्याकुल होकर अपना राज्यपाट छोड़कर उसे पाने के लिये जोगी बनकर निकल पड़ता है।[१] यहाँ पर नायक 'साधक' का, नायिका 'परब्रह्म' का और राज्य पाट आदि छोड़ना 'सांसारिक माया-जाल से विरक्त होने का' प्रतीक है। सूफी साधना में यात्रा के प्रतीक का बड़ा महत्त्व है।[२] फरीउद्दीन अत्तार ने खोज, प्रेम, मारिफ़त अनासक्ति, एकत्व, कुतूहल एवं परमात्म प्रेम के महासागर में निमग्न होने की सात घाटियों की यात्रा का वर्णन किया है। हिन्दी के सूफी-कवियों के प्रेमाख्यानों के नायक सात समुद्र आदि के रूप में इन घाटियों को पार कर अपने सिद्धि-स्थान सिंहल, कामरूप आदि तक पहुँचते हैं। सिंहल, कामरूप आदि की यह यात्रा साधक की आध्यात्मिक यात्रा का प्रतीक है। साधक की यह आध्यात्मिक यात्रा पूरी होती हैं तब उसे सिद्धि (परब्रह्म) की प्राप्ति हो जाती है।[३] इस सिद्धि की प्राप्ति के लिये वह तपस्वी बन कर अपने मन को उसी के चरणों में एकाग्रकर उसी का चिन्तन किया करता है।[४]

१– 'तजा राज राजा भा जोगी, औ किंगरी कर गहे वियोगी।
नगर-नगर औ गाँवहि गाँऊ चला छाड़ि सब ठाँवहि ठाँऊ।
काकर घर काकर मढ़ माया ताकर सब जाकर जिउ काया॥'
टीकाकार -श्री वासुदेवशरण अग्रवाल 'पदमावत' (जोगी-खण्ड) पृ० १४२, १५१, कवित्त सं० १२६–१३४

२– 'मिस्टीसिज्म'–अंडरहिल–पृ० १३१–१३२.

३– "तजि ओहिवार न जानौं दूजा, जेहि दिन मिले जातरा पूजा।"
टीकाकार-श्री वासुदेवशरण अग्रवाल–'पदमावत' पृ० १८१.

४– "बैठ सिंघ छाला होइ तपा, पदुमावति पदुमावति जपा।
दिस्टि समाधि ओहि सौं लागी, जेहि दरसन कारन बैरागी॥
किंगरी गहे बजावै झूरैं, भोर सांझ सिंगी निति पूरैं।"
-वही, मण्डप-गमन- खण्ड- पृ० १६०, कवित्त सं० १६७.
"सिंगी पूरै पन्थ सँभारा, जपै सुरंगिनि भई अधारा।
कर किंगरी घँटोर मन मेला, तार बजावइ रैनि अकेला।"
-स० डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त-'मिरगावती' पृ० १७५, कवित्त सं० १०६.
"गुन किंगरी तेहि वार बजावई चित्तहि चाँदा मुख चित्र उपवाई।"
सिद्ध पुरुष मढ़ बइठेउ धरि तिरसुर दुवारि।
भुगुति मोरि बनखंड कइ चाँद नाम ततसार॥"
स० डॉ० माताप्रसाद गुप्त–'चंदायन', पृ० १६०.

इसी प्रकार नायकों के योगी-वेश में कंथा, छाल, वीणा, गुदड़ी, खप्पर, भसम आदि धारण करके[1] घर से निकलने का जो चित्रण हुआ है, वह भी प्रतीकात्मक है। ये नायक योगी का वेश इसी लिये धारण करते हैं, ताकि तप और योग के लिये वे तत्पर रह सकें और विघ्न-बाधाओं से प्रताड़ित होने पर बीच में घबड़ाकर बैठ न जायें। इनका भस्म धारण करना इस बात का प्रतीक है कि ज्ञानाग्नि से समस्त कलुष भावनाएँ दग्ध हो जायें।[1]

इसी प्रकार कन्था तथा गुदड़ी धारण करना इनके त्याग, तपस्या, हृदय की पवित्रता तथा ईश्वरीय अनुग्रह आदि का प्रतीक है। सुहरावर्दी ने 'आवारिफ़ुल मारिफ' में बताया है कि मुरीद के लिये परमात्मा द्वारा स्वीकृत एक शुभ संवाद है, क्योंकि 'खिरका (गुदड़ी, कंथा) धारण करना शेख की स्वीकृति का लक्षण होता है। यही लक्षण ईश्वर की स्वीकृति का है। खुदा के इश्क पाये हुये शेख से 'खिरका' प्राप्त कर मुरीद यह जानता है कि खुदा ने उसे स्वीकार किया है।[2]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक-योजना के क्षेत्र में हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने सूफ़ी-सम्प्रदाय के प्रेम व सौन्दर्यपरक प्रतीकों को

१- सवन फटिक मुद्रा सिर सेली, कंठ जाप रुदराखंड मेली।
चकस जोगौटा कोथी कंथा, पाइँ पावरी गोरख पंथा ॥
मुख विभूति कर गही अधारी, छाला बइसिक (कई) आसन भारी ॥
डंडा खप्पर सींगी पूरइ नेह चारचा गावइ झूरइ।
गुन किंगरी तेहि बार बजावई, चित्तहि चाँदा मुख चित्र उपवाई ॥"
सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त-'चंदायन'-पृ० १६०
"चंद वदन और चंदन देहा, भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा।
मेखल सिंगी चक्र धँधारी, जोगौटा रुद्राख अधारी ॥
कंथा पहिरि डंड कर गहा, सिद्धि होइ कहँ गोरख कहा।
मुद्रा स्रवन कंठ जयमाला, कर उदयान काँध बघछाला ॥
पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता, खप्पर लीन्ह भेस कै राता।"
टीकाकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल –'पदमावत'-जोगी-खण्ड-पृ० १४२, कवित्त सं० १२६.
"केस उदिआनी गोरखपन्था, पाँय पाँवरी मेखलि कंथा।
जटा चक्र, मुद्रा जपमाला, डण्डा खप्पर केसरि छाला ॥
जोगौटा, रुदराख, अधारी, भसम लेउ तिरसूल सँवारी ॥"
सं० डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त–'मिरगावती', पृ० १७४-१७५, कवित्त सं० १०६
२ ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी–'नाथ-संप्रदाय'–पृ० १८.

अपनाने के साथ-साथ कुण्डली-योग, हठयोग एवं जंत्र-तन्त्र सम्बन्धी भारतीय साधनाओं के प्रतीकों को भी अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। इस कारण इनके प्रेमाख्यानों पर भारतीयता का गहरा रंग चढ़ गया है। सूफ़ी–साधनात्मक शब्दावली सरस बनकर भारतीय भावनाओं के साथ इस प्रकार घुल मिल गयो है कि पढ़ते समय दोनों में कोई विरोध या पार्थक्य दिखायी नहीं देता। किन्तु साथ ही यह द्रष्टव्य है कि जहाँ तक चरमलक्ष्य की प्राप्ति का प्रश्न है, योग-साधना की प्रक्रियाओं को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने प्रेम-साधना को अधिक महत्त्व दिया है। इन कवियों ने कुण्डली-योग, हठयोग तथा तंत्र-मंत्र सम्बन्धी साधना को प्रेम-सिद्धि के साधन रूप में ही स्वीकार किया है, साध्य रूप में नहीं। अस्तु, कहा जा सकता है कि इनकी साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक-योजना में प्रेम-सौन्दर्यपरक प्रतीकों का स्थान प्रमुख है और कुण्डली-योग, हठयोग तथा तंत्र-मंत्र सम्बन्धी प्रतीकों का स्थान गौण।

---

१ | रहस्यात्मक संकेतसूचक प्रतीक-योजना

योगी और यती आदिकाल से ही सृष्टि के सृष्टा का प्रत्यक्षीकरण करने के लिये प्रयत्नशील हैं, किन्तु अद्यापि वह उनके लिये रहस्यमय बना हुआ है। मानव-मन की यह प्रवृत्ति है कि वह अप्राप्य को पाने का प्रयास करता है। ब्रह्म अलभ्य है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये वह अनन्तकाल से प्रयास करता चला आ रहा है–

"पाना अलभ्य को जग की यह कैसी है अभिलाषा ?
है ब्रह्म अप्राप्य इसी से सब करते उसकी आशा ।।"

– हृदय नारायण पाण्डेय 'हृदयेश' ।

इसी अप्राप्य की प्राप्ति के लिये किये गये प्रयासों को रहस्यवाद की संज्ञा दी गयी है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्मा और अव्यक्त ब्रह्म का सीधा सम्बन्ध जब काव्यमयी भाषा में व्यक्त होता है तो साहित्य में उसे रहस्यवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में- 'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता ।"[1]

इस सम्बन्ध में कुमारी इविलिन अन्डरहिल ने लिखा है– 'रहस्यवाद भगवत्सत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला है ।'

स्पष्ट है कि आत्मा और अव्यक्त ब्रह्म के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति को रहस्यवाद कहा जाता है और इस प्रकार की अनुभूतियों को व्यंजित करने वाले कवि को रहस्यवादी कवि। अपनी अनुभूति की व्यंजना के लिये प्रतीकों का आश्रय रहस्यवादियों के लिये अनिवार्य सा हो जाता है क्योंकि साधारण भाषा के शब्दों

१–"कबीर का रहस्यवाद" पृ० १५.

में अनुभूति की तीव्रता को व्यंजित कर पाना असम्भव है। वस्तुतः यह अनुभूति तो गूंगे की शर्करा के समान है जिसके रस का अनुभव केवल मन में ही किया जा सकता है। तभी तो महात्मा सूरदास ने कहा है कि–

"ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सुनिरन्तर अमित तोष उपजावै॥
मन-बानी को अगम-अगोचर सो जाने जो पावै।"[1]

वास्तव में इस गूंगे की शर्करा के समान अनुभव होने वाली अनुभूति की अभिव्यक्ति केवल प्रतीकों द्वारा ही सम्भव है। अस्पष्ट एवं अतीन्द्रिय सत्ता से सम्बन्धित ये प्रतीक रहस्यात्मक संकेतसूचक प्रतीक कहलाते हैं।

९.१. इहलोक सम्बन्धी प्रतीक-योजना

परब्रह्म एवं परलोक से सम्बन्धित वस्तुओं एवं भावों की अभिव्यक्ति के लिये हम इस लोक से सम्बन्धित जिन भावों एवं वस्तुओं को ग्रहण करते हैं, वे इहलोक सम्बन्धी प्रतीक की संज्ञा से सम्बोधित किये जाते हैं।

रहस्यवादी साधकों की साधना की आधारभूमि भावना है दिव्य प्रणय। साधक उस दिव्य प्रणयानुभूति की व्यंजना के लिये तड़पता रहता है, किन्तु असीम अनुभूतियों को अपनी सम्पूर्णता में व्यक्त कर पाना असम्भव सा है। साथ ही उनको अनुभव करने वाला साधक उनकी रमणीयता और मधुरिमा से इतना अधिक मुग्ध रहता है कि वह उनको बिना व्यंजित किये हुए रह भी नहीं पाता, इसके लिये वह उन लौकिक सम्बन्धों के प्रतीकों की योजना करता है जिनमें प्रणय की चरम परिणति पायी जाती है। लोक में प्रणय की चरम परिणति नर–नारी के दो सम्बन्धों में पायी जाती है– प्रथम तो प्रेमी प्रेमिका के प्रणय में और द्वितीय पति-पत्नी के प्रणय में। प्रथम संयमहीन रहस्यमयता की आधारभूमि पर अवलम्बित है और द्वितीय संयम की आधारभूमि पर। आदर्शवादी रहस्यवादी कवि पति-पत्नी के प्रतीकों की योजना करते हैं और कट्टर प्रेमवादी प्रेमी-प्रेमिका के प्रतीकों की। चूंकि, हिन्दी के सूफी-कवि कट्टर प्रेमवादी होते हुए भी थोड़ा-बहुत भारतीय आदर्शवाद से प्रभावित थे, अतः उन्होंने मध्य मार्ग को अपनाया। उनके द्वारा निरूपित प्रेम पहले तो प्रेमी-प्रेमिका के रूप में रहता है और बाद में वही पति-पत्नी के प्रेम में परिणत हो जाता है। इस प्रकार हिन्दी के सूफी-कवियों ने दिव्य प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये प्रेमी–प्रेमिका और पति-पत्नी दोनों प्रकार के प्रतीकों को अपनाते हुए

१– डा० मुंशीराम शर्मा-'सूर संचयन' (विनय के पद) पृ० १०९.

जीवात्मा को 'वधू', मायका को 'इहलोक' और ससुराल को 'परलोक' का प्रतीक माना है; यथा–

"......................पदमावति सो कहहि सहेली ।
ए रानी ! मन देखु विचारी, इह नैहर रहना दिन चारी ।
जौ लग अहै पिता कर राजू, खेलि लेहु जो खेलहु आजू ॥
पुनि सासुर हम गवनब काली, कित हम, कित यह सरवर पाली ॥"[1]

० ० ० ०

"नैहर केर होइ गुनवन्ती, तब ससुरे सुख पावै रे ।"[2]
"एह नहियर और पितु कै राजू, ससुरे गएँ आव नहि काजू।
दिन दुइचार इहाँ कर रहना, खेलन हँसन सोई पै लहना ॥
खेलहु खेल बूझि मन माहीं, आजु जौ आहि काल्हि सो नाहीं ।
काल्हि पीउ बोलहि चितधरी, राखि न सकिहि कोउ एक घरी ।
काढ़ि देव हम एकसरी, चलिहि न कोउ साथ ।
कहे न पाउब बात कछु, रहब मरोरत हाथ ॥"[3]

इस प्रकार इन कवियों ने परलोक के लिये ससुराल के प्रतीक को ग्रहण किया है ।

परब्रह्म की अभिव्यक्ति इन कवियों ने नायिकाओं के माध्यम से की है। वस्तुतः सूफी नारी को परमात्मा का प्रतीक मानते हैं। अरावी नामक सूफी ने लिखा है– "परमात्मा के दर्शन सदैव स्त्री रूप में ही किये जाने चाहिये ।"[4] सूफियों से प्रभावित इन हिन्दी-सूफी-कवियों ने भी अपनी नायिकाओं को परब्रह्म का प्रतीक माना है । वे विश्व के समस्त पदार्थों में उसी परब्रह्म रूपी नायिका का दर्शन करते हैं और उसी के सौन्दर्य से स्वर्ग, पाताल और इस संसार को दीपित मानते हैं, यथा–

"सहदेव मंदिर चाँद औतारी, धरती सरग भई उजियारी" ।[5]

अर्थात् सहदेव के यहाँ चाँद का जन्म होते ही उसकी ज्योति से पृथ्वी और स्वर्ग आलोकित हो गये ।

१–"जायसी-ग्रंथावली"-मानसरोदक-खण्ड-पृ० २३, कवित्त सं० २.
२–"कहरानामा', पद सं० ८.
३–"चित्रावली" चित्रावली-जागरण-खंड-पृ० ४५, कवित्त सं० ११४.
४–निकलसन-'स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म' पृ० १६१.
५–सं० डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त-'चंदायन' पृ० ६८.

कवि कुतुबन ने 'मिरगावती' के बरुनि-वाणों से चौदह भुवन, सात दीप, नौ खण्ड तथा स्वर्ग एवं पाताल सभी को बिंधा हुआ दिखाया है–

"चौदह भुवन प्रिथमी आहै, सात दीप नौ खण्ड।
सरग पतार बरुनि सर बेधा, जियउ, पाहन, गण्ड ॥"[१]

इसी प्रकार 'पद्मावती' के बरुनि-वानों से भी सभी विंधे हुए है–

"उन्ह वानन्ह अस को जो न मारा, वेधि रहा सगरो संसारा।
गगन नखत जो जाहि न गने, वैं सब बान ओही के हने।
धरती बान वेधि सब राखी, साखी ठाढ़ देहिं सब साखी।
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े, सूतहि सूत बेध अस गाड़े ॥
बरुनि-बान अस ओपहँ, बेधे रन वन-ढांख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पांख ॥"[२]

इसी प्रकार इन्द्रावती जब दर्पण में अपने स्वरूप को देखकर विमोहित हो जाती है तो कवि हदीस के वचनों को आरोप इन्द्रावती की इस क्रिया पर करके, उसके ब्रह्मत्व को सिद्ध करने का प्रयास करता है। हदीस है कि अल्लाह ने अपने स्वरूप पर मुग्ध होकर सृष्टि रचना की थी; वह दर्पण में अपने सौन्दर्य को अवलोककर स्वयं मोहित हो गया था। इसी प्रकार इन्द्रावती भी दर्पण में अपने सौन्दर्य को देखकर रीझ जाती है–

"कोउ नाहीं वीच सों, अपने रूप लोभान।
अपनो चित्र चितेरा, देखि आप अरुझान ॥"[३]

उपनिषदों में ब्रह्म-साक्षात्कार की स्थिति का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। एक उपनिषद में लिखा है–

"भिद्यन्ते हृदयग्रंथी छिदन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्मणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥"[४]

अर्थात् उस परात्परब्रह्म से साक्षात्कार करते ही हृदय की अज्ञानमयी ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं। उसके सर्वसंशय छिन्न हो जाते हैं। वह पापों से मुक्त हो जाता है। हिन्दी के सूफी-कवियों ने परब्रह्म से साक्षात्कार की इस स्थिति का वर्णन इहलोक के प्रतीकों का आश्रय लेकर किया है- 'पदमावत' में यह प्रसंग इस

१–सं० डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त, 'मिरगावती' पृ० १४५, कवित्त सं० ५७.
२–"जायसी-ग्रंथावली"-नख-शिख-खण्ड, पृ० ४३, कवित्त सं० ६.
३–"इन्द्रावती"-पृ० ७१.
४–"कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन' पृ० २००.

रूप में आया है कि मानसरोवर पारस-रूप (निर्गुण ब्रह्म) की प्रतीक पद्मावती का दर्शन कर धन्य हो जाता है और उसके चरणों का स्पर्श करने के लिये मानों लहरें लेने लगता है–

"सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।
पाँव छुवैं मकु पावौ, एहि मिस लहरहिं देइ।"[१]

उसके चरणों को स्पर्शकर उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वह पुण्य दशा को प्राप्त कर लेता है–

"कहा मानसर चाह सो पाई, पारसरूप इहाँ लगि आई।
भा निरमल तिन्ह पाँयन्ह परसे, पावा रूप-रूप के दरसे ॥
मलय-समीर बास तन आई, भा सीतल, गै तपनि बुझाई ॥
न जानौं कौन पौन लेइ आवा, पुन्य-दशा भै पाप गँवावा ॥"[२]

'हँस-जवाहिर' में भी सरोवर की इस कामना की अभिव्यक्ति हुई है। सरोवर उमड़कर लहरें लेकर उसके चरणों के पास पहुँच जाना चाहता है-

"तहाँ ठाढ़ शशि कमल शरीरा, लहरें लेय लाग जल तीरा।
हुलसि नीर जो लहर उठावै, उमड़े चरण चहूँ का धावै ॥"[३]

'पदमावत' में यह प्रसंग उस स्थल पर भी उपलब्ध होता है जहाँ पर कि रत्नसेन आदि जीवात्माएँ सातवें समुद्र पर पहुँचकर परब्रह्म के दर्शन कर इस दशा को प्राप्त होती हैं-

"देखि मानसर रूप सोहावा, हिय हुलास पुरइनि होई छावा।
'अस्ति अस्ति' सब साथी बोले, अंध जो अहै नैनविधि खोले।"[४]

'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'[५] वैदिक-दर्शन के अनुसार प्रकृति की अव्यक्त अवस्था दर्पण है जिसमें चैतन्य ज्योति का आभास पड़ता है। जितने मूर्त रूप हैं वे सब उसी परब्रह्म रूपी ज्योति के प्रतिबिम्ब हैं। जायसी ने परब्रह्म की प्रतीक पद्मावती रूपी ज्योति के माध्यम से इसे स्पष्ट किया है-

"पावा रूप रूप जस चहाँ, ससि-मुख जनु दरपन होई रहाँ।"[५]

१–"जायसी-ग्रंथावली" (पदमावत) मानसरोदक-खंड-पृ० २४, कवित्त सं० ४.
२–वही, पृ० २५, कवित्त सं० ८.
३–"हंस-जवाहिर" उद्धृत–'जायसी के परवर्ती हिन्दी--सूफी-कवि और काव्य पृ० ४४५.
४-"जायसी-ग्रंथावली'-सात-समुद्र-खण्ड- पृ० ६७, कवित्त सं० १०.
५-वही,- मानसरोदक-खण्ड-पृ० २५, कवित्त सं० ८.

संसार के समस्त रूप, सौन्दर्य और आलोक उसी महाज्योति की छाया से द्योतित है। पद्मावती के मुख के लिये समस्त पदार्थ दर्पण के सदृश्य हैं। उसके नयनों के सौन्दर्य से कमल, शरीर से निर्मल नीर, हँसी से श्वेत हंस और दशन-ज्योति से नग-हीर बने हैं—

"नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर समीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर।।"[१]

जीव के विषय में हिन्दी के सूफी-कवियों ने अद्वैत भावना को अपनाया है। जीव और ब्रह्म में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जीव ब्रह्म का ही अंश है। 'श्वेताश्वेतरोपनिषद' में ब्रह्म को ही स्त्री, पुरुष, कुमारी एवं वृद्ध बतलाया गया है।[२] गीता में भी 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः[३] कहकर जीव को ब्रह्म का ही अंश बतलाया गया है। इस अद्वैत भावना को हिन्दी के सूफी-कवियों ने बूँद और समुद्र प्रतीक के माध्यम से व्यंजित किया है; यथा—

"रहा जो एकजल गुपुत समुंदा, बरसा सहस अठारह बुंदा।
सोइ अंस घटै घट मेला, ओ सोइ बरन-बरन होइ खेला।।"[४]

\+ \+ \+

"बुन्दहि समुंद समान यह अचरज कासौं कहौं ?
जो हेरा सो हेरान, मुहम्मद आपुहि आपु महँ।।"[५]

जीवात्मा परमात्मा में समाहित हो गयी। जो जीवात्मा परमात्मा को ढूढ़ रही थी वह स्वयं खो गयी अर्थात् वह परमात्मा में मिल गयी; उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो गया। संत-कबीर की निम्नांकित पंक्तियों में भी पूर्णतया यही भाव व्यंजित हुआ—

"हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराय।
समंद समाना बूंद में, सो कत हेर्या जाय।।"[६]

बूँद और समुद्र का यह प्रतीकात्मक प्रयोग हमें 'अनुराग-बाँसुरी' और 'मधुमालती' में भी उपलब्ध होता है; यथा—

१— "जायसी-ग्रंथावली"-मानसरोदक-खंड-पृ० २५, कवित्त सं० ८.

२— "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दंडेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।"
—श्वेताश्वेतरोपनिषद अ० ४, मंत्र ३.

३— 'गीता' अ० १५, श्लोक ७.

४ व ५- 'जायसी-ग्रंथावली' अखरावट ३०५, ३०८.

६— 'कबीर-ग्रंथावली'-लावि कौ-अंग, पृ० १७, दोहा सं० ४.

"वह समुद्र आगै हम लोगै, विन्दु समा आवै केहि जोगै।"
(अनुराग-बाँसुरी)

+ + +

इसी प्रकार कवि अलीमुराद ने भी परमेश्वर और जीव में एकत्व स्थापित करते हुए लिखा है कि जब समुद्र अपने समुद्रत्व को छोड़कर बूंद हो जाता है तो लोग उसे बूंद-ही कहते हैं, समुद्र नहीं, किन्तु वास्तव में दोनों वस्तुएँ हैं एक ही–

"समुन्दर से बूँद भयो जसु ओही, समुन्दर कहै नहीं बूँद न होई।
वुन्द यहाँ है कहौं वड़ी युधि खोई
वुन्द मिला जब समुन्द कहायो,
वुल्ला नदी वुन्द एक है दूजा नहीं तू जान।
यह वानी हैं मुराद की सांची कहा वखान॥"[1]

बूँद और समुद्र प्रतीक के साथ-साथ सृष्टि और परमेश्वर के सम्बन्ध का वर्णन करते समय इन कवियों ने समुद्र और लहर, सूर्य और किरण, नट और कठपुतली, चित्र और चित्रकार आदि प्रतीकों का भी आश्रय ग्रहण किया है–

"एकै हम दुइ कै अवतारा, एक मन्दिर दुइ किये दुआरा।
तैं जो समन्द्र लहर मैं तोरी, तैं रवि मैं जग किरन अंजोरी॥"[2]

निम्नलिखित पंक्ति में नट और कठपुतली के प्रतीक का प्रयोग द्रष्टव्य है–

"कव लगि नट ज्यों आपु छिपावसि, इहि जग पुतरी काठ नचावसि॥"[3]

कवि उसमान ने नट और कठपुतली के प्रतीक के अतिरिक्त चित्र और चित्रकार के प्रतीक का भी उल्लेख किया है–

"आदि वखानो सोइ चितेरा, यह जग चित्र कीन्ह जेहि केरा।"[4]

इस संसार की चित्र एवं अल्लाह की चित्रकार रूप में कल्पना जानकवि ने भी की है–मैं सर्वप्रथम उस कर्त्ता का स्मरण करता हूँ, जिसने इस सम्पूर्ण चित्र रूपी संसार को रचना की है। उसने कैसे अद्‌भुत चित्रों की रचना की है, जिन्हें देखकर चित्रकार की शक्तियों का आभास हो जाता है–

"प्रथम सुमिरत हीं करतारा, जिन चितरयो यह सब संसारा।

१– 'कथा कुँवरावत' उद्धृत—'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० ५८६.
२– 'मधुमालती' -मधुमालती-जागी-खंड, पृ० ३७.
३– 'चित्रावली' -स्तुति-खण्ड -पृ० ४, कवित्त सं० ९.
४– वही, पृ० १.

कैसे कैसे चित्र बनाये, देखत चित्र चितेरा पाये ।।"[१]

चित्र और चित्रकार के इस प्रतीक को कवि शेख निसार ने भी अपनाया है। वह कहते हैं कि चित्रकार रूपी परमात्मा ने जो जीव रूपी अनेकों चित्र निर्मित किये हैं वे यद्यपि रंग-रूप की सुन्दरता से मन को मोहित करने वाले हैं, किन्तु ये किसी काम नहीं आते; अतः हमें उस चित्रकार में ही अपने चित्त को रमाना चाहिये—

"चित्र अनेक जो रच्यो चितेरे, मोहित होय रूप रंग हेरे।
आवे चित्र काज कछु नाहीं, चित्र काज सवाँरहु मन माहीं ।।
काहे न चित्त चितेरे लावहु, चित्र विचित्र रूप निरमावहु ।।"[२]

यद्यपि इन प्रतीकों में निर्मित एवं निर्माणकर्त्ता का सम्बन्ध है, किन्तु सर्वत्र ही महानता और लघुता की ओर संकेत अवश्य है। इनसे सृष्टि की अचेतनता के साथ ही परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का भी बोध होता है।

काल के वशीभूत जीव की दशा को इन कवियों ने कतिपय प्रतीकों के आधार पर व्यक्त किया है, जिनमें मैना और बाज, मैना और मार्जारी प्रमुख हैं—

"दस दुवार जेहि पींजर माहाँ, कैस वाच मंजारी पाहाँ।"[३]

"काल सीस पर रन दिन जैस बाज मंडराय।
जिउ की मैना पींजड़े समै पाय लै जाय ।।"[४]

अद्वैत में केवल ब्रह्म की ही सत्ता का प्रतिपादन है, परन्तु विश्व की व्याख्या के लिये माया का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। 'मायावी सृजते विश्वमेतत्' कहकर उस सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म को मायावी कहा गया है। वह इस विश्व-प्रपंच का माया से हो सृजन कर माया से ही स्वयं अन्य-सा होकर स्थित रहता है। प्रकृति ही माया है जो विक्षेप तथा आवरण शक्ति से एक को अनेक रूप करके दिखाती है। दृश्य-जगत् की ब्रह्म से अविच्छिन्न कोई सत्ता नहीं है वरन् अग्नि से निकले हुए स्फुल्लिगों की भाँति वही है—

"यथाऽग्ने छुद्राः स्फुल्लिगाः"

वेदान्त के अनुसार आत्मा और परमात्मा के मध्य द्वैत का कारण माया है।

१— 'कथा कामलता' उद्धृत—'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० ४०.

२— 'यूसुफ-जुलेखा'—उद्धृत—'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य'- पृ० ५२३.

३— 'जायसी-ग्रंथावली'—सुआ-खण्ड, पृ० २६, कवित्त सं० ३.

४— 'भाषा प्रेमरस'—उद्धृत—'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० २१६.

जब यह माया का आवरण विछिन्न हो जाता है तो द्वैत भाव मिट जाता है। वेदान्त के इस भाव की व्यंजना जायसी ने अपनी निम्नलिखित पंक्तियों में की है—

"जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा, कोटि अन्तरपट बीचहि दीन्हा।
जब चीन्हा तब और न कोई, तन मन जिउ जीवन सब सोई।
'हौं-हौं' कहत धोख इतराही, जब भा सिद्ध कहाँ परछाहीं॥"[1]

यहाँ करोड़ों अन्तरपट 'माया के आवरण' के प्रतीक हैं। गुरु 'आत्मस्वरूप भाव' का प्रतीक है और 'हौं' अहंकार का। रत्नसेन 'जीवात्मा' का प्रतीक है और सिद्ध 'द्वैत-भाव की समाप्ति' का। इस प्रकार इन प्रतीकों के माध्यम से इसमें बताया गया है कि जब तक जीवात्मा आत्मस्वरूप को नहीं पहचानता तब तक उसके बीच माया के अनेकों आवरण पड़े रहते हैं; किन्तु ज्ञानोदय हो जाने पर माया के समस्त आवरण विनष्ट हो जाते हैं। जीवात्मा और परमात्मा के मध्य का द्वैतभाव नष्ट हो जाता है। जीव जब अपने आत्मभाव को पहचान लेता है तो उसे यह अनुभव होने लगता है कि तन, मन, जीवन सब कुछ वही एक आत्मतत्त्व है। लोग अहंकार के वशीभूत हो द्वैत भाव में फँसे रहते हैं किन्तु ज्यों ही अहंकार नष्ट हो जाता है त्यों ही छाया और आतपवाला भेद समाप्त हो जाता है।

माया शब्द का प्रचार भारतीय लोकजीवन में भी बहुत अधिक है। लोक-जीवन में साधारणतः प्रपंच प्रवंचना, अहंकार, स्त्री, जड़ता, कपट, बुद्धि आदि माया के प्रतीक हैं। माया सम्बन्धी इन धारणाओं की व्यंजना हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपने पात्रों के माध्यम से की है। जायसी ने अलाउद्दीन को माया[2] का प्रतीक माना है। वास्तव में यहाँ पर माया को उन्होंने अज्ञान के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। अज्ञान की अनेक विशेषताएँ कवि ने अलाउद्दीन के माध्यम से व्यंजित की है।

भौतिकता की दृष्टि से माया या अज्ञान की अपरिमित शक्ति है। कवि ने अलाउद्दीन को भी अपरिमित शक्ति वाला दिखलाया है। रत्नसेन जैसा सिद्ध साधक भी उसकी अपार शक्ति के आगे पराभूत हो जाता है। अलाउद्दीन की अतुलनीय शक्ति का वर्णन करते हुए जायसी ने लिखा है कि उसके चित्तौड़गढ़ पर विजय हेतु प्रस्थान करने पर इन्द्र का भण्डार भी भयभीत होकर कम्पित होने लगा—

"बादशाह हठि कीन्ह पयाना, इन्द्र भंडार डोल भय माना।"[3]

उसकी सेना के प्रस्थान करने पर स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी, पर्वत और सुमेरु सभी के कार्य-कलाप अव्यवस्थित हो गये। जायसी के शब्दों में इसका चित्रण द्रष्टव्य है—

१— 'जायसी-ग्रंथावली' -गंधर्वसेन-मंत्री-खण्ड, पृ० १०५, कवित्त सं० ७.
२— 'माया अलाउद्दीन सुलतानू'। वही, पृ० ३०१
३— 'जायसी-ग्रंथावली' —बादशाह-चढ़ाई-खण्ड—पृ० २२४, कवित्त सं० १७.

"आवै डोलत सरग पतारा, काँपै धरनि, न अंगवै भारा।
टूटहि परवत मेरू पहारा, होइ चकनचून उड़हि तेहि झारा।
सत-खंड धरती भइ षट-खंडा, ऊपर अष्ट भये बरम्हण्डा ॥"[१]

इसी प्रकार अन्य अनेक पंक्तियों में भी कवि जायसी ने अलाउद्दीन रूपी माया की अपरिमेय शक्ति की व्यंजना की है; यथा चित्तौरगढ़ की विजय के लिये जाती हुई उसकी सेना का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वह कटक-दल इस प्रकार चला कि उससे पृथ्वी उजड़ गयी; तालाब सूख गये; जंगलों के वृक्ष नष्ट हो गये; पर्वत और पहाड़ मिट्टी में मिल गये तथा हाथी चींटी की भाँति खो जाते थे–

"चला कटक-दल ऐस अपूरी, अगिलहि पानी पछिलहि धूरी।
महि उजरी सायर सब सूखा, वनखंड रहेउ न एकौ रूखा।
गिरि पहार सब मिलि गे माटी, हस्ति हेराहि तहाँ होइ चाँटी ॥"[२]

माया की प्रतिरूप स्त्री है। अलाउद्दीन रूपी कपट बुद्धि सदैव स्त्रियों में तन्मय रहती है। उसके १६०० रानियाँ थीं, किन्तु फिर भी वह पद्‌मिनी की प्राप्ति के लिये अनाधिकार चेष्टा करता है। माया की अन्य विशेषता जड़ता का भी अलाउद्दीन में समावेश है। पद्‌मिनी के लिये अलाउद्दीन का इतने दिनों तक पड़े रहना– "आइ साह अम्बराव जो लाये, फरे झरे पै गढ़नहि पाये।"[३] उसकी जड़ता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

माया की प्रतीक अहंकार और कपट-बुद्धि भी अलाउद्दीन में प्राप्त होती हैं। अहंकार का तो मानो वह अवतार ही है। उसकी कपट बुद्धि का दर्शन हमें उस स्थल पर होता है जब कि वह अपनी जड़ शक्ति द्वारा रत्नसेन रूपी साधक पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता है। वह कपटपूर्वक उससे मैत्री करता है और फिर उसे बन्दी बना लेता है।

इस प्रकार जायसी ने अलाउद्दीन को माया का प्रतीक मानकर उसके माध्यम से माया के एक पक्ष का वर्णन किया है। माया के दूसरे पक्ष का वर्णन उन्होंने नागमती के प्रतीक से किया है–

"नागमती यह दुनियाँ-धंधा, बाचा सोइ न एहि चित्त बंधा।"[४]

अन्य प्रेममार्गी सूफी-कवियों ने भी नायिकाओं की सपत्नियों को माया का प्रतीक माना है। वास्तव में माया का प्रतिरूप नारी और विशेषकर अज्ञानमयी नारी

१– 'जायसी-ग्रंथावली' बादशाह-चढ़ाई-खण्ड–पृ० २२६, कवित्त सं० २१.
२– वही, पृ० २२६-२२७, कवित्त सं० २२.
३– 'जायसी-ग्रंथावली'–राजा-बादशाह-युद्ध-खण्ड, पृ० २३७, कवित्त सं० १८.
४– वही, पृ० ३०१.

है। जायसी ने ऐसी ही नारी को लक्ष्यकर लिखा है–

"जो तिरिया के काज न जाना, परे धोख पाछे पछिताना।
नागमती नागिन-बुधि ताऊ, सुआ मयूर होइ नहिं काऊ॥"[१]

नायिकाओं की सपत्नियाँ ऐसी ही अज्ञानमयी नारियाँ हैं जो नायक रूपी साधक की सिद्धि-प्राप्ति में वाधा उत्पन्न करने का प्रयास करती हैं। जायसी ने सिद्धि रूपिणी पद्मावती के विरोध में नागमती को 'निसि अंधियारी' कहा है। इस दुर्गुण का प्रमुख कारण उसका अहंकार है। वह अपने को संसार की श्रेष्ठतम सुन्दरी समझती है और तोता रूपी पंडित जब उसकी इस अहम् वुद्धि की निन्दा करता है तो वह उसके प्राणों की घातिका हो जाती है और उसे मरवा डालने की चेष्टा करती है। अपने इसी अहंकार, प्रपंच वृद्धि और दुर्गुणों के कारण जायसी ने उसे दुनियाँ का धंधा कहा है अर्थात् माया का प्रतीक माना है। साधक का मन सिद्धि प्राप्त कर लेने पर भी पूर्ण परिष्कृत नहीं हो पाता। उसमें नागमती रूपी माया की वासना प्रसुप्तावस्था में विद्यमान रहती है। जिसके कारण कुछ दिनों वाद उसका पतन हो जाता है। 'पदमावत' के उत्तरार्द्ध की कथा मानव-मन के पतन की कथा है। रत्नसेन रूपी जीवात्मा के मन में नागमती रूपी दुनिया-धन्धे के प्रति थोड़ा-सा आकर्षण रह जाने के कारण वह पुनः मायाजाल में फँस जाता है और उसका पतन हो जाता है। भवसागर रूपी समुद्र में राक्षस रूपी महाविकार उसे डुवाने का प्रयास करता है। उस समय प्रतीक द्वारा की गयी कवि की व्यंजना देखिये कितनी मार्मिक है– जब मनुष्य का सतभाव नष्ट हो जाता है, वह दुनियाँ के धन्धे में फँस जाता है तब दान का भी फल नहीं मिलता। उस समय निर्मल रूप वाले सिद्ध को भी अज्ञान की आँधी उड़ाकर भव-सागर के मझधार में डुवो देती है। परिणाम यह होता है कि वह सिद्ध साधना रूप रानी से विछुड़ जाता है। दोनों दो मार्गों में वह जाते हैं–

"दिया बुझा, सत न रहा, हुत निरमल जेहि रूप।
आँधी वोहित उड़ाई कै, लाइ कीन्ह अन्धकूप॥"[२]

प्रतीक रूप में इन पंक्तियों का अर्थ यह है कि जीव अधोगामी हो जाता है और प्रत्यकात्मा उर्ध्वगामी हो जाता है। प्रत्यकात्मा फिर लक्ष्मी की गोद में जा पड़ती है किन्तु वह भाव-सागर में डूवता-उतराता है, उस समय उसे अपनी भूल का अनुभव होता है। वह कहता है कि वह प्रत्यकात्मा रूपी पद्मावती कहाँ है ? जहाँ यह मन वसता है। मैंने तो 'मोर-मोर' कहकर अहंकार, माया और धन में फँसकर सब कुछ खो दिया–

१– 'जायसी-ग्रंथावली' नागमती-सुआ-संवाद-खण्ड, पृ० ३५, कवित्त सं० ४.
२– वही, देशयात्रा-खण्ड, पृ० १७४, कवित्त सं० ७.

'कहँ रानी पद्मावति, जीउ बसे जेहि पाँह।
'मोर-मोर' कै खोएउँ, भूलि गरब अवगाँह ॥"[१]

वस्तुतः माया का कोई सत्स्वरूप इन्हें मान्य नहीं है। माया के स्वरूप का जहाँ कहीं भी निरूपण इन कवियों ने किया है वहाँ इन्द्रियगत विषय-भोगों के आकर्षण एवं उसके दुष्प्रभाव का ही वर्णन अधिक है। साधक जब अपनी साधना में अग्रसर होकर ईश्वर-प्राप्ति का प्रयास करता है तो उसे जो सर्वाधिक कठिन पड़ाव पार करना पड़ता है, वह है 'इन्द्रियपुर'। 'इन्द्रियपुर' वस्तुत माया का प्रतीक है। 'इन्द्रियपुर' की प्रत्येक वस्तु अत्यन्त सुहावनी एवं मनोहारिणी प्रतीत होती है। शब्द, रूप, रस एवं संयोग उसके प्रमुख आकर्षण हैं। संयोगरूपिणी माया के आकर्षण में आबद्ध होकर भोग की कामना में मनुष्य योग का त्याग कर देते हैं–

"लहत बसेरा ठावँ ठाऊँ, जाइ परे इन्द्रियपुर गाऊँ।
बहुत सुहावन, सुन्दर लोगँ, सबद रूप रस परम संजोगँ ॥"
"तासों माया के बस बहुतँ लोग।
जोग न चाहै कीन्हों, चाहै भोग ॥"[२]

'चित्रावली' में कवि उसमान ने राजकुँवर की यात्रा में कुछ पड़ावों या नगरों का वर्णन किया है। ये पड़ाव या नगर माया के प्रतीक हैं। इनकी ओर आकर्षित न होना साधक का कर्तव्य है; जो साधक इसमें सफल हो जाता है वही 'रूप नगर' तक पहुँच पाता है; जो साधक इन अन्तरायों का विचार नहीं करता, उन्हें मार्ग में ही बटमार लूट लेते हैं। प्रथम नगर 'भोगपुर' है जहाँ विलास की समस्त सामग्री उपस्थित है। इस आकर्षण के जाल से वही साधक बच पाता है जो 'शरीअत' के नियमों का पालन करता है। 'भोगपुर' शारीरिक इन्द्रियजनित सुख-ऐश्वर्य का प्रतीक है—

"प्रथम भोगपुर नग्र सोहावा, भोग-विलास पाउ जहँ काया।"[३]

द्वितीय नगर 'गोरखपुर' है जो बाह्याडम्बर का प्रतीक है–

"आगे गोरखपुर जहँ देसू, निबहै सोइ जो गोरखभेसू।"[४]

इसी प्रकार कवि नूरमुहम्मद ने भी अपनी प्रेमगाथा 'इन्द्रावती' में राजकुँवर की आगमपुर यात्रा में कुछ वनों का उल्लेख किया है, जो मार्ग के अन्तराय हैं। ये बन माया के विभिन्न स्वरूपों के प्रतीक हैं। प्रथम वन रूपाकर्षण का प्रतीक है।

१– 'जायसी-ग्रंथावली'--लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड, पृ० १७९, कवित्त सं० ८.
२– 'अनुराग-बाँसुरी', पृ० १३१.
३– 'चित्रावली' परेवा-खण्ड, पृ० ८०, कवित्त सं० २०५.
४– वही, पृ० ८१ कवित्त सं० २०८.

यहाँ की समस्त वस्तुएँ सुन्दर हैं, किन्तु साधक नेत्रों के इस क्षणिक सुख की अवहेलना करता है–

"पहिले वन मो राज सरेखा, भाँतहि भाँति का पच्छिय देखा।
राजै कहाँ जोग हम लीन्हा, आगम पहुँचै पर हित दीन्हा ॥"[१]

द्वितीय वन 'शब्द-सुख' दायक है, किन्तु राजकुँवर अनहद-नाद की आशा में उसका भी तिरस्कार करता है–

"दुसरे वन यों राजा आएउ, मधुर सबद पच्छिन सो पाएउ।
राजै कहा थिरउँ तेहि ठाऊँ, जहाँ सुनउँ इन्द्रावति नाऊँ ॥"[२]

तृतीय वन 'गंध-सुख' दायक है, किन्तु साधक सिद्धि की प्रतीक नायिका की लट-सुगन्ध पर मुग्ध है–

"तिसरे वन आएउ नरनाहा, मिलेउ सुगन्ध तहाँ वन माहा।
कहा प्रीतम लट कर आसा, चाहत हौं राखत नित आसा ॥"[३]

चतुर्थ वन 'रस-आनन्द' दायक है, किन्तु साधक केवल दर्शन का भूखा होता है–

"जब आये चौथे वन जहाँ, फले बहुत फल देखा तहाँ।
हौं अनरुध चाहत हौं ऊखा, ताहि के दरसन का हौं मैं भूखा ॥"[४]
"काटत पंथ महीप सयाना, पँचएँ वन मो आय तुलाना।
मोहि बिसराम कहाँ है, जब लगि दरस न होइ।
चलेउ हिर्दै पाछि मों, सुख को अच्छर धोइ ॥"[५]

पाँचवाँ वन 'स्पर्श-सुख' का प्रतीक है। साधक के लिये यह अति अनिवार्य है कि वह इन 'वनों' को सफलतापूर्वक पार करे। वास्तव में ये वन 'इन्द्रिय-सुखों' के प्रतीक हैं। वन का स्वरूप वर्णन कवि ने माया की गहनता का ध्यान रखकर किया है। जिस प्रकार अपरिचित वनस्पति से निकल सकना सहज नही होता उसी प्रकार माया के प्रतीक इन वनों के सुखों की अवहेलना करना सुसाध्य नहीं। यह तभी सम्भव हो पाता है जब कि साधक को नामस्मरण में लगन एवं दर्शन की लालसा लगी हो।

माया की प्रतीक पन्चेद्रियों का भी इन कवियों ने सुन्दर वर्णन किया है। इनका मत है कि यदि मनष्य इनके जाल में फँस जाता हैं तो पथभ्रष्ट हो जाता है और ये

१- 'इन्द्रावती' --जोगी-खण्ड, पृ० २७, कवित्त सं० १६.
२- वही, पृ० २७, कवित्त सं० १७.
३- वही, कवित्त सं० १८.
४- वही, पृ० २७-२८, कवित्त सं० १९.
५- वही, कवित्त सं० २०.

उस चरम भूमि का प्रतीक है जहाँ तक पहुँचना साधक का ध्येय है। हठयोग साधना में भी उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी को सहस्त्रार तक पहुँचाना साधक का लक्ष्य होता है। यही सहस्त्रार प्रतीक रूप में इस पिंड का कैलाश है। यहीं पर शिव का निवास है। बहुत सम्भव है कि हठयोग की इस शिव और कैलाश की भावना से प्रेरित हो सूफी-कवियों ने परमेश्वर की प्रतीक नायिका के निवास स्थान के लिये 'कविलास' एवं 'कैलाश' शब्दों का प्रयोग किया हो, जो वास्तव में हठयोग का शिवस्थान कैलाश है। 'कविलास' एवं 'कैलाश' के कतिपय प्रतीकात्मक प्रयोग द्रष्टव्य है—

"लोर जानि अछरहिं दिखरावा, इहँ कविलास अउर को आवा।"[१]
"बाजन बाजे कोटि पचासा, भा अनन्द सगरों कैलाशा॥"[२]
"सात खंड ऊपर कविलासू, तहवाँ नार-सेज सुखबासू॥"[३]
"आगमपुर कविलास मंझारा, फागुन आइ अनन्द पसारा।"[४]
"बरनूँ का कैलाश अनूपा, अचरज रैन मांझ जनु धूपा॥"[५]
"कहँ कविलास नेवास जे, कहा सुरज वस संग।"[६]
"सुनत अहा कविलास सोहावा, सो विधि मोहिं आन देखरावा।"[७]

कवि उसमान ने निम्नलिखित पंक्तियों में ससि को 'चित्रावली' का तराईं को 'सखियों' का और सरग को चित्रावली के 'निवास स्थान' का प्रतीक माना है—

"ससि के संग जो अहैं तराईं, तेऊ सरग चढ़ि देखन आईं।"[८]
"मानहु ससि संग सरग तराईं, केलि करत अति लाग सोहाईं।"[९]

यहाँ पर सरग 'रूपनगर' का प्रतीक है। चित्रावली (ससि) के साथ उसकी रूपनगर (सरग) की सखियाँ (तराई) जल में कीड़ा करती हुई अत्यन्त मनोहारिणी प्रतीत हो रही थीं। ससि, नक्षत्र के ये प्रतीक अन्य सूफी-प्रेमाख्यानों में भी उपलब्ध होते हैं; यथा—

"चाँद नखत लै तारा,बैठि धौराहर जाइ।" (चंदायन)

१. सं० डा० परमेश्वरी लाल गुप्त—'चंदायन' पृ० १७५
२. 'जायसी-ग्रन्थावली' रत्नसेन-पद्‌मावती-विवाह-खण्ड—पृ० १२१, कवित्त सं० १
३. वही, पद्‌मावती-रत्नसेन-भेंट-खण्ड—पृ० १२८, कवित्त सं० १
४. नूरमुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' पृ० ३४
५. 'हंस-जवाहिर' पृ० ८९
६. 'मधुमालती'-कुँवर-मधुमालती-मिले-खण्ड—पृ० १०४
७. 'चित्रावली' पृ० ३४
८. वही, पृ० १०९
९. 'चित्रावली'—पृ० ४७

यहाँ 'चाँद' महरि की कन्या चाँद का प्रतीक है और नखत, तारा 'सखियों' का। 'मिरगावती' में सरोवर में नहाने के लिये आयी मिगावती एवं उसकी सखियों के लिये शशि एवं नक्षत्र के प्रतीकों का प्रयोग किया गया है—

'अभरन चीर उतारि धरि पैठी सबै अन्हाइ।
ससिर नखत लै तारे, सरवर खेलै आइ॥"[1]

सरोवर में क्रीड़ा करती हुई पद्मावती एवं उसकी सखियों के लिये भी यह प्रतीक प्रयुक्त हुआ है—

"सरिवर नहि समाय संसारा, चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा"।[2]

इसी प्रकार निम्नांकित पंक्ति में भी चाँद और तराई शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है—

"भा रवि अस्त तराई हँसी, सूर न रहा चाँद परगसी'।[3]
चला चँद फुलवार ज्यों, लिये नखत सब नार"। (हंस जवाहिर)

यहाँ चँद जवाहिर का प्रतीक है और नखत उसकी सखियों का।

"चन्द्र नखत संग पाँव उठायेउ, जाइ चकोरहि दरस देखायेउ"।[4]

यहाँ चन्द्र इन्द्रावती के लिए प्रयुक्त हुआ है और नखत उसकी सखियों के लिये।

शशि एवं नक्षत्र की भाँति सूर्य का भी प्रतीकात्मक प्रयोग उपलब्ध होता है। प्रायः सभी हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने अपने नायकों के लिये सूर्य शब्द का प्रयोग किया है-

"सुरुज घर्रहि विरसपति आई।"[5]

'मिरगावती' में राक्षस द्वारा राजकुँवर का हरण कर लेने पर दासी मिरगावती से कहती है—

"कहसि रानि तुम्ह बैठहु काहाँ, सूरहि लैर उड़ायउ राहाँ।"[6]

यहाँ पर सूर नायक राजकुमार का प्रतीक है और राहु राक्षस का।

इसी प्रकार 'पद्मावत' में भी नायक रतनसेन के लिये सूर्य शब्द का प्रयोग हुआ है-

"सहसौ करा रुप मन भूला, जहँ जहँ दीठ कँवल जनु फूला।"[7]

---

१. 'मिरगावती' पृ० १५५, कवित्त स० ८०.
२. 'जायसी-ग्रंथावली' मानसरोदक-खण्ड-पृ० २४, कवित्त सं० ५.
३. वही,-पद्मावती-रतनसेन-भेंट-खण्ड-पृ० १३३, कवित्त सं० १४.
४. 'इन्द्रवती'-फुलवारी-खण्ड-पृ० ६०, कवित्त सं० २८.
५. सं० डा० परमेश्वरी लाल गुप्त-'चंदायन'—पृ० १७८.
६. 'मिरगावती' पृ० ३०५, कवित सं० २७८.
७. 'जायसी-ग्रंथावली' राजा-सुआ-संवाद-खण्ड—पृ० ३६, कवित्त सं० ५.

अर्थात् सूर्य रत्नसेन का मन अपनी सहस्त्र किरणों सहित पद्मावती पर आकर्षित हो गया।

'चित्रावली', 'अनुराग-बांसुरी', 'इन्द्रावती', 'हँस जवाहिर' आदि प्रेमाख्यानों में भी नायक के लिये सूर्य का प्रतीक-रूप में प्रयोग हुआ है। राहु को इन कवियों ने विरह, केश, वेणी, राक्षस आदि के प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया है—चंदायन में मुल्ला दाऊद ने लिखा है कि सिरजन लोरक से मैना का संदेश कहता है जिसे सुनकर चांद की ऐसी अवस्था हो जाती है जैसे मानो उसे (विरह रूपी) राहु ने ग्रसित कर लिया हो—

"मैनां बात जो सिरजन कहीं, सुनत चांद राहु जनु गही।"[१]

जायसी ने इसे विरह का प्रतीक मानने के साथ-साथ केश, वेणी के प्रतीक में भी ग्रहण किया है—

"कारे कँवल गहे मुख देखा, ससि पाछे जनु राहु विसेखा।"[२]

"तैं हनि राहु मयंक छुड़ावा, तैं तम हरि दिनकर देखरावा"।[३]

यहां राहु सोहिल का और मयंक सागर का प्रतीक है।

अप्सरा को नायिका और सखियों का तथा इन्द्र को नायक का प्रतीक माना गया है—

"लोर जानि अछरहि दिखरावा, इहँ कविलास अउर को आवा।"[४]

यहां अछरहि चाँद का प्रतीक है। निम्नलिखित पंक्ति में अछरहि शब्द का प्रयोग चांद की सहेलियों के लिए किया गया है—

"चांद सहेलिन सबै बुलायी, सरग हतैं जनु अछरन्हि आयीं।"[५]

"आजु इन्द्र अछरी सौं मिला, सब कविलास होइ सोहिला।"[६]

इस पंक्ति में इन्द्र रत्नसेन का प्रतीक है, अछरी पद्मावती का प्रतीक है और कविलास पद्मावती के महल का। इसी प्रकार निम्नांकित पंक्ति में भी रत्नसेन, पद्मावती आदि के लिये इन प्रतीकों का प्रयोग द्रष्टव्य है—

"आजु इन्द्र होइ आएउँ साजि बरात कविलास।
आजु मिली मोहि अपछरा, पूजी मन कै आस।"[७]

१- सं० डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त—'चंदायन'—पृ० ३२२.

२. 'जायसी-ग्रन्थावली' नख-शिख-खंड, पृ० ४७, कवित्त सं० १७.

३. 'चित्रावली'-कँवलावती-विवाह-खंड, पृ०१५२, कवित्त सं० ३९८.

४. सं० डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त—'चंदायन' पृ० १७५.

५- वही, पृ० २२२.

६- 'जायसी-ग्रंथावली', रत्नसेन—पदमावती-विवाह-खण्ड-पृ० १२२, कवित्त सं० ३.

७- 'जायसी-ग्रन्थावली', पृ० १२३. कवित्त सं० ८.

"जानहुँ ससि भुई पर अवतरा, पुहुमी पर उतरी अपछरा ।"[१]

यहाँ ससि और अपछरा इन्द्रावती के प्रतीक हैं ।

"तैं होइ इन्द्र अमी वरसावा, छत्र अगिनि जग जरत बुझावा ।"[२]

इस पंक्ति में कवि ने इन्द्र को कुँवर सुजान का प्रतीक माना है और अमी (अमृत) को विजय का ।

राजा चित्रसेन द्वारा कुँवर सुजान को दामाद के रूप में स्वीकार कर लेने पर जब वह दूलह रूप में नगर में प्रवेश करता है तो चित्रावली की एक सखी उसे अवलोक कर चित्रावली से कहती है कि जिसने सोहिल को मारा था, वही गजपर चढ़कर आ रहा है । अपनी इस भावना की अभिव्यक्ति वह इन्द्र और इन्द्रासन के प्रतीकों के माध्यम से करती है । वह इन्द्र को कुँवर सुजान का और इन्द्रासन को उसके राज्य नैपाल का प्रतीक मानकर कहती है कि—

"देखौं सोइ हस्ती चढ़ा, नहिं जानौं केहि काज ।
पुहुमी आवै इन्द्र जनु, तजि इन्द्रासन राज ।।"[३]

'चित्रावली' की निम्नलिखित पंक्तियों में गीतों के लिये अमृत का और नर्तकियों के लिये रंभा, उर्वशी नाम की अप्सराओं का प्रतीक-रूप में प्रयोग हुआ है—

"गीतन्ह आन कीन्ह झनकारा, जनु पुहुमी में अमिय संचारा ।
पुनि पैरिन काछें अतिलसी, जनु आईं रंभा उरवसी ।"[४]
"तुमतो मती के नेह में, गयो अछरन के देश ।"[५]

यहाँ अछरन (अप्सरा) अमरनगर की राजकुमारी और उसकी सखियों का प्रतीक है ।

इन्द्र, अप्सरा आदि की भाँति गंधर्व का भी प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है । दूलह रूप में आते हुए कुँवर सुजान को अवलोक कर चित्र को धोने वाले चित्रावली की चित्रसारी में वने हुए सुजान के चित्र को जिन्होंने रानी हीरा के कहने पर धोया था, रानी हीरा से कहते हैं—"यह सोई गँधरब औतारा ।"[६] अर्थात् यह उसी गँधर्व

१- 'इन्द्रावती-मधुकर' खण्ड-पृ० १०२, कवित्त सं० ७.
२. 'चित्रावली' कौंलावती-विवाह-खंड, पृ० १५२, कवित्त सं ३९८.
३- वही, सुजान बन्धन-खंड पृ० १९५, कवित्त सं० ५११.
४- 'चित्रावली' कौंलावती-विवाह-खंड पृ० १५३, कवित्त स० ४०२.
५- 'कथा कुँवरावत' उद्धृत-'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० ५८६.
६- 'चित्रावली' सुजान-बन्धन-खंड पृ० १९४, कवित्त सं० ५१०.

का अवतार है। इस प्रकार यहां गंधर्व को कुँवर सुजान के प्रतीक-रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कुँवर सुजान को कौंलावती के उपयुक्त वर मानकर सागर-गढ़ के निवासी सागर से कहते हैं कि–

"कहिनि कि यह बर विधनै गढ़ा, सोई फूल जो महेसहिं चढ़ा।"

अर्थात् यह बर मानों विधाता ने ही निर्मित किया है। वस्तुतः फूल वही है जो शंकर जी के सर पर चढ़े। यहाँ पर महेश कुँवर सुजान का प्रतीक है। इस प्रतीक के माध्यम से यह भाव व्यंजित किया गया है कि कुँवर सुजान के लिए कौंलावती रूपी फूल का अर्पण उपयुक्त ही है।

दोजख पाप के फल का प्रतीक है और बिहिश्त पुण्य के फल का। चूँकि मुहम्मद साहब ने अच्छे कर्म किये थे अतः उसके फलस्वरूप उन्हें बिहिश्त (स्वर्ग) की उपलब्धि होती है—

"फिरै तँबोल, मया से कहब अपुन लेइ खाहु।
भा परसाद, मुहम्मद उठि बिहिश्त महँ जाहु।"[१]

'कहरानामा' की निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने उस दृश्य का वर्णन किया है जब सब लोग कयामत के दिन न्याय के लिए परमात्मा के सामने खड़े होंगे–

"आए जन दोइ देखत हौं जोइ आइ रहे मेरे द्वार रे।
धरि हथिवारन आवहिं मारन पूँछत पिअ के सिवार रे॥
कंत तुम्हारे को कहु नाऊँ, बसै तोर जिउ काहे रे।
का गुन गहती गहि जत दहती अपने नैहर माहे रे॥
कहँ सँग खेली कस दिन पेली हास जो बारी भोरी रे।
पूछौं हौं अब उत्तर देहत मोख मुकुति नहि देऊँ रे॥
नातर एक कला उन ताहीं मारि-मारि जिलेऊँ रे।"[२]

इसमें प्रयुक्त 'दोइजन' पद दो देवदूतों-मिह्ल और सुरुश के प्रतीक हैं जो कयामत के दिन पुले-सरात से होकर पार करने वालों से उनके अच्छे बुरे कर्मों का लेखा-जोखा ले लेकर अल्लाह के पास खबर पहुँचाते हैं और अच्छे कर्म करने वालों को स्वर्ग की ओर जाने देते हैं तथा बुरे कर्म करने वालों को नरक को ओर। उपर्युक्त पंक्तियों में आया गुन शब्द 'कर्मों' का प्रतीक है और नैहर शब्द 'संसार' का। अन्तिम पंक्ति में ग्रहण किया गया 'मारि-मारि जिलेऊ रे' पद बुरे कर्म करने वालों को देवदूत द्वारा दोजख (नर्क) में भेजने का प्रतीक है।

१–"जायसी-ग्रंथावली"-आखिरी-कलामपृ० ३५६, कवित्त सं० ४८.

२- 'कहरानामा' पद सं० १८, उद्धृत–श्री रामपूजन तिवारी 'जायसी' पृ० १३१.

इन प्रतीकों के अतिरिक्त जायसी के काव्य में कुछ ऐसे प्रतीक भी उपलब्ध होते हैं जो इहलोक और परलोक दोनों से सम्बन्धित हैं। पुले सरात (वह पुल है जिसे क़यामत के दिन सब जीवों को पार करना पड़ेगा और जो पुण्यात्माओं के लिए खासा चौड़ा और पापियों के लिए बाल बराबर पतला हो जायेगा) साधक की कठिन स्थिति में उस परीक्षा का प्रतीक है जिसमें केवल धर्मात्मा ही सफल हो पाता है। 'आखिरी-कलाम' में कवि जायसी ने पुले-सरात का वर्णन इस प्रकार किया है-

"पुल-सरात पुनि होइ अभेरा, लेखा लेब उमत सब केरा।
एक दिसि बैठि मुहम्मद रोइहैं, जिबरईल दूसर दिसि होइहैं ॥
बार पार किछु सूझत नाहीं, दूसर नाहि को टेकै बाहीं।
तीस सहस्र कोस कै बाटा, अस साँकर जेहि चलै न चाँटा ॥
बारहु ले पतरा अस झीना, खड्ग-धार से अधिकौ पैना।
दोउ दिसि नरक-कुंड हैं भरे, खोज न पाउब तिन्ह महँ परे ॥
देखत काँपै लागै जाँघा, सो पथ कैसे जैहै नाँघा ॥
"तहाँ चलत सब परखब, को रे पूर को ऊन।
अबहिं को जान 'मुहम्मद', भरे पाप और पून।"[१]

इस प्रकार 'पुले-सरात' के मार्ग को कवि ने तीस सहस्त्र कोस लम्बा बताया है जिसके आर-पार कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता है। यह मार्ग इतना सँकरा है कि उससे चीटी भी पार नहीं जा पाती। यह मार्ग बाल से भी अधिक पतला और खड्ग की धार से भी अधिक तीक्ष्ण धारवाला है। इस पतले और झीने मार्ग के दोनों तरफ नरक-कुंड है, जिसमें गिर जाने पर ढूढ़ पाना अत्यन्त कठिन है। इस मार्ग को पार करते समय ही पापी और पुण्यात्मा का पता चलता है। जिन्होंने संसार में पुण्य एवं धर्म किया है, वे क्षणमात्र में ही इस पुल को पार कर लेते हैं-

"जी धरमी होइहि संसारा, चमकि बीजु अस जाइहि पारा।"[२]

किन्तु जो पापी है उनमें से बहुत तो इस नरक-कुंड में गिर जाते हैं और बहुत से रक्त पीव में पड़ जाते हैं-

"बहुतक नरक-कुंड मँह गिरहीं, बहुतक रकत पीव मँह परहीं।"[३]

'पदमावत' के 'सात-समुद्र-खंड' में वर्णित किलकिला समुद्र को इसी 'पुले-सरात' के प्रतीक-रूप में लिया गया है। इसे पार करने में वही समर्थ हो पाता है

१- 'जायसी-ग्रंथावली' (आखिरी-कलाम) पृ० ३४८-४६, कवित्त सं० २७.
२- वही,-पृ० ३४६, कवित्त सं० २८.
३- वही, पृ० ३४६, कवित्त सं० २८

जो अति धर्मात्मा एवं पुण्यवान होता है। इस समुद्र का वर्णन कवि ने बिल्कुल 'पुले-सरात' की भाँति ही किया है। यह भी तीस सहस्र कोस लम्बा है और बाल से भी अधिक तीक्ष्ण है। जो धर्मात्मा इसे पार कर लेता है उसे स्वर्ग मिलता है और पापी पातालगामी हो जाता है—

"एहि किलकिला समुद्र गँभीरू, जेहि गुन होइ सो पावै तीरू।
इहैं समुद्र-पंथ मझधारा, खाँड़े कै असि धार निनारा॥"
तीस सहस्र कोस कै पाटा, अस साँकर घंलि सकै न चाँटा।
खाँड़े चाहि पैनि बहुताई, बार चाहि ताकर पतराई।
एही ठाव कहँ गुरु संग लीजिय, गुरु संग होइ पार तौ कीजिय॥
"मरन जियन एही पंथहि, एही आस निरास।
परा सो गएउ पतारहि, तरा सो गा कविलास।"[१]

खीर-समुद्र क्षीर-समुद्र है जो विलास एवं ऐश्वर्य का प्रतीक है। विष्णु लक्ष्मी के साथ शृंगार-रस में डूबकर सदा क्षीर-सागर में शयन करते हैं। महाकवि तुलसी-दास जी ने उनके इस रूप का सुन्दर चित्रण किया है—

"विश्व उपकार हित व्यग्रचित सर्वदा, त्यक्त मदमन्यु कृत पुण्यराशी।
यत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अजशर्व हर सहित गच्छन्ति क्षीराब्धिवासी॥"

यहाँ बताया गया है कि संसार के उपकार के लिये जिनका चित्त सदा व्याकुल रहता है, मद और क्रोध को जिन्होंने त्याग दिया है और पुण्यरूपी पूँजी कमायी है ऐसे संत जहाँ रहते हैं वहाँ ब्रह्मा और शिवजी को साथ लेकर क्षीर-समुद्र-निवासी श्रीहरि भगवान् आप-से-आप दौड़ जाते हैं।

इसी प्रकार 'रामचरितमानस' में उन्होंने लिखा है कि—

"नील सरोरुह श्याम तरुन अरुन वारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम सदा क्षीर-सागर-सयन॥"[२]

चूँकि क्षीर-सागर विलास एवं ऐश्वर्य का प्रतीक है और उसमें शयन करने वाले विष्णु शृंगारिकता के प्रतीक हैं, इसी कारण तुलसी ने उनसे अपने हृदय में केवल निवास करने के लिये कहा है, कृपा तो वे दुष्टों का विनाश करने वाले वीरता के प्रतीक पार्वती-पति शिव जी से माँगते हैं—

"कुंद इंदु सम देह, उमा रमा करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह, करउ कृपा मर्दन मयन।"[३]

१- 'जायसी-ग्रंथावली'—पदमावत, सात-समुद्र-खंड-पृ० ६६, कवित्त सं० ७.
२- 'रामचरितमानस'-बालकाण्ड-पृ० ३०, पद सं० ३.
३- वही, पृ० ३१, पद सं० ३.

जायसी के 'पदमावत' में खीर-समुद्र का वर्णन क्षीर-सागर की इसी विलासिता एवं ऐश्वर्यता के प्रतीक-रूप में हुआ है। इस समुद्र में अथाह मानिक, मोती, हीरा और द्रव्य भरा हुआ है, जिसे अवलोक कर मन जोग को भूलकर विलासिता में डूब जाता है। जो सच्चा जोगी होता है वह इस विलासिता के प्रतीक समुद्र को पारकर लेता है; अन्यथा अन्य लोग तो इस ऐश्वर्य एवं विलास में आकंठ डूबकर अपने को ठगा लेते हैं। देखिये विलासिता के प्रतीक खीर-समुद्र का जायसी ने कितना सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है—

'खीर-समुद्र का वरनौ नीरू, सेत सरूप, पीयत जस खीरू।
उलथहि मानिक, मोती, हीरा, दरब देखि मन होइ न धीरा॥
मनुआ चाह दरब औ भोगू, पंथ भुलाइ विनासै जोगू।
जोगी होइ मनहि सो सँभारै, दरब हाथ कर समुद्र पवारै॥
दरब लेइ सोइ जो राजा, जो जोगी तेहि के केहि काजा।
पंथहि पंथ दरब रिपु होइ, ठग बटमार, चोर संग सोई॥
पंथी सो जो दरब सौं रूसे, दरब समेटि बहुत अस मूसे।'[1]

प्रायः लोगों का यह विचार है कि जो परमात्मा के प्रेम-मार्ग पर चलने वाले पथिक हैं, उनको केवल कष्ट-ही-कष्ट झेलने पड़ते हैं; भोग-विलास एवं संसार के अन्य ऐश्वर्यों से वे वंचित रह जाते हैं। किन्तु सूफी-कवि इस धारणा को गलत मानते हैं। जायसी ने अपने 'आखिरी-कलाम' में रसूल पाकनबी के विवाह का जो चित्रण किया है, वह इस बात का प्रतीक है कि परमात्मा के प्रेम-मार्ग पर चलने वालों को भी ऐश्वर्य और भोग की उपलब्धि होती है। 'आखिरी-कलाम' के इस प्रतीक का ही विस्तृत वर्णन हमें अन्य हिन्दी-सूफी-काव्यों में उपलब्ध होता है। इनके काव्यों के नायक (जो जीवात्मा के प्रतीक हैं) परब्रह्म की प्रतीक नायिका की ओर आकर्षित होकर प्रेम-मार्ग पर अग्रसर होते हैं। रसूल नबी की भाँति प्रारम्भ में तो उन्हें अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है पर अन्त में फिर उन्हें अनेकों प्रकार के ऐश्वर्य एवं भोग की प्राप्ति होती है। 'आखिरी-कलाम' के इस प्रतीक का सर्वाधिक सफल एवं सुन्दर चित्रण 'पदमावत' में हुआ है। 'आखिरी-कलाम' में जैसा सुन्दर वर्णन रसूल नबी और उनके साथियों के महलों का हुआ है, वैसा ही वर्णन 'पदमावत' में रत्नसेन और पद्मावती के मिलन-हेतु दिये गये महल का हुआ है—

"एक-एक मंदिर सात दुवारा, अगर चँदन के लाग केवारा।
हरे-हरे वहु खंड सँवारे, वहुत भाँति दई आपु सँवारे॥"
सोने रूपै घालि उँचावा, निरम कहूँ कहुँ लाग गिलावा।

---

१. 'जायसी-ग्रन्थावली'—सात-समुद्र-खंड—पृ० ६४, कवित्त स० २.

हीरा रतन पदारथ जरे, तेहिक जोति दीपक जस बरे।
नदी दूध अतरन कै बहहीं, मानिक मोति परे भुइँ रहहीं ॥"[१]

–आखिरी-कलाम ।

"सात खण्ड सातौ कविलासा, का बरनौं जग ऊपर वासा।
हीरा ईंट कपूर गिलावा, मलयागिरि चंदन सब लावा ॥
चूना कीन्ह औटि गजमोती, मोतिहु चाहि अधिक तेहि जोती।
बिसुकरमै सो हाथ सँवारा, सात खण्ड सातहि चौपारा ॥
अति निरमल नहि जाइ बिसेखा, जस दरपन मह दरसन देखा।
रतन पदारथ होइ उजियारा, भूले दीपक औ मसियारा ॥"[२]

–'पदमावत'

जिस प्रकार 'आखिरी–कलाम' में रसूल नबी की उमत को रहने के लिये एक-एक बिहिश्त और चालिस-चालिस हूरें (बिहिश्त की अप्सरायें) तथा भोग-विलास की अन्य सामग्रियाँ मिलती हैं, उसी प्रकार 'पदमावत' में भी रत्नसेन के साथियों को स्वर्ण-सुसज्जित मंदिर (महल), पद्मिनियों एवं ऐश्वर्य-भोग की अन्य वस्तुओं की प्राप्ति होती है। साम्य के लिये उदाहरणस्वरूप दोनों की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

'सात बिहिस्त बिधनै औतारा, औ आठई शदाद सँवारा।
सो सब देब उमत कहँ बाटी, एक बराबर सब कहँ आँटी ॥
एक-एक कहँ दीन्ह निवासू, जगत-लोक बिरसैं कविलासू।
चालिस-चालिस हूरैं सोई, औ संग लागि बियाही जोई ॥"[३]

–'आखिरी-कलाम'.

"सोरह सहस पद्मिनी माँगी, सबै दीन्ह, नहि काहुहि खाँगी।
सबकंह मंदिर सोने साजा, सब अपने अपने घर राजा।
हस्ति घोर औ कापर सबहि दीन्ह नव साज।
भये गृही औ लखपती घर मानहुँ राज ॥"[४]

–'पदमावत'.

'आखिरी-कलाम' में शराब देने का विस्तृत वर्णन आया है–

१–"जायसी-ग्रंथावली"-(आखिरी-कलाम) पृ० ३५९–६०, कवित्त सं० ५७.
२–वही-रत्नसेन पद्मावती-विवाह-खंड-पृ० १२७, कवित्त सं० १८.
३-वही, (आखिरी-कलाम) पृ० ३५८, कवित्त सं० ५३.
४–वही, (पदमावत) [illegible]

"एक तो अमृत, बास कपूरा, तेहि कहँ कहा शराब-तहूरा।
लागव भरि भरि देइ कटोरा, पुरुब ज्ञान अस भरैं महोरा॥
ओहि कै मिठाइ माति एक दाऊँ, जलम न मानव होइ अब काहूँ।
सचुमतवार रहब होइ सदा, रहसैं कूदैं सदा सरवदा॥
कवहुँ न खोवैं जलम खुमारी, जनौ विहान उठैं भरि बारी।
ततखन बासि बासि जनु घाला, घरी घरी जस लेव पियाला॥
सवहिक भा मन, सो मद पिया, नव औतार भवा और जिया॥"[१]

यह शराव देना मुहम्मद एवं उमत सहित रसूल नवी को परमात्मा के प्रेम की प्राप्ति का प्रतीक है। 'पदमावत' में इस भाव की अभिव्यंजना उस स्थल पर हुई है जहाँ पर पद्मावती रत्नसेन से कहती है कि 'चाखु पिया मधु थोरै थोरा।' और रत्नसेन इसका उत्तर देते हुए कहता है कि—

"सुनु, धनि ! प्रेम-सुरा के पिये, मरन जियन डर रहै न हिये।
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा, को सो घूमि रह, की मतवारा॥
सो पै जान पियै जो कोई, पी न अघाइ, जाइ परि सोई।
जा कहँ होइ बार एक लाहा, रहै न ओहि विनु, ओही चाहा॥
अरथ दरब सो देइ वहाई, की सब जाहु, न जाइ पियाई।
रातिहु दिवस रहै रस-भीजा, लाभ न देख, न देखैं छीजा॥"[२]

इसमें धनि (पद्मावती) 'परब्रह्म' की प्रतीक है और प्रेम-सुरा 'परमात्मा के प्रेम की प्राप्ति' का। इस प्रेम-सुरा को जो एक बार प्राप्त कर लेता है, वह फिर उसके विना रह नहीं पाता और बारम्बार उसी की प्राप्ति की कामना करता रहता है। वह रात-दिन इसी प्रेम-सुरा को पीकर मतवाला बना रहता है; सांसारिक अर्थ-द्रव्य आदि के माया-जाल में आबद्ध नहीं होता।

उमत सहित रसूल नवी को जहाँ पर परमात्मा के दर्शन होते हैं वहाँ बताया गया है कि उस परब्रह्म की ज्योति चारों तरफ छा गयी। विद्युत, चन्द्रमा, सूर्य रत्न, माणिक्य, मोती आदि की ज्योति उसके सम्मुख छिप गयी। उसके रूप को देख कर सभी लोग मोहित हो गये। 'आखिरी कलाम' में वर्णित परब्रह्म की इस ज्योति का चित्रण जायसी के शब्दों में द्रष्टव्य है—

"एक चमकार होइ उजियारा, छपै बीजु तेहि के चमकारा।
चाँद सुरुज छपिहैं वहु जोती, रतन पदारथ मानिक मोती॥

१—"जायसी-ग्रंथावली"-(आखिरी-कलाम) पृ० ३५६, कवित्त सं० ४८.
२—वही, (पदमावत) पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खण्ड-पृ० १४१, कवित्त सं० ३५.

सो मनि दिये जो कीन्हि थिराई, छपा सो रंग गात पर आई।
ओहु रूप निरमल होइ जाई, और रूप ओहि रूप समाई ॥
ना अस कबहूँ देखा, ना केहू ओहि भाँति ।
दरसन देखि मुहम्मद, मोहि परे वहु भाँति ॥

हिन्दी के सूफी-कवियों ने परब्रह्म की इस ज्योति को अपनी नायिकाओं के माध्यम से व्यंजित किया है। परब्रह्म की प्रतीक पद्मावती की दशन-ज्योति का वर्णन करते समय जायसी ने परमात्मा की इस ज्योति का सुन्दर चित्र अंकित किया है–

"जेहि दिन दसन जोति निरमई, बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहि ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी, तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी, पुनि ओहि जोति और को दूजी ॥"[२]

मंझन ने 'मधुमावती' में उसकी दशन-ज्योति से तीनों भुवनों को ज्योतित दिखाया है–

"चमके दसन कहत रस बाता, चौंधे तीनि भुवन सब गाता।"[३]

इसी प्रकार 'चित्रावली' में कवि उसमान ने चित्रावली की सौन्दर्य-ज्योति के सम्मुख सूर्य आदि की ज्योतियों का छिप जाना तथा सुर, नर, मुनि आदि का उस ज्योति से चकित हो उठना दिखाया है। अन्य हिन्दी के सूफी-कवियों ने भी अपनी नायिकाओं की सौन्दर्य-ज्योति को परमात्मा की ज्योति का प्रतीक मानकर उसका चित्रण किया है।

कवि कासिम शाह कृत 'हंस-जवाहिर में जवाहिर को परमात्मा के स्वरूप का प्रतीक माना गया है। उसकी सौन्दर्य-ज्योति संसार, कैलास पर्वत, स्वर्ग आदि समस्त स्थानों को ज्योतित कर देती है। जगत के चतुर चितेरे अनेकों प्रयत्न करके अपने हृदय में हार गये, किन्तु उसका चित्र अंकित करने में समर्थ न हो सके–

"जग महँ छाई किरन सब, ज्योति मांझ कैलास।
तपसी थकित जगत के, बैठ सो तेहि की आस ॥
+ + +
हारे हिये सो जगत चितेरा, लिखि नहिं सके रूप तेहि केरा ॥"[४]

१–"जायसी-ग्रंथावली'-(आखिरी-कलाम) पृ० ३५७–५८, कवित्त सं० ५१.
२–वही, (पदमावत) नख-शिख-खण्ड-कवित्त सं० ९.
३–"मधुमालती", पृ० ३५.
४–"हंस-जवाहिर"-उद्धृत'-जायसी' के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० ४४६.

अंतिम पंक्ति का भाव विहारी के निम्नलिखित दोहे में द्रष्टव्य है—

"लिखन वैठि जाकी सवी, गहि गहि गरव गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥"[1]

'इन्द्रावती' में नूरमुहम्मद ने भी कहा है कि उसी एक परमात्मा की परम ज्योति से सूर्य एवं चन्द्र प्रकाशवान हैं। रात्रि अपने असंख्य नेत्र रूपी तारामों से उसी का सौन्दर्य दर्शन करती है। इस संसार का कण-कण उस सौन्दर्य पर मुग्ध है—

"है तेहि चन्द्र वदन लखि, जगत नयन उँजियार।
गगन सहस लोचन सों, निरखे तेहिक सिंगार॥"[2]

पुहुपावती के अनुपम सौन्दर्य के दर्शनार्थ देव, यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र सभी भूतल पर आ गये। पुहुपावती के सौन्दर्य के सम्मुख सभी सुन्दर वस्तुएँ कान्तिहीन हो गयीं—

"देखे मन निजु रहा न हाथा, इन्द्रहु आइ भयो तेहि साथा।
हरी रमि ह्वै लखित निकाई, रही न दुति किनरी जो आईं॥
असुरी सुरी सबै मैं हीनी, उडुगन ससिहु जोति तजि दीनी।
भइ रत्ती दुति रती जो देखी, क्रीड़ा मोद करै सुविसेखी॥
हरयो सुमन तिन्ह जगत को रहो जियत नहि कोइ।
किये कामना आप ही मंडप पूजा सोइ॥"[3]

अस्तु, समग्र रूप में कहा जा सकता है कि रहस्यवादी हिन्दी-सूफी-कवियों ने इहलोक और परलोक सम्वन्धी भावों की अभिव्यंजना के लिये जिन प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया है, वे उन भावों को व्यंजित करने में पूर्ण सक्षम एवं समर्थ हैं। इन प्रतीकों के द्वारा काव्य में जो अर्थगांभीर्य आया है, उसके सौन्दर्य की जो श्रीवृद्धि हुई है वह अनुपम एवं अद्वितीय है।

———

१—विहारी-सतसई, पृ० २३४, दोहा सं० ६१७.
२-"इन्द्रावती"-मालिन-खंड-पृ० ४५, कवित्त सं० ११.
३—"पुहुपावती"-उद्धृत-'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० ५०३.

१० | रूपकात्मक प्रतीक-योजना

रहस्यवादी कवि स्वभावतः अपनी अनुभूतियों को किसी रूपक के माध्यम से प्रकट करते हैं। चूँकि वे स्पष्ट रूप से अपने भावों को व्यंजित करने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि अनुभूत भाव-सौन्दर्य इतना अधिक होता है कि वे साधारण शब्दों में उसे व्यक्त नहीं कर पाते; उनका भावोन्माद बोलचाल के साधारण शब्दों में व्यंजित नहीं हो पाता, अतः उन्हें अपने भावों की व्यंजना के लिये रूपकों की शरण लेनी पड़ती है। रूपकों द्वारा अपनी अनुभूति को स्पष्ट करते हुए रहस्यवादी कवि अनेक प्रतीकों का प्रयोग करते हैं; इस प्रकार के प्रयोग रूपकात्मक प्रतीक कहलाते हैं।

मध्यकालीन कवि जब अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति साधारण भाषा में न कर सके तब उन्होंने भी अपनी अनुभूतियों की व्यंजना के लिये रूपकात्मक प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया। इस प्रकार की भाषा को अंग्रेजी कवियों ने 'रूपक-भाषा'[1] की संज्ञा दी है। इस प्रकार की भाषा से युक्त काव्य को 'रूपककथा' की संज्ञा दी जाती है। रूपककथा को अंग्रेजी में 'एलेगिरी' (Allegory) कहते हैं। अंग्रेजी-कोश में इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है--'एलेगिरी ऐसा लम्बा या कथात्मक रूपक है जिसमें एक कथा दूसरी कथा के आवरण में छिपाकर कही जाती है; जिसकी घटनाएँ प्रतीकात्मक होती हैं और पात्र भी प्रायः 'मानवीकृत' या 'टाइप' होते हैं।"[2]

'एलेगिरी' के लिये हिन्दी में रूपक, अन्योक्ति, प्रतीक और उपमित कथा आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु यह अनुवाद भ्रामक है। रूपक एक

---

1. 'The Language Symbols'
   सम्पादक—डॉ० रामकुमार वर्मा 'कबीर-पदावली' पृ० ५७.
2. 'An allegory is a prolonged metaphor, in which typically a series of actions are symbolic of other actions, while the characters often are type or personifications !'
   'Websters Third New International Dictionary.' P. 68.

अलंकार है जिसमें उपमान और उपमेय का अभिन्नत्व दिखाया जाता है, परन्तु 'एलेगिरी' में यह बात नहीं होती। अन्योक्तियाँ प्रायः प्रतीकात्मक ही होती हैं किन्तु एलेगिरी में कभी-कभी अन्योक्ति नहीं समासोक्ति होती है, जिसमें प्रस्तुत और प्रतीयमान दोनों अर्थों का समान रूप में महत्त्व होता है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने 'एलेगिरी' को अन्योक्ति और समासोक्ति से भिन्न मानते हुए उसका हिन्दी रूपान्तर 'प्रतीककथा' किया है। उनका अभिमत है, "एलेगिरी" को हिन्दी में प्रतीककथा' कहना अधिक सही प्रतीत होता है क्योंकि अन्योक्ति और समासोक्ति मूलतः अलंकार हैं।"[1] किन्तु एलेगिरी को प्रतीककथा कहना भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि प्रतीक एलेगिरी से भिन्न अर्थ का बोधक है। यद्यपि 'एलेगिरी' में प्रायः प्रतीकात्मकता भी रहती है किन्तु प्रतीक में प्रस्तुत (वर्ण्य-वस्तु) नगण्य होता है; उसका अप्रस्तुत या प्रतीयमान अर्थ ही साध्य होता है जबकि 'एलेगिरी' में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही अर्थ महत्त्वपूर्ण होते हैं। चन्द्रबली पाण्डेय ने 'अनुराग-बाँसुरी' की भूमिका में इसे (एलेगिरी' को) 'उपमित कथा' कहा है परन्तु उपमित कथा से दृष्टान्त कथा का बोध होता है जो एलेगिरी से भिन्न काव्यरूप है। यूरोपीय साहित्य में तीन काव्यरूप माने गये हैं—(१) एलेगिरी (२) फेबिल और (३) पैरेबिल। इनमें से पैरेबिल को दृष्टान्त कथा या उपमित कथा माना गया है।

अस्तु स्पष्ट है कि अंग्रेजी के एलेगिरी शब्द में जो व्यापकता है वह हिन्दी के रूपक, अन्योक्ति, प्रतीक या उपमित कथा शब्दों में नहीं है। ये शब्द अलग-अलग सीमित अर्थ के द्योतक हैं। हिन्दी में एलेगिरी के लिये सबसे अधिक उपयुक्त शब्द है 'रूपककथा'। 'हिन्दी-साहित्य-कोश' में 'रूपककथा' की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—" (एलेगिरी) वह प्रबन्ध काव्य है जिसमें प्रस्तुत कथा के भीतर कोई अन्य अप्रस्तुत कथा भी अन्तःसलिला की भाँति छिपी रहती है। काव्य में ही नहीं कथा-साहित्य और नाटक में भी रूपककथा होती है रूपककथा के कई प्रकार होते हैं और अंग्रेजी में सबको 'एलेगिरी' कहा जाता है।"[2]

हिन्दी-सूफ़ी-कवियों के काव्य भी इसी रूपककथा के अन्तर्गत आते हैं जिनमें रूपकात्मक प्रतीकों की सुन्दर नियोजना हुई है। रूपकात्मक प्रतीकों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करना मध्यकालीन कवियों की एक विशेष दिशा रही है। संत कवि कबीर का निम्नलिखित पद रूपकात्मक प्रतीक का सुन्दर उदाहरण है—

१- 'हिन्दी-महाकाव्य का स्वरूप विकास'—पृ० ४७२.

२- 'हिन्दी-साहित्य-कोश' (प्रथम भाग) पृ० ७२६, द्वि० सं० २०२०.

"नैहर में दाग लगाय आय चुनरी ।
ऊ रँगरेजवा कै मरम न जानै,
नहि मिलै धोबिया कौन करै उजरी ॥
तन कै कूँड़ी ज्ञान कै सौन्दन,
साबुन महँग बिकाय या नगरी ॥
पहिरि ओढ़ि कै चली ससुरिया,
गाँवों के लोग कहैं बड़ी फुहरी ॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
बिन सतगुरु कबहुँ नहिं सुधरी ।।"[१]

इसमें कबीर ने धोबी के प्रतीक से गुरू की अभिव्यक्ति की है । चुनरी 'शरीर' का प्रतीक है और रंगरेज 'ब्रह्म' का; नैहर 'इस लोक' का प्रतीक है ससुराल, परलोक का ।

कबीर की भाँति हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी परमात्मा और आत्मा के प्रेम और पारस्परिक सम्बन्ध के वर्णन के लिये दूलहा-दुलहिन का रूपक अपनाया है—

"नइहर देश कहाँ फिर आवन, कहँ यह पंथ चले यह पावन ।
सौ गुन एकउ हाथ न आवा, जासो हरि प्रीतम दाया ।।"[2]

यहाँ नइहर संसार का, दुलहिन जीवात्मा का, प्रियतम परमात्मा का और ससुराल परलोक का प्रतीक है ।

'कथा कुँवरावत' के कवि ने गौने के प्रतीक द्वारा जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन के रूपक का चित्रण किया है । अन्य कई स्थलों पर भी उसने जीवात्मा को दुलहन, संसार को नैहर एवं गौने को प्रिय के निकट जाने का प्रतीक मानकर रूपक खींचा है । ऐसे वर्णनों में कवि का कबीर के भावों, विचारों एवं भाषा में बड़ा साम्य लक्षित होता है—

"ससुरे चलन की करो तैयारी, कन्त बुलावे सुन ऐ नारी ।
गुन ऐगुन पुछिहै सब पीऊ, उत्तर का देहो मन जीऊ ॥
कछु करनी कीया नहीं, रही नैहर बुध खोय ।
लाज कन्त के हाथ में, जो चाहै सो होय ॥"[३]
"चलो वहाँ जहाँ कन्त पियारा, अब तोही कोइ न रोकन हारा ।
मैं भई पिउ की, पिया भये मोरे, चलौ साथ दोऊ कर जोरे ॥"

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी-'कबीर' (कबीर-वाणी) पृ० ३४३, पद सं० २०६.
२. 'इन्द्रावती' नहान-खंड-पृ० ८२, कवित्त सं० १०.
३. 'कथा कुँवरावत'—उद्धृत—'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य' पृ० ४६४.

भोर कहा आवों फुलवारी, जब सब जाब गवन ससुरारी ॥
खेल लेव जो खेलव गोरी, जब लग रही पिता घर मोरी ॥"[१]

'चित्रावली' के कवि ने 'सरोवर-वर्णन' में एक ओर जहाँ काव्य सौन्दर्य बिखेरा है, वहीं दूसरी ओर आत्मा-परमात्मा की खोज का रूपक निवाहा है —

"बूड़ि बूड़ि हेरहिं सबै, जेहि जस भाग सो पाउ।
कोउ घोंघा कोउ मोति ले कोउ छूछे बहराउ ॥
सरवर ढूढ़ि सबै पचि रहीं, चित्रिन खोज न पावा कहीं।
निकसी तीर भई बैरागी, धरी ध्यान सब बिनवैं लागीं ॥
गुपुत तोंहि पावहि का जानी, परगट मँह जो रहहि छपानी ॥
चतुरानन पढ़ि चारों वेदू, रहा खोजि पै पाव न भेदू ॥
संकर पुनि हारे कै सेवा, वाहि न मिलिउ ओर को देवा ॥
हम अंधी जेहि आपुन सूझा, भेद तुहार कहाँ लौ बूझा ॥
कौन सो ठाँउ जहाँ तुम नाहीं, हम चपु जोति न देखहि काहीं ॥
पावै खोज तुम्हार सो जेहि देखलावहु पन्थ।
कहा होइ जोगी भए, औ पुन पढ़े गरन्थ ॥"[२]

यहाँ सखियों द्वारा चित्रावली की खोज न कर पाना जीव द्वारा परमात्मा की खोज न कर पाने का प्रतीक है।

जैसे कबीर कहते हैं कि—

"दुलहिन ! गावहु मंगलाचार।
आजु घर आये राजा राम भरतार ॥"

वैसे ही जायसी ने भी अपने छोटे से ग्रंथ 'कहरानामा' में निर्गुण ब्रह्म को प्रियतम और भक्त (जीवात्मा) को प्रियतमा मानकर दोनों के चिरमिलन का अत्यन्त ही मनोरम वर्णन किया है।

चित्त की एकाग्रता का वर्णन जायसी ने पनिहारिन को जीवात्मा का प्रतीक मानकर उसके रूपक के माध्यम से किया है। पनिहारिन जिस प्रकार सखियों से बातें करती जाती है, बाँह डुलाती जाती है, फिर भी उसका ध्यान जल भरी गगरी की ओर ही लगा रहता है, इसी प्रकार जीवात्मा को भी अपना मन स्थिर रखना चाहिये—

"चलि पनिहारी परग सँभारी,
पानि भरन जब दीन्हे रे।"

१– हँस जवाहिर, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य पृ० ४४५.
२– 'चित्रावली'-सरोवर-खण्ड-पृ० ४७-४८, कवित्त सं० १२०.

होइ संग साथी घालै माथै,
रहसि चतुर भइ नागरि रे ।।
मारग आवत बाँह डोलावत,
चित्त सो टरै न गागरि रे ।।
बात सखीं सो मन गागर सो, तेहि
विधि चित न डोलै रे ।।
जो जब छूटै गागरी फूटै,
पानी जाइ पिउ बोलै रे ।।"[१]

आचार्यों ने रूपक के तीन प्रमुख भेद माने हैं–

(१) सांगरूपक ।

(२) परम्परित रूपक ।

(३) निरंग रूपक ।

१०·१ सांगरूपक सम्बन्धी प्रतीक-योजना

सांग रूपक वह रूपक है जिसमें अंगों के रूपण के साथ-साथ अंगी का रूपण हुआ करता है–

"अंगिनो यदि सांगस्य रूपण सांगमेवतत् ।"[२]

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने अपने भावों की व्यंजना के लिये इस रूपक का आश्रय ग्रहण किया है और साथ ही इसके माध्यम से अपनी अनुभूति को स्पष्ट करते समय इन्होंने प्रतीकों का भी प्रयोग किया है । इस प्रकार इनके काव्य में सांगरूपक सम्बन्धी प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग हुआ है । आत्मा-परमात्मा के मिलन-विवाह को कवि जायसी ने कहारों के विवाह के रूपक से व्यंजित किया है–

"भा भिनुसारा चलै कहारा होतहि पाछिल पहरा रे ।
सखि जो गावहिं हुडुक बजावहिं, हँसि कै बोला महरा रे ।।
हुडुक तबर औ झांझ मंजीरा बाँसुरि महुअर बाजैं रे ।
सबद सुनावा सखियन्ह गावा, घर-घर महरी साजैं रे ।।
पूजा पानी दुलहिन आनी, दूलहा भा असबारा रे ।
बाजन बाजैं केवट साजै, भा बसन्त संसारा रे ।
मंगलचारा होइ झंकारा, औ संग सेन सहेली रे ।
जनु फुलवारी फूली बारी, जिन्ह कर नहिं रस केली रे ।।

१– कहरानामा-उद्धृत-श्री रामपूजन तिवारी-'जायसी' पृ० १३१.

२– व्याख्याकार-डा० सत्यव्रत सिंह-'साहित्य-दर्पण (दशम परिच्छेद) पृ० ७१६.

सेंदुर लै-लै मारहि धै-धै, राति भांति सुभ डोली रे।
भा सुभ भेसू फूला टेसू, जानहुँ फाग होइ होरी रे।।
कहैं मुहम्मद जे दिन अनन्दा, सो दिन आगे आवे रे।
है आगे नग रैंन सबहि जग, दिनहि सोहाग को पावें रे।।"[1]

इस पद में प्रयुक्त हुड़ुक तबर, झांझ मंजीरा, बाँसुरी महुवर, महरा, महरीं फाग-खेलना, टेसू, सेन्दुर, मंगलाचार आदि के द्वारा कवि ने फाल्गुन में कहारों के विवाह का जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा के परमात्मा के रंग में रंग जाने का प्रतीक है।

इस संसार की भयंकरता का वर्णन करने के लिये कवि जायसी ने समुद्र का अंगों सहित उसके साथ रूपक बाधा है—

"उठहि पवन सौं समुद्र हिलोरें, पवन बात खट डोलैं रे।
देखि वार जिउ खिन-खिन कंपै, कौन भरोसे बोलैं रे।।
कछू और सूस चहुँ दिसि उठहीं, मगर मोह घरियारा रे।
होइ मँझधार डरावन लागैं, कैसे उतरब पारा रे।।"[2]

हिलोरें, पवन आदि शब्द सांसारिक वासनाओं के प्रतीक हैं जिसमें पड़कर शरीर रूपी खटोला जर्जर पड़ता जा रहा है। सागर में रहने वाले कच्छप, सोंस, मगर, गोह, घड़ियाल आदि जीव लोभ, मोह, मत्सर ईर्ष्या आदि के प्रतीक हैं। इस प्रकार यहाँ साँगरूपक प्रतीक के माध्यम से भव-सागर में फँसे जीवों का वर्णन किया गया है।

"मूरि सजीवन दूरि है, सालै सकती-बानु।
प्रानमुकुत अब होत है, वेगि देखावहु भानु।।[3]

यहाँ पदमावती के विरह का लक्ष्मण शक्ति से रूपक बाँधा गया है। संजीवनी बूटी, शक्ति-बाण और भानु क्रमशः मिलन, विरह और रत्नसेन के प्रतीक हैं। पद्मावती हीरामन तोते से कहती है कि अभी मिलन रूपी संजीवनी बूटी दूर है और मुझे विरह रूपी शक्ति का बाण साल रहा है। अब मेरे प्राण छूटना ही चाहते हैं अतः यदि मुझे जिलाना है तो शीघ्र ही रत्नसेन रूपी सूर्य के दर्शन करा दो। इस प्रकार यहाँ इस सांगरूपक प्रतीक के माध्यक से पद्मावती के विरह की सुन्दर व्यंजना हुई है।

१— 'कहरानामा'-उद्धृत-डा० शिवसहाय पाठक-'मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य' पृ० १२२-१२३.
२— 'कहरानामा' उद्धृत-श्री रामपूजन तिवारी-'जायसी' पृ० १२६.
३— 'जायसी-ग्रंथावली-गंधर्वसेन-मैत्री, खण्ड-पृ० १०९, कवित्त सं० १७.

"परिउँ अथाह धाय ! हौं जौबन उदधि गम्भीर ।
तेहि चितवौ चारिउ दिसि, को गहि लावै तीर ।।"[१]

'उदधि की गम्भीरता' यौवन की गहराई का प्रतीक है और 'अथाह धार' सौन्दर्य राशि का, 'तेहि' और 'को' शब्द रत्नसेन के प्रतीक हैं । इस प्रकार यौवन की उन्मत्तता और अथाह सौन्दर्य राशि के लिये कवि ने समुद्र का अंगों सहित रूपक बाँधा है, अतः यहाँ पर सांगरूपक प्रतीक-योजना है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित पद में वर्षा का अंगों सहित राजा के लौटने के साथ रूपक बाँधा गया है –

"पलटा कै पुरखारथ राजा, जस असाढ़ आवै दर साजा ।
देखि सो छत्र भई जग छाहाँ, हस्ति मेघ ओनए जग माहाँ ।।
सैन पूरि आए घन घोरा, रहस-चाऊ बरिसै चहुँ ओरा ।।
धरति सरग अब होइ मेरावा, भरिअहि पोखर ताल तलावा ।।
लहकि उठा सब भुमिया नामा, ठावहिं ठाँव दूब अस जामा ।।
दादुर मोर कोकिला बोले, हते जो अलोप जीभ सब खोले ।।"[२]

इस पद में प्रयुक्त प्रतीक इस प्रकार हैं–
असाढ़– मिलन-बेला का प्रतीक है ।
वर्षा– उत्साह का प्रतीक है ।
धरती और सरग–रानी नागमती और राजा रत्नसेन के प्रतीक हैं ।
हस्ति मेघ घटा–हाथियों और विशाल वाहिनी सेना के प्रतीक हैं ।
पोखर, ताल, तालाब–पुराने मन-मुटाव के प्रतीक हैं ।
लहलहाती हुई भूमि– रानी के सौन्दर्य का प्रतीक है ।
दादुर, मोर, कोकिला– अनेकानेक सुखात्मक भावों के प्रतीक हैं ।

इन प्रतीकों के माध्यम से इस पद में निम्नलिखित भावों की अभिव्यक्ति हुई है–राजा उसी प्रकार पुरुषार्थ करके लौट रहा था जैसे (आकाश में) आषाढ़ का दल मेघों को सजा कर आता है । उसका छत्र अवलोक कर जगत में छाया हो गयी । उसके हस्ति नक्षत्र के मेघ (रत्नसेन के हाथी और उसकी विशाल वाहिनी सेना) जगत में उमड़ पड़े थे । घन रूपी असंख्य सैनिक आ रहे थे और चारों ओर दर्प तथा उमंग की वर्षा हो रही थी । धरती और सरग (रानी नागमती और राजा रत्नसेन)

१– 'जायसी-ग्रंथावली'-पद्मावती-वियोग-खण्ड-पृ० ७४, कवित्त सं० ३.
२– टीकाकार-डा० वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत'-चित्तौर-आगमन-खण्ड-कवित्त सं० ४२५.

का अब मिलन होगा। पोखर, ताल, तालाव अब भर जायेंगे अर्थात् राजा रत्नसेन और रानी नागमती का पुराना मन-मुटाव अब समाप्त हो जायेगा। भूम्य नामक समस्त वनस्पति समुदाय लहक उठा था और स्थान-स्थान पर दूर्वा जैसी घास जम आयी थी (नागमती के शरीर का यौवनगत सौन्दर्य लहरा उठा था और उसके हृदय में आनन्द के बीज प्रस्फुटित होने लगे थे) इस प्रकार इस पद में सांग रूपक प्रतीक के द्वारा उसके अर्थ-सौन्दर्य को बढ़ाया गया है।

"जोबन-जल दिन-दिन जस घटा।
भंवर छपान हँस परगटा ॥"[१]

इन पंक्तियों में सादृश्य और साधर्म्य के आधार पर एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप किया गया है। अधिकांशतया निरंग रूपक में तो सादृश्य और साधर्म्य का विधान रहता है, किन्तु सांग रूपक और परम्परित रूपक में इनका पूरा निर्वाह नहीं हो पाता। सादृश्य और साधर्म्य में से यदि एक का भी पूरा निर्वाह हो जाय तो बड़ी बात है, दोनों का एक साथ निर्वाह तो बहुत-ही कम हो पाता है। सादृश्य से अभिप्राय बिंब-प्रतिबिम्ब रूप है और साधर्म्य से वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म। जायसी के प्रस्तुत सांग रूपक में जल यौवन का, भँवर काले केशों का और हंस श्वेत केशों का प्रतीक है। यौवन और जल में उमड़ने या उमंग के धर्म को लेकर साधर्म्य मात्र है। काले केशों का प्रथम तो अतिशयोक्ति में काले भौंरे के साथ वर्ण-सादृश्य है और फिर श्लेष द्वारा रूपक में पहुँचकर जलावर्त के साथ कुछ आकृति सादृश्य, क्योंकि जैसे जल में भँवर उठते हैं, वैसे ही केश भी कुंचित या कुछ घूमे हुए से होते हैं। श्वेत केश और हंस में वर्ण-सादृश्य है। इसके पश्चात् जब हम द्वितीय पंक्ति के इस व्यंग्यार्थ पर आते हैं कि युवावस्था में मनुष्य विषयों के चक्कर में पड़ा रहता है तब हमें सादृश्य और साधर्म्य दोनों मिल जाते हैं क्योंकि जलावर्त का धर्म है चक्कर में डालना; यह इस बात का प्रतीक है कि युवावस्था मनुष्य को विषयों के, माया-जाल के चक्कर में डाल देती है। इसी प्रकार हंस का स्वभाव है—नीर—क्षीर—विवेक; यह वृद्धावस्था मनुष्य को विषय-वासना रूपी माया-जाल से पृथक होने का ज्ञान देती है, इस तथ्य को निरूपित करता है।

'कहरानामा' एवं 'पदमावत' की भाँति चित्रावली में भी सांग रूपक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है; यथा—

"हौं पंछी भूला हुत आवा, जाल मेलि एहि गाँव फ़ँदावा।
चार लोभ बैसेउँ एहि आड़ा, अचक आइ खोंचा उर गड़ा॥

१— जायसी-ग्रन्थावली'-देवपाल-दूती-खण्ड-पृ० २७१ कवित्त सं० १०.

पांखन लासा प्रेम का, बाचा-बंधन पाइ।
दै दै मारी मूँड बहु, निकस न केहु उपाइ।"[१]

यहाँ पंक्षी जीवात्मा का प्रतीक है, जाल माया का प्रतीक है और गाँव संसार का। चार लोभ माया का प्रतीक है और खोंचा सांसारिक व्याधियों का। यह इस भाव को व्यंजित करता है कि माया के वशीभूत होकर मैं इस गाँव में आकर फँस गया हूँ, जिससे सांसारिक व्याधियों ने मुझे आक्रान्त कर लिया है। कौंलावती के प्रेम रूपी लोभ में मैं फँस गया हूँ और उसको दिये हुये वचनों में बंध गया हूँ। अनेकों उपाय करने पर भी मैं इस बंधन से छूट नहीं पाता। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में नदी और नाव के रूपक से चित्रावली के विरह की अभिव्यक्ति की गयी है –

"नैनन नीर नदी होइ गयी, बूड़त सेज भई घरनई।
नैया डोलन उदधि गम्भीरा, बिनु खेवक को लावै तीरा॥
रैनि अँधेरी भँवर जल, चहुँ दिसि लहरि झकोर।
बैठें तीर निचित सौं, का जानै दुख मोर॥"[२]

यहाँ नैया जीवन का प्रतीक है और उदधि विरह का ; खेवक नायक सुजान का प्रतीक है और अंधेरी रात विरह का ; जल में उठने वाले भँवर और लहरें विरह में होने वाले दुख का प्रतीक है। इस प्रकार यहाँ नदी और नाव के रूपक के साथ-साथ प्रतीकों का भी प्रयोग कर सांग रूपक प्रतीक के माध्यम से काव्य-सौन्दर्य की रमणीयता में वृद्धि की गयी है।

"कहिसि कि प्रीतम हिया-सर, सूखि गयो जल-नेह।
फाटन हिया तड़ाक जेउँ, हंस चलेउ तजि देह॥[३]"

चित्रावली कहती है कि प्रियतम के विरह में मेरा हृदय रूपी सरोवर प्रेम रूपी जल के अभाव में सूख गया है। जैसे जल के सूख जाने पर सरोवर में दरारें पड़ जाती हैं, उसी प्रकार प्रियतम के प्रेम के अभाव में मेरे हृदय में विरह के कारण मन-मुटाव रूपी दरारें पड़ गयी हैं और सब प्राण रूपी हंस शरीर रूपी सरोवर को छोड़कर चले जाना चाहते हैं।

स्पष्ट है कि यहाँ हृदय सरोवर का, जल-प्रेम का, हृदय का फटना आपसी मन-मुटाव का और हंस प्राणों का प्रतीक है। वस्तुतः जब हमारी आशाएँ अधिक दिनों

१– 'चित्रावली'-सिद्ध-समागम-खण्ड-पृ० १७७, कवित्त सं० ४६९.

२– 'चित्रावली'-पाती-खण्ड-पृ० १७१, कवित्त सं० ४४९.

३– वही, परेवा-बन्धन-खण्ड-पृ० १८७ कवित्त सं० ४६०.

यहाँ रस वियोग का, गुन गुणरूपी रस्सी का और तीर संयोग का प्रतीक है। विरस्पत चाँद से कहती है कि विरह रूपी रस के कुण्ड में सम्पूर्ण मढ़ी डूबी हुई है। उस कुण्ड से पार पाने के लिये लोग तुम्हारे गुण रूपी रस्सी का स्मरण कर रहे हैं। वियोग रूपी रस की धारा में डूबते हुए लारेक की बाँह पकड़ कर तुम किनारे पर ले आवो अर्थात् उसे संयोग सुख प्रदान करो।

"चन्द्र उवै मुख दुहु कर गहा, होतेउ जो दुख राहु।
पुनि उभै प्रगास, सुन मधुमालती चाहु ॥"[१]

मधुमालती के वियोग रूपी राहु ने उसके माता-पिता (रूपमंजरी और विक्रम रॉय) के चन्द्रमुखों को ग्रसित कर रखा था, किन्तु मालिन से मधुमालती के आगमन रूपी दान को सुनकर वे चन्द्रमुख पुनः प्रकाशित हो उठे। इस प्रकार यहाँ चन्द्रग्रहण के साथ रूपक बाँधकर कवि ने मधुमालती के माता-पिता के दुख-सुख की भावनाओं की सुन्दर व्यंजना की है।

"रितु वसन्त पलुहै फूलवारी, तेहि पतिझार कहाँ सो प्यारी।"[२]

यहाँ वसन्त ऋतु का अंगों सहित रूपक प्रस्तुत किया गया है। रितु वसन्त 'यौवन' का, फुलवारी 'शरीर' का और पतिझार 'विरह' का प्रतीक है। इस प्रकार यहाँ सांग रूपक प्रतीक के माध्यम से राजकुँवर के विरह से व्याकुल युवती इन्द्रावती के दुःख को व्यंजित किया गया है।

"है अथाह जोबन उदधि, थाकी नाव हमार।
खेवक कान्ह कहाँ है, खेइ लगावइ पार ॥"[३]

यहाँ उदधि की अथाह गम्भीरता 'यौवन की गहरायी' का, नाव 'जीवन' का और खेवक कान्ह 'नायक राजकुँवर' का प्रतीक है। इस प्रकार यहाँ अंगी समुद्र का अंगों सहित रूपक-प्रस्तुत करने के कारण सांगरूपक प्रतीक है।

"मुहम्मद जीवन-जल भरन, रहट-घरी कै रीति।
घरी जो आइ ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति।"[४]

इन पंक्तियों में सांग रूपक प्रतीक के माध्यम से जीवन को रहट-घरी के समान बताया गया है। जैसे रहट की वाल्टियाँ भरी हुई आती हैं और फिर खाली होकर भरने चली जाती हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भी इस संसार में देह धारण कर

१—"मधुमालती",-ताराचन्द-मधुमालती-लै-चला-खण्ड-पृ० ११५.
२—"इन्द्रावती"-पाती-खंड-पृ० ७३, कवित्त सं० १६.
३—"इन्द्रावती"-फाग-खण्ड-पृ० ३५, कवित्त सं० ४.
४—"जायसी-ग्रंथावली"-सिंहलद्वीप-वर्णन-खण्ड—पृ० १६, कवित्त सं० १८.

आती है और जीवन समाप्त होने पर फिर दूसरा जन्म धारण करने हेतु उस लोक में चली जाती है। इस प्रकार उसका आवागमन का यह चक्कर चलता रहता है। यहाँ रहट-घरी मानव-जीवन का प्रतीक है और उसकी वाल्टियों का भरकर आना तथा छूछी होकर चली जाना जीवात्मा के आवागमन का। जायसी ने इन सांग रूपक प्रतीकों को अपनाने के साथ-साथ हठयोग के रूपकों को भी अपनाया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में उनके द्वारा सिंहलगढ़ का हठयोग के साथ बाँधा गया रूपक प्रस्तुत है–

"गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी, पनिहारी जैसे दुरपदी।
और कुण्ड एक मोतीचूरू, पानी अमृत, कीच कपूरू॥
ओहिक पानि राजा पै पीया, विरिध होइ नहिं जौलहि जीया।
कंचन-विरिछ एक तेहि पासा, जस कलपतरू इन्द्र-कविलासा॥
मूल पतार, सरग ओहि साखा, अमरवेलि को पाव, जो चाखा।
चाँद पात औ फूल तराईं, होईं उजियार नगर जहँ ताईं॥
वह फल पावै तप करि कोई, विरिध खाइ तौ जोवन होई॥
राजा भए भिखारी, सुनि वह अमृत भोग।
जेइ पावा सो अमर भा, ना किछु व्याधि न रोग॥"[१]

गढ़ मानव-शरीर का प्रतीक है (गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया, परखि देखु पुरिष ओहि कै छाया-पार्वती-महेश-खण्ड) नीर-क्षीर नामक नदियाँ इड़ा-पिंगला नाड़ियों की प्रतीक हैं और मोती-चूर्ण का कुण्ड मूलाधार चक्र का प्रतीक है। यहाँ पर सुषुम्ना नारी सुप्तावस्था में रहती है। कँचन-वृक्ष सुषुम्ना नाड़ी का प्रतीक है जो पाताल (मूलाधार चक्र) से लेकर आकाश (सहस्त्रार) तक फैला हुआ है। उसी के प्रकाश से समस्त काया-गढ़ प्रकाशित रहता है अर्थात् काया की समस्त चेतना उसी का परिणाम है। इसमें फलित होने वाला फल आत्मानुभव का प्रतीक है, जिसका सेवन करने से मानव जरा-मरण के भय से मुक्त हो जाता है। इस फल की प्राप्ति हठयोग साधना द्वारा ही संभव है। इसको प्राप्त कर लेने पर मानव को दैहिक और भौतिक व्याधियाँ नहीं व्यापतीं।

"काल सीस पर रैन दिन, जैस वाज मंडराय।
जिउ की मैना पींजड़े, समै पाय लै जाय॥"[२]

१- 'जायसी-ग्रंथावली'-सिंहलदीप-वर्णन-खंड-पृ० १९ कविता सं० १९.
२-"भाषा-प्रेमरस"-उद्धृत-'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य' पृ० ६१

यहाँ पर बाज और मैना के रूपक के माध्यम से काल के हाथों में फँसे जीव की दशा को व्यंजित किया गया है। बाज मृत्यु का, मैना जीव का और पिंजड़ा शरीर का प्रतीक है।

१०.२. परम्परित रूपक सम्बन्धी प्रतीक-योजना

इन सांग रूपक प्रतीकों की भाँति परम्परित रूपक सम्बन्धी प्रतीकों का भी हिन्दी-सूफ़ी-कवियों ने सुन्दर प्रयोग किया है। परम्परित रूपक वह रूपक है जिसमें एक का अभेदारोप दूसरे के अभेदारोप का कारण हुआ करता हैं।[1] जब यह अभेदारोप प्रतीकयुक्त होता है तो इसे परम्परित रूपक प्रतीक कहते हैं।

"राहु केतु घर उठे, दसा सूर भा आइ।"[2]

यहाँ चूँकि पहले वीरों के लिये राहु-केतु के रूपक प्रतीक को प्रस्तुत किया गया है अतः आगे राहु-केतु के शत्रु चन्द्र-सूर्य के ग्रहण की दशा को उपमानस्वरूप लाया गया है।

"आजु कहु चाँद न चीन्हसि मोही, गहनै लेत उबारेउ तोही।"[3]

लोरक चाँद से कहता है कि हे चन्द्ररूपिणी चाँद आज तुम मुझे पहचानने से अस्वीकार कर रही हो, किन्तु जब राजा रावरूपचन्द्र का ग्रहण रूपी आक्रमण तुम्हें लगा था, तब मैंने ही तुम्हारा उद्धार किया था। यहाँ परम्परित रूपक प्रतीक है क्योंकि चाँद के लिये पहले चांद का रूपक दिया गया है अतः आगे आक्रमण के किये ग्रहण के रूपक प्रतीक को प्रस्तुत किया गया है।

रानी मिरगावती अपनी सात सखियों सहित सरोवर में स्नान करने आती है। वहाँ राजकुँवर मिरगावती को देखकर उसकी ओर आकर्षित हो जाता है और उसके चले जाने पर वह विरह व्याकुल हो कहता है—

"हौं रे मिरिग वह पारुधि भई,
बान बिसार मारि हन गई॥"[4]

यहाँ मिरिग राजकुँवर का प्रतीक है और पारुधि मिरगावती का। चूँकि पहले राजकुँवर के लिये मृग का रूपक लाया गया है अतः आगे मृग को मारने के

१—'यत्र कस्यचिदारोपः परारोपकारणम्'—
व्याख्याकार-डा० सत्यव्रत सिंह-'साहित्य-दर्पण'-दशम् परिच्छेद, पृ० ७१६.
२—सं०-डा० परमेश्वरी लाल गुप्त—'चंदायन'-पृ० १३३.
३—वही, पृ० २०२.

लिये पारुधि (वहेलिया) के उपमान का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यहाँ परम्परित रूपक प्रतीक का प्रयोग हुआ है–

"जोवन चाँद उआ जस, विरह भयउ संग राहु।
घटतहि घटत छीन भइ कहै न पारो काहु॥"[१]

यौवन रूपी चन्द्र के उदय होते ही विरह रूपी राहु ने उसे ग्रसित कर लिया और अब चन्द्र क्षण-क्षण क्षीण होता जा रहा है। यहाँ चन्द्रमा को पद्मावती के यौवन का प्रतीक माना गया है और फिर चन्द्रमा को ग्रसित करने के लिये राहु का उपमान लाया गया है। अतः यहाँ परम्परित रूपक प्रतीक है।

"अब जोबन-वारी को राखा, कुंजर विरह विधांसै साखा।"[२]

पद्मावती अपनी धाय से कहती हैं कि अब यौवन रूपी वाटिका को कौन बचा सकता है, विरह रूपी हाथी इस वाटिका के वृक्षों को विध्वंस किये दे रहा है। चूँकि यौवन को वाटिका का प्रतीक माना गया है अतः आगे वाटिका को ध्वंस करने वाले हाथी को उपमानस्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में भी परम्परित रूपक प्रतीकों का प्रयोग द्रष्टव्य है–

'विरह हस्ति तन सालै घाय करै चित्त चूर।
वेगि आइ पिउ ! वाजहु गाजहु होई सदूर॥"[३]

यहाँ विरह को हाथी का प्रतीक माना गया है, इसीलिये आगे प्रियतम को हाथी का शत्रु सिंह बनकर आने के लिये कहा गया है।

चित्रावली को सुजान के आने का संदेश देते हुए सिद्ध परेवा उससे कहता है कि–

"रहा मलीन कौंल जेहि आसा।
आउ सूर अब करहु बिगासा॥"[४]

यहाँ चूँकि कँवल को चित्रावली का प्रतीक माना गया है अतः आगे सुजान के लिये सूर्य के उपमान को प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि कँवल सूर्य का प्रेमी है और वह उसे अवलोक कर विकसित हो जाता है।

१–"जायसी-ग्रंथावली"-पद्मावती-वियोग-खण्ड-पृ० ७५ कवित्त सं० ५.
२–वही,–पृ० ७४,कवित्त सं० ३.
३–वही,–पृ० १५३.
४–"चित्रावली"–परेवा–आगमन–खण्ड–पृ० १७, कवित्त सं० २५३.

हंस द्वारा कौंलावती का स्मरण कराने पर कुँवर सुजान विरह-व्याकुल हो उठता है, उसकी इस दशा को अवलोक कर चित्रावली की जो अवस्था हो जाती है उसका वर्णन कवि ने परम्परित रूपक प्रतीक के माध्यम से किया है–

"चक्रित भई मुख देखि चकोरी, कै - मयंक दुति लीन्ह अँजोरी।"[१]

यहाँ चित्रावली के लिये चकोरी के रूपक प्रतीक का प्रयोग हुआ है अतः आगे उसकी मुख-कान्ति के लिये चन्द्रमा के रूपक का प्रयोग किया गया है।

"घट-पिंजर चहुँ दिसि ते टूटा, प्रान-परेवा चाहैं छूटा।"[२]

चूँकि यहाँ पहले शरीर के लिये पिंजड़े का प्रतीक-रूप में प्रयोग हुआ है अतः बाद में प्राणों के लिये परेवा को उपमानस्वरूप लाया गया है।

"काह हँसौ तुम मोसों, किएउ और सों नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरिसै मेह॥"[३]

यहाँ रत्नसेन के सुख-आनन्द के लिये बिजली के रूपक को प्रस्तुत किया गया है और चूँकि बिजली वर्षा के समय चमकती है अतः आगे इसी कारण नागमती के रुदन के लिये वर्षा के रूपक को भी लाया गया है; इस प्रकार यहाँ बिजली और वर्षा क्रमशः आनन्द और रुदन के प्रतीक हैं। इन रूपक प्रतीकोंके माध्यम से कवि द्वारा नयी पत्नी पद्मावती के प्रेम में अनुरक्त राजा की प्रसन्नता और पति के वियोग से पीड़ित नागमती की दुःखमय अवस्था चित्रित की गयी है।

"कहेसि कुँवर मन भौं हुलासा, सूर उदित भौं कौंल बिगासा।[४]

पक्षी रूप मधुमालती के जाल में फँस जाने पर राजकुँवर कहता है कि मेरा मन अत्यन्त उल्लसित हो गया है। मानो सूर्य के उदय से कमल विकसित हो गया हो। यहाँ पर सूर्य का उदय पक्षी के जाल में फँसने का प्रतीक है और विकसित कमल मन की प्रसन्नता का। इस प्रकार चूँकि यहाँ एक का अभेदारोप दूसरे के अभेदारोप का कारण है अतः परम्परित रूपक प्रतीक है।

'जोबन गजरिपु भारी भारी, कहाँ महाउत राखेउ बारी।[५]

यहाँ पहले जोवन के लिये गजरिपु को प्रतीकस्वरूप प्रस्तुत किया गया है

१–"चित्रावली"-चित्रावली-गवन-खण्ड-पृ० २१६, कवित्त सं० ५७४.
२–वही, विरह-खण्ड-पृ० ९६, कवित्त सं० २५०.
३–"जायसी-ग्रंथावली"-चित्तौर-आगमन-खण्ड-पृ० १८६, कवित्त सं० ७.
४. 'मधुमालती'–ताराचन्द-पंछी-बझाइ–खंड–पृ० १०६
५. 'इन्द्रावती'-फाग-खण्ड, पृ० ३८, कवित्त सं० १६

अतः आगे पद्मावती के शरीर के लिये वाटिका के रूपक को लाया गया है।

"चन्द्र विलोकत रहि गयेउ, निज चकोर की ओर।"[1]

यहाँ चन्द्र इन्द्रावती का प्रतीक है और चकोर राजकुँवर का। चूँकि पहले इन्द्रावती के लिये चन्द्र का रूपक लाया गया है अतः आगे चन्द्रमा के प्रेमी चकोर को उपमानस्वरूप प्रस्तुत किया गया है–

"नेह-बीज मन-धरतिय बोवै, रैन न सोवै दिन कहँ रोवै।"[2]

यहाँ चूँकि बीज को प्रेम का प्रतीक माना गया है अतः आगे पद्मावती के मन के लिये धरती के उपमान को लाया गया है, क्योंकि प्रेम रूपी बीज का प्रस्फुटन मन रूपी धरती में ही होना सम्भव है। इस रूपक प्रतीक का प्रयोग 'इन्द्रावती' में भी हुआ है–

"प्रीत बीज मन खेत मों, बोएउ राजकुमार।
इन्द्रावती को दरस हित, बैठा आसन मार॥"[3]
"है वह रूप दीप उजियारा, है पतंग तापर संसारा।"[4]

इन्द्रावती के सौन्दर्य रूपी दीपक में जलने के लिये संसार को पतंग स्वरूप प्रस्तुत किया गया है अतः यहाँ पर परम्परित रूपक प्रतीक है।

"इन्द्रावति मन उपवन, आस कली विकसान।
मन मो रहेउ न विसमो, आइ अनन्द समान॥"[5]

रजकुँवर को दूलह वेश में अवलोक कर इन्द्रावती के मन रूपी उपवन में आशा रूपी कली विकसित हो गयी। यहाँ पहले उपवन को मन का प्रतीक माना गया है इसीलिये आगे आशा के लिये कली के रूपक प्रतीक का प्रयोग हुआ।

"यह जग जान सराँय समाना, नर नारी पंथी को आना।
आये सांझ भोर उठ भागे, काहु के संग सराय न लागे॥"[6]

सराय संसार का प्रतीक है और पंथी नर-नारियों का। चूँकि संसार के

---

१. 'इन्द्रावती' फुलवारी–खण्ड, पृ० ६०, कवित्त सं० २८
२. वही,-विरह-अवस्था-खण्ड–पृ० १४८, कवित्त सं० १
३. वही,-जोगी-खण्ड-पृ० ३२, कवित्त सं० ३७
४. वही,-दर्शन-खण्ड-पृ० ७६, कवित्त सं० ४.
५. वही,-व्याह-खण्ड-पृ० १७१, कवित्त सं० २४.
६. "भाषा-प्रेमरस"-उद्धृत–'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी–कवि और काव्य' पृ० ५५६.

लिये सराय के रूपक को प्रस्तुत किया गया है इसीलिये आगे नर-नारी के लिये पंथी के रूपक को लाया गया है। इस प्रकार यहाँ परम्परित रूपक प्रतीक के माध्यम से इस संसार और इसमें रहने वाले जीव की सुन्दर व्याख्या की गयी है।

१०.३. निरंग रूपक सम्बन्धी प्रतीक-योजना

इन प्रतीकों के अतिरिक्त निरंग रूपक प्रतीक का प्रयोग भी इन कवियों के काव्य में उपलब्ध होता है। निरंग रूपक को निरवयव रूपक भी कहते हैं। इसमें केवल अंगी का ही आरोप होता है, उसके अंगों का नहीं।

बाजिर चाँद के सोन्दर्य को अवलोक कर मूच्छित हो जाता है और गोबर-वासियों से कहता है कि–

"हौ मरेउँ इँह गाँव तुम्हारे, नैन बान हत गयी बिसारे।"[१]

यहाँ नेत्रों को वाण का प्रतीक माना गया है। चूँकि यहां केवल अंगी का ही आरोप हुआ है उसके अंगों का नहीं, अतः यहाँ निरग रूपक प्रतीक है। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्ति में नेत्रों के लिये समुद्र के रूपक को प्रस्तुत किया गया है—

"नैन समुँद अति अवगाहा, बूड़हि राइ न पावहि थाहा।"[२]
"फुनि जो अचम्भो देखी कहां, वदन चाँद जनु उदिनल अहा।"[३]

यहाँ मुख के लिये केवल अंगी चन्द्र के रूपक को प्रस्तुत किया गया है अतः निरंग रूपक सम्बन्धी प्रतीक है। नेत्रों के लिये इस रूपक-प्रतीक का प्रयोग 'चित्रा-वली' में भी द्रष्टव्य है–

"लोचन-सिन्धु थाह को पावै, बुड़िबे के डर नींद न आवै।"[४]
"प्रेम समुँद बूड़िउ सुन बाता, तोहि बिन कोइ न धीरक दाता।"[५]

यहाँ प्रेम की गम्भीरता को समुद्र के रूपक से व्यक्त किया गया है, किन्तु चूँकि समुद्र के अन्य अंगों का आरोप नहीं हुआ है अतः यहाँ निरंग रूपक प्रतीक है। इस निरंग रूपक प्रतीक का प्रयोग 'इन्द्रावती' में भी हुआ है; यथा —

---

१. सं० डा० परमेश्वरी लाल गुप्त-'चंदायन'–पृ० ११४.
२–वही, पृ० ११६.
३. 'मिरगावती' पृ० १८६, कवित्त सं० १२८.
४–"चित्रावली"-पाती-खण्ड-पृ० १६७, कवित्त सं० ४३८.
५–"मधुमालती"-मधुमालती का बारहमासा-खण्ड-पृ० १२३.

"प्रेम समुद्र की लहरैं गाढ़ी, तन सों जीउ लेत है काढ़ी।"[1]
"प्रेम समुद्र अथाह है, बूड़े मिले न अन्त।
तेहि समुद्र मैं हौं परा, तीर न मिलत तुरन्त॥"[2]

प्रेम के लिये समुद्र के इस रूपक प्रतीक का प्रयोग 'पदमावत' आदि अन्य प्रेमाख्यानों में भी उपलब्ध होता है; यथा—

"प्रेम समुद्र जो अति अवगाहा, जहाँ न वार न पार न थाहा।"[3]
"बरुनि बान अस ओपहँ बेधे रन बन-ढाँख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥"[4]

यहाँ वरुनि के लिये वाण के रूपक को प्रस्तुत किया गया है किन्तु साथ ही वाण के अन्य अंगों की नियोजना नहीं हुई है अतः यहाँ निरंग रूपक प्रतीक है।

"केवट ही गहुँ लाइ चित कहुँ गुन गहि तीर लगाइहि रे।"[5]

यहाँ परमात्मा के लिये केवट के रूपक प्रतीक का प्रयोग हुआ है, किन्तु साथ ही चूँकि केवट के अन्य अंगों का रूपक प्रस्तुत नहीं किया गया है, अतः यहाँ निरंग रूपक प्रतीक है।

"नैन पियासे रूप-जल, पीवत जेहि न अघाहि।"[6]

यहाँ रूप के लिये केवल जल के रूपक को प्रस्तुत किया गया है अतः निरंग रूपक प्रतीक है।

"नबी प्रेम-मद सो पियें जो खोवे कुलकानि।"[7]

इस पंक्ति में प्रेम के लिए मद के रूपक का प्रतीक-रूप में प्रयोग किया गया है इस रूपक में केवल अंगी का प्रयोग होने के कारण निरंग रूपक प्रतीक है।

"नैन बान कवि जान कहि, जिह उर लागत आइ।
सालि करेजे में रहे, करक न कबहूँ जाइ॥"[8]

उपरोक्त पंक्ति में नेत्रों के लिये वाण के रूपक प्रतीक का प्रयोग हुआ है और चूँकि यह रूपक अपने समस्त अंगों सहित प्रयुक्त नहीं हुआ है अतः इसे निरंग

१—"इन्द्रावती" जोगी-खण्ड-पृ० ३०, कवित्त सं० २७.
२—वही.
३-वही, राजा-गजपति-संवाद-खण्ड—पृ० ६०, कवित्त सं० ४.
४—'-वही,-नख-शिख-खण्ड-पृ० ४३, कवित्त सं० ६.
५—'कहरानामा'-उद्धृत-श्री रामपूजन तिवारी-जायसी' पृ० १२६.
६—"चित्रावली'-परेवा-खण्ड-पृ० ७३, कवित्त सं० १८८.
७—'ज्ञान दीप'-उद्धृत-'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी-कवि और काव्य'-पृ० ४२२.
८—'कथा कलावती'-उद्धृत-वही, पृ० ४१०.

रूपक प्रतीक की संज्ञा दी जा सकती है। इस रूपक प्रतीक का प्रयोग 'यूसुफ-जुलेखा' में भी हुआ है; यथा–

"नैन-बान ते बेधा हीया, बात न आउ मौन भई तीया।"

अस्तु, निष्कर्ष रूप में, कहा जा सकता है कि रहस्यवादी हिन्दी-सूफी-कवियों के प्रेमाख्यानों में रूपकात्मक प्रतीकों की सुन्दर नियोजना हुई है। इन कवियों ने सांग रूपक, परम्परित रूपक और निरंग रूपक प्रतीकों का आश्रय ग्रहण कर उनके माध्यम से अपनी अनुभूतियों की सुन्दर अभिव्यंजना की है।

३–'यूसुफ-जुलेखा'-उद्धृत-'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफ़ी कवि और काव्य' पृ० ५१७.

११ | लक्षणामूलक प्रतीक-योजना

लक्षणामूलक प्रतीकों का अध्ययन करने के पूर्व यह जान लेना अपरिहार्य होगा कि लक्षणा किसे कहते है ? काव्य में जो तीन प्रकार की शब्द शक्तियाँ निरूपित की गयी हैं, लक्षणा उनमें से दूसरी शक्ति है। शब्द की शक्ति उसके अन्तर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का व्यापार है; दूसरे शब्दों में जिस शक्ति या व्यापार द्वारा किसी शब्द के अर्थ का बोध होता है उसे शक्ति की संज्ञा दी जाती है–'शब्दार्थ सम्बन्ध शक्ति : अर्थात् बोधक शब्दों और बोध्यपदार्थ या शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं। अर्थ तीन प्रकार के होते हैं– वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक। भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में इन तीनों प्रकार के अर्थों को संकेतित किया है।[1] इन तीनों अर्थों का बोध कराने वाले शब्दों को वाचक लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों की सँज्ञा दी गयी है। इन तीनों प्रकार के शब्दों और अर्थों के सम्बन्ध का बोध कराने वाली शब्द-शक्तियाँ भी तीन प्रकार की मानी गयी हैं १–अभिधा शक्ति २– लक्षणा शक्ति, और (३) व्यंजना शक्ति।

अभिधा शक्ति

अभिधा शक्ति से शब्दों के मुख्य या प्रत्यक्ष संकेतित अर्थ का बोध होता है। 'समुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।'[2] अर्थात् साक्षात् संकेतित (गुण, जाति, द्रव्य तथा क्रिया वाचक) अर्थ, जिसे मुख्य अर्थ कहा जाता है, उसका बोध कराने वाले व्यापार को अभिधा व्यापार या शक्ति कहते हैं। इस शक्ति के द्वारा तीन प्रकार के शब्दों का अर्थबोध होता है– (१) रूढ़ शब्द, (२) यौगिक शब्द और (३) योगरूढ़ शब्द।

रूढ़ शब्द व्युत्पत्तिरहित और अभेद्य होते हैं–"व्युत्पत्तिरहिताः शब्दाः रूढ़ा आखण्ड लाक्षः।" इसमें पूरे शब्द से केवल एक ही अर्थ का बोध होता है; यथा–

१–"पद वाचक अरु लाच्छणिक व्यंजक तीन विधान।

तातें वाचक भेद को पहिले करौं बखान॥-'काव्य-निर्णय' पृ० ४, दोहा सं० १.

२–व्याख्या-डॉ० सत्यव्रत सिंह-'काव्य-प्रकाश' पृ० ३० (२।८).

गढ़, घोड़ा आदि।

जिन शब्दों का अर्थबोध अवयवों (प्रकृति और प्रत्यय) की सहायता से होता है, उन्हें यौगिक शब्द कहते हैं; जैसे–'हिमांशु' इसमें हिम और अंश दो अवयव हैं। हिम अर्थात् बर्फ शीतल होती है और चन्द्रमा भी शीतलता प्रदान करता है अतः उसके लिये हिमांशु शब्द स्थिर हो गया है।

योगरूढ़ शब्दों में भी प्रकृति और प्रत्यय के सहयोग से अर्थ का प्रत्यक्षीकरण होता है, किन्तु ये शब्द यौगिक होते हुये भी रूढ़ शब्दों के समान एक ही विशिष्ट अर्थ के वाचक होते है; यथा--'सरोज' अर्थात् तालाब में उत्पन्न होने वाला; अतः 'सरोज' शब्द तालाब में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है, किन्तु इसके स्थान पर वह केवल कमल का ही वाचक है।

लक्षणा शक्ति

मुख्यार्थ के बाधित होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित होता है, उसे लक्षणा व्यापार (शक्ति) कहते हैं।[१]

आचार्य प्रतापसिंह के मतानुसार जब कोई शब्द वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त नहीं कर पाता और तत्सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ को व्यक्त करता है, तो उसमें लक्षणा-शक्ति होती है।[२]

भारतीय-साहित्य की भाँति अंग्रेजी साहित्य में भी लक्षणा-शक्ति पर प्रकाश डाला गया है। इस सम्बन्ध में ऑग्डन और रिचर्ड्स का अभिमत है कि 'जहाँ एक सम्बद्ध पदार्थ के लिये दूसरे सम्बद्ध पदार्थ का प्रयोग किया जाता है, वहाँ लक्षणा शक्ति होती है[३]। जैसे यदि हम कहें कि 'माली दूब काट रहा है' तो घटना और स्थिति को दृष्टि में रखकर विचार करने पर हम पायेंगे कि 'दूव' को माली नहीं अपितु 'यंत्र' काटता है; यह सब कुछ जानने पर भी हम कहते हैं कि 'माली दूब

१–"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत सालक्षणारोपिताक्रिया॥"
व्याख्या-डा० सत्यव्रत सिंह 'काव्य–प्रकाश', पृ० ३१, (२।९)।

२–"अर्थ न लक्षक सो बनत गहि समीप ते जोइ।
होइ लक्षणा ते प्रकट लक्ष्यारथ कहि सोई॥" 'काव्य-विलास' (२।१२)

३. "Metaphor, in the most general sense, is the use of one reference to a group of things between which a given relation holds, for the purpose of facilitating the discrimination of an analogous relation in another group"
–"The Maning of Meaning" Ch X P. 213.

काट रहा है'।[1]

उपरोक्त संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि जिस शब्द के द्वारा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ लक्षित होता है, उस वृत्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं।

आचार्यों ने इस शक्ति के प्रमुख रूप से दो भेद माने हैं–(१) रूढ़ लक्षणा और (२) प्रयोजनवती लक्षणा।[2]

रूढ़ लक्षणा–

'जब मुख्य अर्थ के बाधित होने पर रूढ़ि के कारण मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है तब रूढ़ लक्षणा होती है।'[3] स्पष्ट है कि रूढ़ लक्षणा में कोई अर्थ विशेष उस प्रकार के प्रयोग की परम्परा के कारण रूढ़ हो जाता है। साहित्य दर्पणकार ने इसका उदाहरण कलिंग: साहसिक:[4] अर्थात् कलिंग साहसी है, दिया है। अभिधा शक्ति से कलिंग का अर्थ एक देश विशेष होगा, किन्तु यह अर्थ यहाँ बाधित होगा, क्योंकि अचेतन कलिंग देश और साहस रूप चेतन धर्म का परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अत: लक्षणा शक्ति से 'कलिंग' शब्द अपने मुख्यार्थ देश विशेष रूप को छोड़कर संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध पुरुषादि रूप का अवबोध करवाता है। इस प्रकार 'कलिंग' शब्द एक प्रान्त विशेष का अर्थ न देकर लक्षणा-शक्ति से कलिंग-निवासी अर्थात् व्यक्ति विशेष का प्रतीक बन गया है। कविवर बिहारी के दोहों में इस लक्षणा के

---

1. "...... ..But just we say that the gardener mows the lawn, when we know that it is the lawn mower which actually does the cutting, so though we know that the direct relation of symbols record events and communicate facts."

–'The Meaning of Meaning' Ch. 1 P. 9.

२–"मुख्यार्थ बाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थ: प्रतीयते।
रूढ़े: प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।"

-अर्थात् लक्षणा शक्ति वह शब्दशक्ति है जो मुख्यार्थ के बाधित हो जाने पर वहाँ एक ऐसे अर्थ का अवबोधन करवाया करती हैं जो कि मुख्यार्थ से किसी-न-किसी रूप में संबद्ध तो अवश्य रहा करता है, किन्तु मुख्यार्थ के स्वभाव से भिन्न स्वभाव का हुआ करता है और ऐसा होने का कारण या तो 'रूढ़ि' (प्रयोग-प्रवाह) है या प्रयोजन-विवक्षा' व्याख्याकार-डा० सत्यव्रत सिंह-'साहित्य-दर्पण' पृ० ४८ (२।५)

३–"हिन्दी-साहित्य-कोश' पृ० ६६७ (प्र० सं०)

४–व्याख्या-डा० सत्यव्रत सिंह 'साहित्य-दर्पण' (द्वितीय-परिच्छेद) पृ० ४९.

सुन्दर उदाहरण मिलते हैं; यथा–

"डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज वेहाल।
कंप किशोरी दरसि कै खरे लजाने लाल॥"[1]

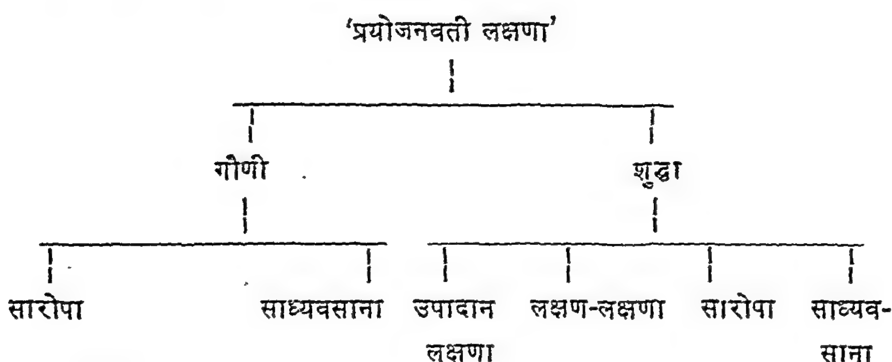
यहाँ पर 'ब्रज' शब्द देश विशेष का बोधक न होकर रूढ़ लक्षणा द्वारा ब्रज-निवासी अर्थ का प्रतीक है।

प्रयोजनवती लक्षणा–

'मुख्य अर्थ के बाधित होने पर जब किसी प्रयोजन के लिये किसी विशेष अभिप्राय से मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी भिन्न (लक्ष्यार्थ) अर्थ को ग्रहण किया जाता है तो उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहा जाता है।[2] इसका उदाहरण साहित्य दर्पणकार ने 'गंगायां' घोषः'।[3] 'गंगा पर कुटिया' है, दिया है। इसमें अभिधा शक्ति से गंगा का अर्थ प्रवाह निकलता है जो कि यहाँ असंगत प्रतीत हो रहा है, क्योंकि 'गंगा, (जल-प्रवाह) और 'घोष' (कुटिया) में आधाराधेयभाव रूप सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है? किन्तु लक्षणा शक्ति से 'गंगा' शब्द अपने मुख्यार्थभूत जल-प्रवाह अर्थ के साथ सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बद्ध 'तट' अर्थ का बोध कराने लगता है। इसमें जो लक्षणा का हेतु है, वह है शीतलता, पवित्रता आदि की उत्कटता का अवबोधन रूप प्रयोजन, जो कि 'गंगा तटे घोषः–' गंगा के तीर पर कुटिया है इस प्रकार के प्रयोग से कदापि व्यंजित नहीं हो सकता, क्योंकि शीतलता और पवित्रता आदि की विशेषताएँ गंगा की धारा की विशेषताएँ हैं, न कि गंगा के तीर की; और साथ ही 'तीर' का तात्पर्य गंगा की धारा से अत्यन्त संयुक्त स्थल भाग ही नहीं अपितु कुछ दूरस्थ भाग भी हो सकता है, जहाँ गंगा की धारा की शीतलता और पावनता का कोई सम्बन्ध नहीं। इसीलिये 'गंगा तटे घोषः' के बदले 'गंगायां घोषः का प्रयोग किया जाता है, जिससे गंगा की शीतलता और पवित्रता कुटी के वातावरण के रूप में प्रतीत हो जाया करे।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने प्रयोजनवती लक्षणा के ६४ भेद स्वीकार किये हैं। आचार्य देव ने इसके १२ भेद माने है। आचार्य प्रतापसिंह तो इसके ८० भेद मानते हैं किन्तु मम्मटाचार्य ने इसके मुख्यतम ६ भेद माने हैं। पहले उन्होंने प्रयोजनवती लक्षणा के प्रमुख दो भेद बताये हैं– (१) गौणी और (२) शुद्धा; और फिर गौणी के दो भेद तथा शुद्धा के चार भेद स्वीकृत किये हैं जो निम्नलिखित तालिका से पूर्णतया स्पष्ट हैं –

१–सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र-'विहारी' पृ० २०९, दोहा, सं० २५६.
२–"हिन्दी-साहित्य-कोश" पृ० ४८८ (प्र० सं०)
३–व्याख्या-डॉ० सत्यव्रत सिंह-'साहित्य-दर्पण' (द्वितीय-परिच्छेद) पृ० ५०.



गौणी लक्षणा :–

'गुणतः सादृश्यमस्याः प्रवृत्तिनिमित्त' अर्थात् जहाँ उपमान उपमेय में गुणा-सादृश्य के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ गौणी प्रयोजनवती लक्षणा होती है ; उदाहरणार्थ–

"उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग ।
विकसे संत-सरोज सब हरषे लोचन भृंग ॥"[१]

इसमें राम को 'बाल-पतंग' कहने में मुख्यार्थ का बाध है और राम की प्रभा उदयकालीन सूर्य के समान है, यह भिन्न अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया गया है । साथ ही राम की शरीर-कान्ति का सौन्दर्य व्यक्त करना प्रयोजन है, जो सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित है अतः यहाँ गौणी लक्षणा है । इसके प्रमुख दो भेद हैं :–

(१) सारोपा गौणी लक्षणा और
(२) साध्यवसाना गौणी लक्षणा ।

सारोपा गौणी लक्षणा :–

जहाँ विषयी (उपमान) और विषयक (उपमेय) दोनों का आरोप हो, वहाँ सारोपा गौणी लक्षणा होती है, 'सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा'[२] यथा–

"हरि मुख पंकज भ्रुव धनुप खंजन लोचन मित्त ।
बिंब अधर कुंडल मकर बसे रहत मो चित्त ॥"[३]

१– टीका-हनुमान प्रसाद पोद्दार 'रामचरित-मानस' बालकाण्ड, पृ० २४३, दोहा सं० २५४.

२– व्याख्या-डा० सत्यव्रत सिंह-'काव्य-प्रकाश' (द्वितीय अध्याय के १० वें सूत्र के अन्तर्गत)-पृ० ३६.

३– 'भिखारीदास-ग्रन्थावली' पृ० ६९, पद सं० २४.

मकर लाक्षणिक पद हैं। मुख, भ्रुव, लोचन तथा कुण्डल उपमेय एवं पंकज, धनुष, खंजन और मकर उपमान हैं। इन सभी पदों का आधार सादृश्य है। 'मुख' को 'पंकज' कहकर अरुणिमा, सुवास, सुकुमारता, प्रफुल्लता तथा प्रेमीजनों को आकर्षित करने वाला, इतने भावों का एक साथ आरोप किया गया है। 'भ्रुव' को 'धनुष' कह कर जहाँ भ्रू का आकार स्पष्ट किया गया है वही कटाक्ष सर के संधानक का भी आरोप हो गया है। 'खंजन' को 'लोचन' कहकर नेत्रों के सौन्दर्य और चांचल्य की ओर संकेत किया गया है। 'कुण्डल' को 'मकर' कहकर कुण्डल की मकराकृति को बताया गया है। इस प्रकार इसमें सारोपा गौणी लक्षणा के प्रयोग द्वारा अर्थ-गाम्भीर्य की सृष्टि हुई है।

साध्यावसाना गौणी लक्षणा :—

यह लक्षणा वहाँ पर होती है जहाँ उपमेय या आरोपित विषय का शब्द द्वारा कथन न होकर केवल उपमान (आरोप्यमाण) का ही प्रयोग होता है - 'विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा'[1] साध्यवसाना गौणी लक्षणा का निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है -

"देखि सखि, साठ कमल इक जोर।
बीस कमल परघट दिखियत हैं, राधा नन्द किसोर।।
सोरह कला संपूरन मोह्यो व्रज अरुनोदय भोर।
तामैं सखी द्वैक मधु लागि रहे चितवत चारि चकोर।।"[2]

इन पंक्तियों में प्रयुक्त साठ कमल, बीस कमल, मधु और चकोर सभी उपमान हैं ; उपमेय का वर्णन नहीं किया गया है अतः ये सभी लक्षित अर्थ की ओर संकेत करते हैं। बीस कमल का लक्षित अर्थ है—राधा तथा कृष्ण के चार चरण-कमल, चार कर-कमल, चार नेत्र-कमल, दो मुख-कमल, दो हृदय-कमल, दो नाभि कमल और नायिका के दो उरोज-कमल यही बीस प्रकट कमल हैं। दर्पण और यमुना में प्रतिबिंबित होकर यही साठ हो जाते हैं। मधु का लक्ष्यार्थ अधर है और चकोर का लक्ष्यार्थ नेत्र। अतः कहा जा सकता है कि इसमें गौणी साध्यवसाना लक्षणा है, क्योंकि इसमें उपमेय का शब्द द्वारा कथन न होकर केवल उपमानों का ही प्रयोग हुआ है।

शुद्धा लक्षणा

जहाँ लक्ष्यार्थ का ग्रहण सादृश्य सम्बन्ध के बिना किसी अन्य सम्बन्ध के आधार पर किया जाता है वहाँ शुद्धा-लक्षणा होती है ; जैसे—

१— 'काव्य-प्रकाश' पृ० ३७, (२।११).
२— सं० चुन्नी लाल शेष-'सूर के सौ कूट' पृ० ८४, पद सं० १२.

"अपने कर गुहि आपु हठि हिय पहिराई लाल ।
मौलसिरी औरे चढ़ी मौलसिरी की माल ॥"[1]

यहाँ 'अपने कर गुहि' में अंगांगिभाव सम्बन्ध से हाथ की उँगली की ओर संकेत है। इसके मुख्य चार भेद हैं-(१) उपादान लक्षणा (२) लक्षण लक्षणा (३) सारोपा शुद्धा लक्षणा और (४) साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा।

उपादान लक्षणा

'वाक्य के अर्थ की अन्वय (तार्किक) सिद्धि के लिये जब मुख्य अर्थ अपने से भिन्न किसी अर्थ का संकेत देता है तो वहाँ उपादान शुद्धा लक्षणा होती है।'[2] वस्तुतः इस लक्षणा के प्रयोग में मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, अपितु लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ भी संलग्न रहता है ; यथा—

"त्यौं अँसुवा बरसै बरसाने को, पाती लिखै लिखि राधिका ध्यावै ।"[3]

इसमें 'बरसाने को' पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ बरसाना गाँव है, पर गाँव आँसू कैसे बरसा सकता है ? अतः मुख्यार्थ के बाधित होने के कारण इसका लक्ष्यार्थ है बरसाने में निवास करने वाली राधा। इस प्रकार इसमें मुख्यार्थ के त्याग के बिना लक्ष्यार्थ ग्रहण किया गया है, अतः इसमें उपादान शुद्धा लक्षणा है।

लक्षण लक्षणा

'वाक्य के अर्थ में किसी वस्तु के दूसरी वस्तु से अन्वय (तार्किक) सिद्धि के लिये मुख्यार्थ को छोड़कर भिन्न अर्थ का ग्रहण किया जाना लक्षण लक्षणा है।'[4] उपादान लक्षणा में शब्द के मुख्यार्थ का त्याग नहीं होता, किन्तु इस लक्षणा में शब्द अपना मुख्यार्थ छोड़ देता है ; उदाहरणार्थ— है रिपोर्टों में कलेजा छप रहा, देश के आनन्द भवनों ने कहा'[5] यहाँ 'कलेजा' शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर दुःख पूर्ण गाथा का अर्थ दे रहा है, अतः इसमें लक्षण लक्षणा है।

इसी प्रकार नंददास की प्रौढ़ा प्रोषितपतिका का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"अंग-अंग महा गरल जिनि चढ़्यो ।"[6]

१— डा० गोविन्द त्रिगुणायत-'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' (प्रथम भाग) पृ १०२.

२— मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये ।
स्यादात्मनोऽप्युपादाना देपोपादानलक्षणा ॥ 'साहित्य-दर्पण' पृ० ५२ (२।६)

३— सं० जानकी नाथ सिंह 'मनोज'-शब्द-रसायन' पृ ५२.

४— अर्पणा स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये ।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षण लक्षणा ॥-"साहित्य-दर्पण' पृ० ५४ (२।७)

५— 'हिन्दी साहित्य-कोश पृ० ७३८' (द्वि० सं०).

६— सं० ब्रजरत्नदास-'नंददास-ग्रंथावली' पृ० १३१.

'गरल' का परिणाम मौत है, किन्तु 'महागरल' यहाँ इस मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ-अंग-अंग में काम-वेदना की व्याप्ति को, जो मौत से कम दुखद नहीं हैं, प्रकट कर रहा है, अतः यहाँ शुद्धा लक्षण लक्षणा है।

सारोपा शुद्धा लक्षणा[1]

सारोपा शुद्धा लक्षणा का उदाहरण हिन्दी-साहित्य-कोश में 'वे भाले आ रहे है,[2] दिया गया है। यहाँ भाले 'विषयी' तथा भाले वाले पुरुष 'विषय' है। दोनों का शब्द द्वारा कथन है। 'वे' सर्वनाम से पुरुषों का कथन है, अतः सारोपा शुद्धा लक्षणा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा[3]

इसके उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

"विद्युत की इस चकाचौंध में, देख दीप की लौ रोती है,
अरी हृदय को थाम महल के लिये झोपड़ी बलि होती है।"[4]

यहाँ धनिकों के लिये 'महल' और गरीबों के लिये 'झोपड़ी' का प्रयोग हुआ है; इसमें तदर्थ सम्बन्ध है अतः शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा है।

व्यंजना शक्तिः—

अभिधा शक्ति से शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है और लक्षणा शक्ति मुख्यार्थ के बाधित होने पर रूढ़ि के कारण अथवा किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ से सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ को लक्षित कराती है, किन्तु जब अभिधा और लक्षणा कवि के अभीष्ट को द्योतित कराने में असमर्थ हो जाती हैं तब व्यंजना शक्ति का ही सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार अभिधा तथा लक्षणा अपने अर्थ का बोध कराकर जब विरत हो जाती हैं तब जिस शब्द-शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है, उसे व्यंजना शक्ति अथवा व्यापार करते हैं।"[5] जैसे 'गंगायां घोषः' अर्थात् गंगा में घोष है, किन्तु गंगा में घोष (कुटिया) हो नहीं सकती, अतः मुख्यार्थ का बाध होने के कारण लक्षणा शक्ति से 'गंगा में' का लक्ष्यार्थ 'गंगा तट' ग्रहण किया जाता है। परन्तु इस वाक्य के कथन का प्रयोजन शीतत्व और पावनता की

१– परिभाषा के लिये सारोपा गौणी लक्षणा की परिभाषा प्रस्तुत पुस्तक के पृ० सं० ३४१ पर देखिये।

२– 'हिन्दी-साहित्य-कोश' (प्रथम भाग) पृ० ६१६, प्र० सं०

३– परिभाषा के लिये साध्यवसाना गौणी लक्षणा की परिभाषा प्रस्तुत पुस्तक के पृ० सं० ३४२ पर देखिये।

४– डा० गोविन्द त्रिगुणायत-'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' (प्रथम भाग) पृ० १०४.

५– 'हिन्दी-साहित्य-कोश'(प्रथम भाग) पृ० ८०५, द्वितीय संस्करण.

प्रतीति कराने में लक्ष्यार्थ भी असमर्थ है, इस प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना शक्ति द्वारा ही होती है।

अभिधा और लक्षणा शक्ति का सम्बन्ध केवल शब्द से ही होता है, किन्तु व्यंजना शक्ति केवल शब्द पर ही नहीं वरन् अर्थ पर भी आधारित रहती है। इसी से विद्वानों एवं आचार्यों ने व्यंजना के शाब्दी और आर्थी दो भेद माने हैं। जहाँ शब्द के द्वारा व्यंजना व्यापार होता है उसे शाब्दी व्यंजना कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं- (१) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना और (२) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना।

जहाँ अर्थ के द्वारा व्यंजना अपना व्यापार करती है वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। इसके भी आचार्यों ने मुख्य तीन भेद माने हैं– (१) वाच्यार्थ संभवा-व्याँजना, (२) लक्ष्यार्थ संभवा-व्यंजना और (३) व्यंग्यार्थ संभवा-व्यंजना। जब प्रतीत अर्थ के अतिरिक्त यथास्थान अथवा यथासम्भव जो एक अन्य अर्थ—वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देशकाल और अन्य विधि आदि के वैशिष्टय के कारण प्रतीत हुआ करता है, वहाँ जो व्यंजना होती है, वह अर्थ की ही व्यंजना हुआ करती है।

स्पष्ट है कि शब्द शक्तियों का सम्बन्ध अर्थ से है। शब्दगत अर्थ अपनी असाधारणतया और रमणीयता के कारण रसास्वाद में सहायक होते हैं। रस की आस्वादनीयता को बढ़ाने के लिये कविगण काव्य के आधारभूत अर्थों में उक्ति-वैचित्र्य अथवा वचन-भंगिमा लाने का प्रयास करते हैं। अर्थगत उक्ति-वैचित्र्य अथवा वचन भंगिमा लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के कारण आती है अतः साहित्य में इन शक्तियों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन तीनों शक्तियों में भी व्यंजना शक्ति की महत्ता अधिक है क्योंकि वह भाव-वाङ्मय के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध होती होती है। अभिधा और लक्षणा शब्द से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सम्बन्ध बनाये रखकर अपना कार्य करती हैं, परन्तु काव्य में कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी आ जाते हैं जबकि एक ऐसे अर्थ को प्रतीति होती है, जिसका शब्द से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। व्यंजना इसी प्रकार के ध्वनि रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है जो न तो वाच्यार्थ होता है और न लक्ष्यार्थ ही। व्यंजना के बिना कवि-कर्म की उत्कृष्टता तो क्या प्रतिष्ठा ही नहीं होती। व्यंग्यार्थ से रहित चित्रादि काव्य अधम काव्य माने जाते हैं।[1] व्यंग्य काव्य ही उत्तम काव्य माना जाता है।[2] काव्य में केवल शब्द को

१– 'शब्द चित्रं वाच्य चित्रमव्यंग्यंत्ववरं स्मृतम्।'
व्याख्या.डा० सत्यव्रत सिंह-'काव्य-प्रकाश' पृ० १६ (११५).

२– 'इदमुत्तम् मतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।' वही, पृ० १३, (११४)

प्रधान बनाकर भाव और रस के वर्णन का निषेध है ; वस्तुतः ऐसा हो भी नहीं सकता। कवि अपने काव्य में समुचित शब्दों और व्यापारों के द्वारा उपयुक्त संकेत देकर पाठक के भावक कल्पना-व्यापार को जाग्रत कर देता है और पाठक भी व्यंजना की डोरी पकड़ कर रस की गहराइयों में निमग्न हो जाता है। लक्षणा शक्ति काव्य में केवल अर्थगत चमत्कार उत्पन्न करती है, किन्तु व्यंजना रस-भाव प्रपंच का विस्तार करती है। काव्य में इसकी इतनी उपयोगिता के कारण ही आनन्द वर्द्धनाचार्य, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अनेक प्रकार के विद्वानों से शास्त्रार्थ करके व्यंजना शक्ति की प्रतिष्ठा की।

किन्तु काव्य में केवल व्यंजना का ही विशिष्ट स्थान हो और लक्षणा का कोई महत्त्व या उपयोग ही न हो, ऐसा नहीं है। शब्दार्थ सौन्दर्य को अर्धु-स्फुट और अर्ध-अस्फुट रूप में नियोजित करने में ही कवि कर्म की सफलता मानी जाती है। एक संस्कृत कवि ने इसी बात को शृंगारिक रूप में इस प्रकार कहा है-"काव्य में अर्थ उसी प्रकार अर्ध अस्फुट रूप में शोभायमान होता है, जिस प्रकार महाराष्ट्र की वधुओं के कुच अर्ध-आवृत्त और अर्ध-अनावृत्त होते हैं। अर्थ अर्ध स्फुट और अर्ध अस्फुट लक्षण में ही रहता है। यही कारण है कि साहित्य में लक्ष्यार्थ का इतना महत्त्व है।[१] भाषा में निरन्तर शब्दों के नव-प्रयोग के कारण परिवर्तन होता रहता है। इस नव-प्रयोग को लक्षणा शक्ति के द्वारा ही प्रोत्साहन मिलता है। कालान्तर में जब नव प्रयोग एक निश्चित अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं तो वह शब्द अभिधेय हो जाता है, अतः लक्षणा का व्यापार चिर नवीन है ; उदाहरण के लिए दशानन, लम्बोदर, गजानन आदि शब्दों को प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रारम्भ में ये शब्द भाषा में लक्षणा-व्यापार से प्रोत्साहित नव-प्रयोग रहे होंगे, किन्तु आज दशानन रावण के अर्थ में तथा लम्बोदर और गजानन गणेश जी के अर्थ में रूढ़ हो गये हैं। अतः स्पष्ट है कि लक्षणा शक्ति सर्वदा नव-प्रयोग करती है और कालान्तर में वही प्रयोग अभिधेय होकर अभिधा का शब्द-भण्डार भरते रहते हैं। वस्तुतः लक्षणा शक्ति सर्वदा शब्दों के नये अर्थ की खोज में रहती है। वह शब्द को नया अर्थ देकर बदले हुये परिवेशों को अधिक प्रभाविष्णु बनाती है। लक्षणा शक्ति द्वारा कथ्य सापेक्ष्य हो जाता है, संकेतित सौन्दर्य को नया आयाम मिल जाता है, अनुभूतियों का तीव्रावेग के साथ विस्तार होता है और विशिष्ट्य अर्थ-बोध की सारणि बनती है।

इसके अतिरिक्त जब काव्य की रमणीयता में अभिधा व्यापार से गतिरोध उत्पन्न हो जाता है तो उस गतिरोध का अतिक्रमण कर लक्षणा शक्ति ही काव्य की रमणीयता को सहृदयजनों को प्राप्त कराने में सहायक होती है ; उदाहरणार्थ डा०

१- डा० गोविन्द त्रिगुणायत-'जायसी का पदमावत काव्य और दर्शन' पृ० ४८६.

अरविन्द पाण्डेय[1] द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित पंक्ति का अवलोकन किया जा सकता है—

"बचकर हाय ! पतंग मरे क्या ?"[2]

इस पंक्ति में 'बचकर' (जीकर) और 'मरे' शब्दों के कथन में विरोधाभास का चमत्कार है। 'मरे' शब्द का मुख्यार्थ बाधित हो रहा है, अतः प्रसंगानुकूल सम्बन्धित लक्ष्यार्थ विरह-वेदना जन्य कष्ट भोगना प्राप्त होता है जो सहृदयजनों को संवेदित कर देता है। इससे भी आगे बढ़कर कवि का लक्ष्य क्षणिक मृत्यु-पीड़ा को सह्य तथा उत्सर्गसम्मत मानना और विरह-जन्य वेदना, घुटन और तड़पन को असह्य बताना प्रतीत होता है। यह अर्थ-गौरव अभिधा शक्ति से प्राप्त नहीं हो सकता; अतः ऐसे स्थलों में लक्षणा शक्ति ही काव्य की रमणीयता को प्रस्तुत करने में समर्थ होती है।

लक्षणा शक्ति इसलिये भी साहित्य के लिये अधिक उपादेय है कि इसके प्रयोग से काव्य में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो जाता है; और चमत्कार साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य को काव्य का सर्वस्व मानने के कारण ही वक्रोक्तिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को काव्य का साध्य माना है। पाश्चात्य साहित्याचार्यों ने भी काव्य-भाषा की लाक्षणिक भंगिमा को विशेष महत्त्व दिया है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में लाक्षणिक चपलता बहुत अधिक है। इसी विशेषता के कारण उन भाषाओं में अभिव्यक्ति के अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं। हिन्दी-साहित्य पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो हिन्दी-सूफ़ी कवियों तथा रीति काल के घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवियों की काव्य-भाषा में लक्षणा-शक्ति के विपुल प्रयोग उपलब्ध होते हैं। इस गुण के कारण ही उनकी कविता मुगल दरबार की 'नाज़ुक ख़याली' वाली उर्दू तथा फ़ारसी कविता से टक्कर ले सकी। रीतिबद्ध कवियों ने भी लक्षणा के शास्त्रीय प्रयोगों द्वारा अपना इष्ट साधन किया है। हिन्दी का आधुनिक छायावादी युग तो लक्षणा को अत्यन्त मुखर बनाकर ही आत्माभिव्यक्ति करता है। आधुनिक हिन्दी-गद्य का जो नवीन विकास हो रहा है उसमें भी धीरे-धीरे लाक्षणिक प्रयोग होने प्रारम्भ हो गये हैं। लक्षणा शक्ति अलंकारों की शोभा को भी बढ़ाती है। रूपक, अतिशयोक्ति, परिकरांकुर, अन्योक्ति, समासोक्ति आदि अलंकारों के मूल में लक्षणा शक्ति का ही ऐश्वर्य समाहित रहता है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि काव्य-क्षेत्र में व्यंजना शक्ति की भाँति लक्षणा शक्ति का भी अपना महत्त्व है। यह शब्दों को नये अर्थों के आयाम में प्रस्तुत कर

१— डॉ० अरविन्द पाण्डेय-'रीतिकालीन काव्य में लक्षणा का प्रयोग' पृ० ८४.

२— लेखक-मैथिलीशरण गुप्त-'साकेत-(नवम् सर्ग) पृ० २०४.

अभिधा के शब्द-भण्डार को बढ़ाती है। लक्षणा शक्ति के उपयोग से अतिशयोक्ति, रूपक, अन्योक्ति, समासोक्ति आदि अलंकारों की भी वृद्धि होती है ; नायिकाओं के रूप, गुण, भाव अवस्था आदि की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है ; हृदय की अमूर्त भावनाओं को मूर्तरूप मिलता है, भावों में संवेदनशीलता और तीव्रता आती है ; बिम्बों की गोचर सामर्थ्य बढ़ती है और काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार लक्षणा शक्ति से काव्य की महती श्रीवृद्धि होती है।

स्पष्ट है कि लक्षणा शक्ति में अर्थगाम्भीर्य की महत क्षमता रहती है और काव्य में अर्थ को गौरवान्वित करना प्रायः काव्यकार का प्रमुख धर्म होता है, अतः अर्थ-गौरव की प्राप्ति के लिये कवि को लक्षणा शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। लक्षणा के प्रयोगों का वैशिष्ट्य हमें आदि काल से ही उपलब्ध होने लगता है ; यथा –

"नयन्न बान बँकुरे स्रवन्न मुक्ति तारये।"[१]

इसमें 'नयन्न बान' तथा 'मुक्ति तारये' लाक्षणिक पद हैं : नयन तथा मोती उपमेय हैं और वाण एवं तारे उपमान हैं। इनका आधार सदृश्य है, अतः इसमें गौणी सारोपा लक्षणा है। लाक्षणिक प्रयोगों की यह परम्परा आगे चलकर विद्यापति तथा संत-कवियों आदि के काव्य में और भी अधिक विकसित हुई है। सन्त साधक थे। उनका उद्देश्य साहित्य-सृजन नहीं था। साहित्य की बीथियों से उनका परिचय भी न था। मूलतः उन्हें तो केवल अपनी साधना सम्बन्धी अनुभूतियों और विचारों को अभिव्यक्त करना था। फिर भी इन सन्तों की बानियों में चित्रात्मकता तथा उचित-वैचित्र्य है, किन्तु एक विशेष प्रकार के सन्दर्भ में। इनके लाक्षणिक प्रयोग आत्मविभोरावस्था में प्रिय के गुणगान तथा आत्मा-परमात्मा, माया, इन्द्रिय, संसार की असारता आदि को लेकर हुए हैं ; उदाहरणार्थ लक्षणा के सहारे आत्मा और परमात्मा की अद्वैत स्थिति का कबीर द्वारा किया गया निम्नलिखित चित्रण द्रष्टव्य है –

"कबिरा हरदी पीयरी चूना ऊजल भाइ।
राम सनेही यूँ मिले दून्यूँ बरन गवाँइ॥"[२]

यहाँ पर एक ओर तो कवि ने चूना और हरदी के मिलन पर जो उनका रूप परिवर्तन हो जाता है उसका वैज्ञानिक पर्यवेक्षण प्रकट किया है और दूसरी ओर हल्दी और चूने को लाक्षणिक प्रतीक मानकर तपस्वी साधक और सतोगुण ईश्वर के मिलन को व्यक्त किया है। पीली हल्दी 'दिव्यता' का प्रतीक है और उज्ज्वल चूना 'सात्विकता' का। उज्ज्वल सात्विक प्रेम-भाव का प्रतीक जीव जब स्वर्णिम प्रेम के

१– सं०-डा० माताप्रसाद गुप्त-'पृथ्वीराज-रासउ' पद सं० २४।१०, ११.
२– 'कबीर-ग्रंथावली', मधिको अंग, पृ० ५४, दोहा सं० ६.

प्रतीक प्रियतम परब्रह्म की ओर आकर्षित हो उठता है तो राम के नाम के जो दो 'रा' और 'म' वर्ण है—

एक छत्र एक मुकुट मनि
सब बरनन पर दोइ।
तुलसी रघुवर राम के,
बरन बिराजत दोय।[1]

उन दोनों वर्णों को गवाँकर वह अपने प्रेमी साधक से मिलता है और साधक प्रियतम उसमें इतना लीन हो जाता है कि वह चारो ओर उसी के दर्शन करने लगता है—

आमत अच्छर का लिखूँ,
जित देखूँ तित पीव॥

इस प्रकार साधक साध्य से मिलकर उसी प्रकार से द्विव्य-प्रेम में लीन हो जाता हैं। जिस प्रकार हल्दी और चूना मिलकर अरुण वर्ण में परिवर्तित हो जाते हैं।

लाक्षणिक प्रयोगों की यह परम्परा हिन्दी-सूफी-काव्य में जाकर और अधिक विकास को प्राप्त हुई है। सूफी 'प्रेम-पीर' के गायक थे। इनके काव्य में संतों की अपेक्षा अधिक वाणी वैदग्ध्य और चित्रात्मकता है। इन्होंने अन्योक्तियों और समासोक्तियों के माध्यम से जो अप्रस्तुत के लिये प्रस्तुत और प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत का विधान किया है, वह समस्त हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग का अनूठा है। ऐसे प्रसंग में वाणी का ऐश्वर्य एवं विस्तार लक्षणा शक्ति के द्वारा ही संपादित होता है। वस्तुतः हिन्दी-सूफी-प्रेमाख्यानों में सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं; यथा—

"रतन छुवा जिन्ह हाथन्ह सेती, और न छुवौं सो हाथ सँकेती'
ओहिके रंग भा हाथ मँजीठी लेउँ तौ घुँघुची दीठी॥"[2]

अर्थात् जिन हाथों से मैंने उस दिव्यरत्न (राजा) रत्नसेन का स्पर्श किया है अब उनसे और वस्तु क्या छूऊँ? उस दिव्य रत्न या माणिक्य के भाव से मेरे हाथ इतने लाल हैं कि मोती भी अपने हाथ में लेकर देखती हूँ तो वह गुंजा (हाथ की ललाई से गुंजा का-सा लाल रंग और देखने से पुतली की छाया पड़ने के कारण गुंजा का-सा काला दाग) हो जाता है अर्थात् उसका कुछ भी मूल्य नहीं दिखायी पड़ता।

यहाँ पर 'रतन' शब्द में श्लेष है (१) रत्न और (२) रत्नसेन। दूसरे चरण में काकु—वक्रोक्ति है। पद्मावती के हाथ तो स्वाभावतः लाल हैं। उनमें

१—'जायसी-ग्रंथावली', देवपाल-दूती-खड, पृ० २६९, कवित्त सं० ७.

लाली का आरोप नहीं है। अतः यहाँ पर रत्न स्पर्श रूप हेतु का आरोप होने के कारण हेतूत्प्रेक्षा है। इस प्रकार तीसरे चरण में तद्‌गुण और हेतूत्प्रेक्षा का संकर है। चौथे चरण में तद्‌गुण स्पष्ट है पर इससे हम व्यंग्यार्थ तक नहीं पहुँच पाते। अतः यहाँ पर लक्षणा से 'मुक्ता' का अर्थ है 'बहुमूल्य-वस्तु' और 'घुँघूची' का अर्थ है 'तुच्छ वस्तु' इस प्रकार लक्षणा से इसका व्यंग्यार्थ हुआ कि रत्नसेन के सामने मुझे संसार की उत्तम से उत्तम वस्तु तुच्छातितुच्छ दिखायी पड़ती है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्ति में सारोपा गौणी लक्षणा का प्रयोग द्रष्टव्य है—

"है पदिमनि मृगसावक नैनी, ज्ञानवन्त औ कोकिल बैनी।"[१]

'मृगसावक नैनी' तथा 'कोकिल बैनी' पदो में आरोप्य (उपमेय) और आरोप्यमाण (उपमान) दोनों वर्तमान हैं। इनका आधार सादृश्य है, इसीलिये इनमें गौणी सारोपा लक्षणा है।

"पान-बेलि विधि कया जमाई, सींचत रहै तबहि पलुहाई।"

यहाँ 'पलुहाई' पद लाक्षणिक है। 'पलुहाना' बेल-लताओं आदि का धर्म है, किन्तु यहाँ यह नारी के पक्ष में प्रयुक्त हुआ है, अतः शुद्धा लक्षण-लक्षणा है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्ति में साध्यवसाना गौणी लक्षणा का प्रयोग द्रष्टव्य है—

"राते कँवल करहि अलि भवाँ, घूमहि माँति चहहि अपसवाँ।"[३]

इसमें 'राते कँवल अलि' उपमान क्रमशः 'लाल नेत्रों और काली पुतलियों' के प्रतीक हैं। इसमें उपमेय को त्याग कर उपमान से ही नेत्रों और पुतलियों के सौन्दर्य की ओर संकेत किया गया है, आधार सादृश्य है अतः साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

हिन्दी-सूफ़ी-काव्य में लक्षणा के प्रयोग के सन्दर्भ में एक यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि इन प्रेमाख्यनों में अधिकांशतः ऐसे उपमान रखे गये हैं, जिनमें उपमान के गुण तो पूरे नही है, किन्तु उनमें प्रतीकत्व अवश्य है। ऐसे उपमानों के विधान में प्रायः लाक्षणिक चमत्कार दिखाने के लिये धर्म के स्थान पर धर्मी का उल्लेख कर दिया गया है। इस प्रकार के प्रयोग शुद्ध प्रतीक नहीं, बल्कि लाक्षणिक प्रतीक

१–'इन्द्रावती' पृ० ४५,.

२–'जायसी-ग्रंथावली'-पृ० २७०, कवित्त सं०८.

३–टीकाकार–श्री वासुदेव शरण अग्रवाल-'पदमावत' (नख-शिख-खण्ड) पृ० ११६, कवित्त सं० १०३

हैं। वस्तुतः सूफ़ी-काव्य में इन लक्षणामूलक प्रतीकों की नियोजना ही विशेष रूप से हुई है।

हिन्दी के सूफ़ी- प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त हुए इन लक्षणा-मूलक प्रतीकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैं–

(१) रूढ़ लक्षणा सम्बन्धी प्रतीक-योजना और

(२) प्रयोजनवती लक्षणा सम्बन्धी प्रतीक-योजना

११·१ रूढ़ लक्षणा सम्बन्धी प्रतीक योजना

रूढ़ लक्षणा सम्बधी प्रतीक वे प्रतीक हैं जिनका कोई अर्थविशेष उस प्रकार की प्रयोग-परम्परा के कारण रूढ़ हो गया है। यथा–कौरव पांडव का युद्ध एक विश्व विख्यात युद्ध है जिसका वर्णन महाभारत में किया गया है। यह अति भयंकर एवं महानाशकारी युद्ध था, जिसमें भाई भाई से मारा गया, गुरु शिष्य से पिता पुत्र से। लक्षणा द्वारा यह युद्ध महाभारत का ही प्रतीक बन गया है। हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी अपने काव्य में इस प्रतीक का प्रचुरता से प्रयोग किया है–

"कहिसि निकारहु हथकरी खरग गहौं अब हाथ।
पल माँझे भारथ रचौं जो कौरौ दल साथ॥"[१]
"बोनई घटा धूर सों, दिन मनि रहा छिपाय।
तहाँ महाभारथ भा, गवद परेउ हू हाय॥"[2]
"आजु करहि रन भारत, सत बाचा देइ राखि।"[३]

इनमें 'महाभारत' पद लाक्षणिक है। पहले यह युद्ध का प्रतीक बनाकर प्रयुक्त किया गया था, जिससे कवि का आशय युद्ध की भयंकता की ओर संकेत करना था किन्तु अब यह प्रयोग अति प्रसिद्ध हो रूढ़ हो गया है और साधारण लड़ाई झगड़े के लिये भी इसका प्रयोग होने लगा है।

इसी प्रकार के रूढ़ लक्षणामूलक प्रतीकों के अन्य प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं–

"मारे बिरह बयारि के कौंल रही कुम्हिलाई।"[४]

'कुम्हिलाई' पद लाक्षणिक है। कुम्हिलाई का शब्दार्थ मुरझाना है जो पुष्प का धर्म है। किन्तु यहाँ कवि उसमान ने कौंलावती के लिये 'कुम्हिलाई' प्रतीक का प्रयोग किया है। पहले इस प्रतीक के प्रयोग में कवि का आशय पुष्प की सुकुमारता

१–'चित्रवली' (सोहिल-खण्ड) पृ० १४७, कवित्त सं० ३८५.
२–'इन्द्रावती' पृ० ९८.
३–'जायसी-ग्रन्थावली' (गन्धर्व-सेन-मंत्री-खण्ड) पृ० १०४.
४–'चित्रावली' सिद्ध 'समागम-खण्ड पृ० १८०, कवित्त सं० ४७४.

को नायिका पर आरोपित करना था, किन्तु अब यह प्रयोग अति प्रसिद्ध हो रूढ़ हो गया है और प्रायः सभी कवियों ने नायिका के पक्ष में इसका प्रयोग किया है। कवि नूर मुहम्मद के काव्य में भी इसका सुन्दर प्रयोग हुआ है-

"देह दुर्म पलुहावहु, न तो जाहि कुम्हिलाइ।"[१]

यहाँ 'कुम्हिलाई' नायिका पक्ष में प्रयुक्त हुआ है अतः रूढ़ लक्षणामूलक प्रतीक है। कवि मुल्ला दाऊद ने इसका प्रयोग नायक पक्ष में भी किया है; यथा—

"भोर बार जस भुलवा घरी-घरी बिहँसात।
अब न खाइ अन पानी, दिनहि जाइ कुँबिलात।।"[२]
"विरह झार आछत कुंबिलाना, रहसा कुँवरु भाँति विगसाना।"[३]

अर्थात् लोरक जो विरह ज्वाला से कुम्हिलाया हुआ था, वह चाँदा का दर्शन कर अब हर्षित होकर कमल की भाँति विकसित हो गया। 'कुम्हिलाना' की भाँति 'मुरझाना' भी इसी अर्थ में रूढ़ हो गया है। 'इन्द्रावती' में जब मानिक का राक्षस द्वारा अपहरण हो जाता है तो मानिक की मंगेतर हीरा की सखियाँ अति दुखित हो जाती हैं। उनके इस दुख का स्पष्टीयकरण कवि ने इसी रूढ़ लाक्षणिक प्रतीक के माध्यम से किया है-

"सुनि यह बात सखी पछतानीं, सब परसून समा मुरझानीं।"[४]

रूढ़ लक्षणामूलक प्रतीकों के क्षेत्र में ही लोकोक्ति या मुहावरें और कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध शब्द भी आते हैं। लोकोक्तियाँ अपने साथ एक पूरी कथा लिये होती है अर्थात् एक कथा काल-प्रवाह में घिसते—घिसते अपने सूक्ष्म रूप में हमारे समक्ष रह जाती है किन्तु यें कथाएँ जन-साधारण के मस्तिष्क की विचारसरणि में इस प्रकार घुल-मिल जाती हैं कि उनका लक्ष्यार्थ ही आज हमारे समक्ष उपस्थित होता है, उदाहरणार्थ यदि कहा जाय कि 'आजकल तो ईद का चाँद हो रहे हो,' या 'गुड़हर का फूल होकर आ गये हो' तो इनके सुनते ही किसी के काफी समय पश्चात् दिखायी पड़ने या लड़ाई झगड़ा होने का अर्थ ही सामने आता है। इसी प्रकार 'पंचाली का चीर' या 'बलि वावन की व्यौंतु' कहते ही अन्तहीन वस्तु या छल-कपट की बात ही सामने आती है। प्राचीन लाक्षणिक कहानियों का जो रूप आज सुरक्षित है उन्हें देखकर यही प्रतीत होता है कि ये लोकोक्तियाँ भी कभी इसी कोटि की थीं। कवियों

१—'इन्द्रावती', फाग-खण्ड-पृ० ३६, कवित्त सं० १९.
२—'चंदायान' पृ० १५२.
३—वही, पृ० १८१.
४—'इन्द्रावती'-मानिक-खण्ड-पृ० १२६, कवित्त सं० ४५.

ने एक दिन 'प्रयोजन' से ओतःप्रोत हो उन कथाओं की अर्गला खटखटायी होगी आज वे ही अपने लक्ष्यार्थ में रूढ़ हो गयी हैं। हिन्दी-सूफी-प्रेमाख्यानों में भी इस प्रकार की लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है; जैसे–

"जाके गोड़ न गई बेवाई, सो का जानै पीर पराई।"[1]

यह इस बात का प्रतीक है कि जिसने स्वयं कभी दुःख नहीं पाया है वह दूसरे के दुःख को नहीं समझ सकता। कवि-प्रयोग- प्रसिद्धि से आज यह इसी अर्थ में रूढ़ हो गया है।

रहे न एकौ अन्त कहँ, नारंग दाड़िम दाख।
दिवस चार की चाँदनी फिर अँधियारा पाख॥"[2]

इसकी अन्तिम पंक्ति लोकोक्ति रूप में प्रचलित है, जिसका लक्षणिक प्रतीकात्मक अर्थ है कि मानव को सुख और आनन्द कुछ समय के लिये मिलता है। अब यह अपने इसी अर्थ में रूढ़ हो गया है।

"आँसू नदी बहावा सब लोग।"[3]

'आँसू नदी बहावा' यह एक रूढ़ कहावत है जो अत्यधिक दुखित होने का प्रतीक है।

"पट बाहर जेइ पाँव पसारा, जाड़ा कठिन अंत तेहि मारा।"[4]

'पट बाहर जेइ पाँव पसारा' एक लोकोक्ति है, जिसका लक्ष्यार्थ है-अपनी सामर्थ्य से अधिक पाने की इच्छा करना। कवि प्रयोग-परम्परा में प्रसिद्ध हो जाने के कारण आज यह अपने लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ हो गया है।

"बातहि हाथी पाइयें, बातहि हाथी पाँव।"[5]

इस लोकोक्ति का लाक्षणिक प्रतीकात्मक अर्थ है कि वाणी के माध्यम से ही मानव को सुख और दुःख की उपलब्धि होती है।

"का भा जोग कहानी कथे, निकसे न घिउ बाजु दधि मथे।"[6]

'बिना दधि मथे घी नहीं निकलता' यह लोकोक्ति रूप में प्रसिद्ध है। इसका

१–'इन्द्रावती'-दर्शन-खण्ड-पृ० ७६, कवित्त सं० २
२–वही, फाग-खण्ड, पृ० ३८ कवित्त सं० १४.
३–'अनुराग-बाँसुरी', पृ० १३६
४–'इन्द्रावती' मालिन–खण्ड पृ० ४३, कवित्त सं० ५.
५–वही,-दर्शन खण्ड-पृ० ८२, कवित्त सं० १५.
६–टीकाकार-श्री-वासुदेवशरण अग्रवाल, 'पदमावत' प्रेम-खण्ड पृ० १३६, कवित्त सं० १२३

लक्षणामूलक प्रतीकात्मक अर्थ है कि कठोर परिश्रम किये बिना अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

"तुरय-रोग-हरि माथे जाए।"

'घोड़े का रोग (दोष) बन्दर के सिर' यह एक लोकोक्ति है जिसका लक्ष्यार्थ है--दोषी कोई और दण्ड मिले किसी को।

"जो दीपक घर नाही, जानउ जग अँधियार।"[1]

इस लोकोक्ति का लक्ष्यार्थ है कि जिसके पुत्र नहीं है उसके लिये संसार व्यर्थ है।

लोकोक्तियों की भाँति मुहावरे भी अपने चमत्कारयुक्त लाक्षणिक स्वरूप में ही रूढ़ होते जा रहे हैं। हिन्दी-सूफी-काव्य में इन रूढ़ मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग उपलब्ध होता है; उदाहरणार्थ कुछ मुहावरों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं--

"गउव सिंघ रेंगहि एक बाटा, दूअउ पानि पिअहि एक घाटा।
नीर खीर छानइ दरबारा, दूध पानि सो करइ निनारा॥"[2]

इन पंक्तियों में बादशाह शेरशाह की प्रशंसा और उसके शासन का गुणगान करते हुये जायसी ने मुहावरों की झड़ी ही लगा दी है-'गाय और सिंह का एक घाट पर पानी पीना,' 'नीर-क्षीर विवेक', 'दूध का दूध और पानी का पानी'। इनमें से 'गाय और सिंह का एक घाट पर पानी पीना' मुहावरें का प्रतीकयुक्त लाक्षणिक अर्थ है कि बली निर्बल को सताते नहीं। इसी प्रकार 'नीर-क्षीर विवेक' और 'दूध का दूध, पानी का पानी,' ये दोनों मुहावरें आदर्श न्याय के प्रतीक हैं।

"जोबन नीर घटे का घटा, सत्त के बर जो नहिं हिय फटा।"[3]

'हृदय फटना' यह एक मुहावरा है, इसका लक्ष्यार्थ है प्रीति का समाप्त होना। अब यह अपने इसी प्रतीकयुक्त अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस मुहावरे से संवलित जायसी की यह पंक्ति अत्यधिक मर्मस्पर्शिनी हो गयी है। कवि का प्रतिपाद्य है कि जैसे सरोवर का जल घटने पर उसका हृदय फट जाता है वैसे ही यदि यौवन-क्षय से प्रिय का हृदय फट गया-उसकी प्रीति टूट गयी, तो क्या लाभ? यदि प्रिय का हृदय न फटे-उसकी प्रीति पूर्ववत् बनी रहे तो सुन्दर है।

"को अस हाथ सिंघ मुख घालै।"[4]

१- 'चित्ररेखा', पृ० ८६.

२- टीकाकार-श्री वासुदेवशरण अग्रवाल-'पदमावत'-स्तुति-खण्ड, पृ० १६. कवित्त सं० १५.

३- 'जायसी-ग्रन्थावली'-देवपाल-दूती-खण्ड, पृ० २७१, कवित्त सं० ११.

४- वही,

'सिंघ के मुख में कौन हाथ डाले', यह मुहावरा है जिसका लक्षणायुक्त प्रतीकात्मक अर्थ है—जानबूझकर संकट में कौन पड़े। अब यह कवि-प्रयोग-प्रसिद्धि के कारण इसी अर्थ में रूढ़ हो गया है।

'चित्रावली' में कुटीचर द्वारा यह कहने पर कि चित्रावली ने मिलन-हेतु तुम्हें बुलाने के लिये 'मुझे भेजा है, कुँवर सुजान की जो दशा हो जाती है, उसका वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

"जोगी अंग समाइ न फूला, बैन कुटीचर की सुनि भूला।"[१]

'फूला न समाना' यह एक मुहावरा है जिसका लाक्षणिक प्रतीकात्मक अर्थ है—अत्यन्त प्रसन्न होना। इसी लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त होने के कारण इसकी गणना रूढ़ लक्षणामूलक प्रतीक के अन्तर्गत होने लगी है।

'इन्द्रावती' में चेता मालिनि इन्द्रावती से राजकुँवर के रूप व गुण की प्रशंसा करते हुए कहती है कि 'ए रानी का बरनउँ ताही, घूर लपेटा मानिक आही'[२] 'धूल में छिपी मणि मोती' रूप में यह मुहावरा प्रसिद्ध है जिसका लक्ष्यार्थ है कि इस व्यक्ति के गुण प्रच्छन्न हैं।

"हिया सिरान जरत जो रहा।"[३]

'हिया सिरान' 'हृदय ठण्डा होना' मुहावरे के रूप में प्रचलित है जिसका लक्ष्यार्थ है आनन्द मिलना।

इस लक्षणामूलक रूढ़ प्रतीक का प्रयोग चित्रावली की निम्नलिखित पंक्ति में भी द्रष्टव्य है—

"अंकम गहौं जो हिया सिराई, अमिरित बैन सुनौं अब जाई।"[४]

"दिया बुझाइ होइ अँधियारा, को अब लेसि करइ उजियारा।"[५]

'दीपक बुझना' मुहावरा है जिसका लक्षणा से प्रतीकात्मक अर्थ है—पुत्र की मृत्यु होना। इसी लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त होने के कारण अब यह रूढ़ लक्षणा के अन्तर्गत माना जाने लगा है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि वे शब्द, मुहावरें, कहावतें और लोकोक्तियाँ जो प्रारम्भ में काव्य-रचनाकार द्वारा किसी प्रयोजन से प्रयुक्त किये गये थे, वह प्रयोजन अब उनका साथ छोड़ चुका है और अब वे अपने चमत्कारयुक्त लाक्षणिक प्रतीक-

---

१– 'चित्रावली', कुटीचर-खण्ड, पृ० १११, कवित्त सं० २६०.

२– 'इन्द्रावती', मालिन-खंड, पृ० ४८, कवित्त सं० २१.

३– 'चन्दायन', पृ० ३२८.

४– 'चित्रावली' कुटीचर-खण्ड, पृ० १११, कवित्त सं० २६०

५– 'चित्ररेखा', प० ६४.

रूप में ही रूढ़ होते जा रहे हैं और धीरे-धीरे अभिधा-शक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करते जा रहे हैं। इस प्रकार भाषा के क्षेत्र में लक्षणा-शक्ति सदैव नये अर्थों की खोज करती रहती है और भाषा की परिवर्तनशील प्रकृति के कारण ऐसे लाक्षणिक प्रतीक-युक्त शब्द कालान्तर में प्रयोजन त्यागकर रूढ़ तथा अभिधेय होते रहते हैं।

११.२ प्रयोजनवती लक्षणा सम्बन्धी प्रतीक-योजना

प्रयोजनवती लक्षणामूलक प्रतीकों के अन्तर्गत हिन्दी-सूफी-काव्यों में साध्यवसाना गौणी लक्षणा, उपादान शुद्धा लक्षणा और शुद्धा लक्षण-लक्षणा के प्रयोग प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः इन हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपने काव्य में प्रतीकों का अधिक आश्रय लिया है, जिससे रूपक एवं रूपकातिशयोक्ति की छटा अपने आप उनकी शैली को गौरवान्वित करती है। रूपक और रूपकातिशयोक्ति के मूल में लक्षणा का ही ऐश्वर्य समाहित रहता है, अतः इन प्रेमाख्यानों में साध्यवसाना गौणी लक्षणा सम्बन्धी प्रतीकों का आगमन मानो स्वतः ही हो गया है। इनके प्रयोग से बिम्ब की संप्रेषणीयता में वृद्धि हुई है तथा वे अधिक संवेदनीय हो गये हैं; यथा—

"खरग धनुक औ चक्रबान दुइ, जग-मारन तिन्ह नाऊँ।
सुनि कै परा मूरुछि कै राजा, मो कहँ भए एक ठाऊँ॥"[१]

'खरग' 'धनुक' चक्रवान दुइ लाक्षणिक पद हैं। ये क्रमशः उपमानगत प्रतीक हैं— नासिका', भ्रू, पुतली और कटाक्ष के। चूँकि उपमेयों की प्रतीति कवि ने उपमानों के माध्यम से करायी है, अतः इन पदों में साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

"अमिअ अधर अस राजा सब जग आस करेइ।
केहि कहँ कँवल बिगासा को मधुकर रस लेइ॥"[२]

'कँवल' तथा 'मधुकर' लाक्षणिक पद हैं। कँवल और मधुकर 'उपमानगत प्रतीक हैं--पद्मावती और रत्नसेन के। यहाँ कवि ने इन उपमानों द्वारा ही उपमेयों का बोध कराया है। इनका आधार सादृश्य है अतः यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

"भँवर पुहुप अस रहै न राखा, तजै दाख महुआ रस चाखा।
तजि नागेसरि फूल सोहावा, कँवल बिसैंधे सौं मन लावा॥"[३]

यहाँ पर 'दाख' 'महुआ' 'नागेसरि फूल' और 'कँवल' लाक्षणिक प्रतीक हैं। दाख और नागेसरि फूल नागमती के प्रतीक हैं तथा महुआ और कँवल पद्मावती के।

१— 'पदमावत' नख-शिख-खण्ड, पृ० ११४, कवित्त सं० १०१.
२— वही, पृ० १२०, कवित्त सं० १०६.
३— वही, चित्तौर-आगमन-खण्ड, पृ० ५२८, कवित्त सं० ४२९.

इस प्रकार उपमानगत प्रतीकों द्वारा उपमेयों का बोध होने के कारण यहाँ पर साध्यवसाना गौणी लक्षणा प्रतीक है।

"जौ लगि कालिन्दी होहि बेरासी, पुनि सुरसरि होइ समुँद परासी।"[1]

यहाँ 'कालिन्दी' और 'सुरसरि' पद लाक्षणिक हैं. 'कालिन्दी' 'काले केशों' का और 'सुरसरि' 'श्वेत केशों' का प्रतीक है। पद्मावती से देवपाल की दूती कहती है कि जब तक तू काले केशों वाली अर्थात् युवती है तब तक भोग-विलास कर ले, फिर जब श्वेत केशों वाली अर्थात् वृद्धा हो जायेगी तब तो काल के मुँह में पड़ने के लिये जल्दी-जल्दी बढ़ने लगेगी। यमुना की काली धारा सीधे समुद्र में नहीं गिरती है। जब वह श्वेत धारावाली गंगा के साथ मिलकर श्वेत गंगा ही हो जाती है तब समुद्र की ओर जाती है, वहाँ जाकर उसका अलग व्यक्तित्व नहीं रह जाता। इस प्रकार यहाँ कवि ने साध्यवसाना गौणी लक्षणामूलक प्रतीकों का प्रयोग कर प्रस्तुत पंक्ति में अर्थ-गाम्भीर्य ला दिया है।

जायसी की भाँति ही हिन्दी के अन्य सूफी-कवियों के काव्य में भी साध्यवसाना गौणी लक्षणा सम्बन्धी प्रतीकों की सुन्दर योजना हुई है; उदाहरणस्वरूप कतिपय चित्र प्रस्तुत हैं—

"तारहिं मांझ चाँद जो आहीं, तै एक बात आपु सों कहीं।"[2]

'तारहिं' और 'चाँद' लाक्षणिक प्रतीक हैं। 'तारहिं' और 'चाँद' उपमान क्रमशः सखियों और मिरगावती के प्रतीक हैं। इस प्रकार इन उपमानगत् प्रतीकों के माध्यम से उपमेयों का बोध कराया गया है।

"चाँद कहा अब सूरज आवउ, एकहि रासि बैठि नित धावउ।
सूरज न आवइ चाँद कै रासी, चाँद गवन तो सूरज पासी॥"[3]

'चाँद' और सूरज' लाक्षणिक प्रतीक हैं। चाँद राजकुमारी रूपमणि का और सूरज राजकुँवर का प्रतीक है।

"बिरिख ऊँचु फरु लाग अकासा, हाथ चढ़इ कइ नाँही आसा।
कहु जोगित को बाह पसारइ तरुवर डारि धाइ को पारइ।
उरग डारि फरु देखेउ रूखा, कँवल फूल मोर हिरदा सूखा॥"[4]

अर्थात् एक वृक्ष इतना ऊँचा है कि उसका फल आकाश में लगा हुआ है और वह फल हाथ लगेगा इसकी आशा नहीं है। बताओ, किसमें ऐसी योग्यता है जो

१– 'जायसी-ग्रन्थावली', देवपाल-दूती-खण्ड, पृ० २७१.

२– 'मिरगावती', पृ० १४१, कवित्त सं० ४८.

३– वही, पृ० १६३, कवित्त सं० १३४.

४– 'चन्दायन' पृ० ५५.

उस फल को तोड़ने के लिए बाहें पसारे, उस तरुवर की डालों को कौन पकड़े ? (पुनः) मैंने उस वृक्ष की डालों और फलों पर सर्प देखे तो कमल पुष्प (जैसा) मेरा हृदय सूख गया।

इसमें 'ऊँचा वृक्ष', 'फल', 'डाल' और 'उरग' पदों में साध्यवसाना गौणी लक्षणामूलक प्रतीक है। ऊँचावृक्ष' 'चाँद' का, फल 'उरोजों' के 'डालें' बाहों की तथा उरग लटों के प्रतीक हैं। इस प्रकार यहाँ कवि ने उपमान द्वारा ही उपमेय को व्यंजित किया है।

"मोर खिलवना अपुरुब अहा, देषत कीरू मंजारी गहा।"[1]

इसमें खिलवना और कीरू उपमान लोरक के प्रतीक हैं और 'मंजारी' चाँद का प्रतीक है। इन लाक्षणिक प्रतीकों के माध्यम से ही कवि इस पंक्ति में अर्थ-गांभीर्य की संयोजना करने में सफल हो सका है। मैना (लोरक की प्रथम पत्नी) कहती है कि मेरा वह खिलौना-क्रीड़ा पक्षी (लोरक) अपूर्व था, मेरे उस (क्रीड़ा) शुक को देखते-देखते मार्जारी (चाँदा) ने ले (छीन) लिया।

"का बरनौं ओहि खंजन जोरा, हरेसि जीउ देखत खिन कोरा।"[2]

यहाँ 'खंजन जोरा' पद लाक्षणिक है। उपमान खंजन जोरा उपमेय मधुमालती के नेत्रों के प्रतीक हैं।

"कौंलकली काहू न विगासा, भौंर बिमोहि रूप भौं बासा।"[3]

इसमें 'कँवलकरी (कली) और भँवर' पद लाक्षणिक हैं। 'कँवलकली' मधुमालती का प्रतीक है और भँवर राजकुमार मनोहर का। इस प्रकार उपमान के माध्यम से उपमेय की व्यंजना होने के कारण यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा प्रतीक है।

"आगे मालत कहँ सुध भयेऊ, मधुकर फुलवारी तजि गयेऊ।"[4]

'मालत' और 'मधुकर' लाक्षणिक पद हैं। उपमान मालत उपमेय इन्द्रावती का प्रतीक है और उपमान मधुकर उपमेय राजकुँवर का। इनका आधार सम्बन्ध सादृश्य है, इसलिये गौणी साध्यवसाना लक्षणा प्रतीक का सौन्दर्य दर्शनीय है।

"संग चले आगमपुर लोगू, कहँ सुरुज है चन्द सँजोगू।"[5]

यहाँ पर 'सुरुज' और 'चन्द' उपमान क्रमशः राजकुँवर और इन्द्रावती उपमेयों

१– 'चन्दायन', पृ० ३५६.

२– 'मधुमालती', पेमा का दुःख-खण्ड, पृ० ७०.

३– वही, कुँवर-मधुमालती-मिलन-खण्ड, पृ० १०३.

४– 'इन्द्रावती', सुवा-खण्ड, पृ० ८६, कवित्त सं० ७.

५– वही, मोती-खण्ड, पृ० १५८, कवित्त सं० १.

के प्रतीक हैं, अतः साध्यवसाना गौणी लक्षणा प्रतीक का वैभव प्रतिपादित है।

"पदुम कोम अलि लीन्ह बसेरा, हिए सोच भा मालति केरा।"[१]

'पदुम कोश' 'अलि' 'मालति' लाक्षणिक प्रतीक हैं। पदुमकोस 'चित्रावली' का, अलि 'कुँवर सुजान' का और मालति 'कौंलावती' का प्रतीक है। इस प्रकार उपमानगत प्रतीकों के द्वारा उपमेयों का बोध होने के कारण यहाँ पर साध्यवसाना गौणी लक्षणा प्रतीक है।

"तहाँ ठाढ़ शशि कमल शरीरा, लहरें लेय लाग जल तीरा।"[२]

'शशि कमल' पद में गौणी लक्षणामूलक प्रतीक है, यह 'जवाहिर' का प्रतीक है।

११·३ शुद्धा लक्षण-लक्षणा सम्बन्धी प्रतीक

जब कोई शब्द अपना मुख्यार्थ छोड़कर किसी अन्य अर्थ को ध्वनित करता है तो वहाँ पर शुद्धा लक्षण-लक्षणा सम्बन्धी प्रतीक का सौन्दर्य निहित रहता है। हिन्दी के सूफी-प्रेमाख्यानों में इस लाक्षणिक प्रतीक का वैभव सर्वत्र प्रतिपादित है। यहाँ पर उदाहरणस्वरूप कतिपय पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

"अस फँदवारे केस वै, राजा परा सीस गिँय फाँद।"[३]

इसमें 'फँदवारे केस' पद लाक्षणिक है। 'केस' कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं कि उसके फन्दे से राजा के सिर और गले को बाँध लिया जाय, वरन् यह केशों के वर्णन से राजा रत्नसेन के पद्मावती की ओर आकर्षित होने का प्रतीक है। वस्तुतः इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि उनके केश इतने आकर्षक थे कि उनका वर्णन सुनकर ही राजा उसके वशीभूत हो गया।

"कैसेहुँ कंत फिरै नहि फेरे, आगि परी चित्त उर धनि केरे।"[४]

'आगि परी' पद में लाक्षणिक प्रतीक है, क्योंकि हृदय की आशाएँ, उमंगे एवं वक्षस्थल कोई ऐसी वस्तुएँ तो है नहीं कि उन पर आग पड़ जाय और वे झुलस जाएँ। वस्तुतः इसका लक्ष्यार्थ यह हैं कि जब बादल किसी भाँति भी युद्ध में जाने से विमुख नहीं हुआ तो इससे बाला (उसकी पत्नी) के हृदय की समस्त आशाएँ एवं उमंगे नष्ट हो गयीं।

---

१. 'चित्रावली' कौंलावती-गमन-खण्ड, पृ० २२८, कवित्त सं० ५६७.

२- 'हँस जवाहिर' उद्धृत—'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य', पृ० ४४५

३- 'पदमावत'—नख-शिख-खंड, पृ० ११२, कवित्त सं० ६९.

४- वही, (गोरा-बादल युद्ध-यात्रा-खंड) पृ० ८२७, कवित्त सं० ६२०.

"कँवलहि विरह-विथा जस बाढ़ी, केसर बरन पीर हिय गाढ़ी ।"[1]

इस पंक्ति का अर्थ अन्वय-भेद से तीन प्रकार का हो सकता है (१) कमल केसर-वर्ण (पीला) हो रहा है, हृदय में गाढ़ी पीर है। (२) गाढ़ी पीर से हृदय केसर-वर्ण हो रहा है। (३) हृदय में केसर-वर्ण गाढ़ी पीर है। इनमें से पहला अर्थ लेना तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि कवि की उक्ति का आधार कमल के केवल हृदय का पीला होना है, सम्पूर्ण कमल का पीला होना नहीं। द्वितीय अर्थ अवश्य सीधा और ठीक प्रतीत होता है, पर इसका अन्वय खींचतान कर इस प्रकार करना पड़ता है–'गाढ़ी पीर हिय केसर बरन'। यदि तृतीय अर्थ लेते हैं तो पीर का एक असाधारण विशेषण केसर-बरन रखना पड़ता है। इस दशा में केसर-बरन का लक्षणा से अर्थ करना होगा--'केसर-वर्ण' करने वाली 'पीला करने वाली' और पीड़ा का अतिशय लक्षणा का प्रयोजन होगा। इस प्रकार इस पंक्ति का अर्थ होगा--हृदय की पीड़ा के आधिक्य के कारण उसका समस्त शरीर पीला हो गया है। चूँकि पद से अर्थ लगता है 'हृदय का पीला होना' किन्तु हृदय पीला हो नहीं सकता, अतः हृदय के स्थान पर उसका शरीर आरोपित करना पड़ता है अतः इसमें शुद्धा लक्षण-लक्षणा प्रतीक की शक्ति निहित है। वस्तुतः इसी शक्ति के कारण इस पंक्ति में इतना अधिक अर्थ-गाम्भीर्य समहित हो सका है।

"दहि कोइला भइ कंत सनेहा, तोला माँस रही नहिं देहा।"[2]

'तोला माँस' पद लाक्षणिक है। जैसे यह कहा जाता है कि 'गाँधी जी डेढ़ पसली के आदमी थे'[3] किन्तु आदमी डेढ पसली का तो हो नहीं सकता; गाँधी जी के भी और मनुष्यों की भाँति २४ पसलियाँ होंगी, किन्तु डेढ़ पसली कहने से उनके शरीर को क्षीणता और हल्केपन का भान होता है। अतः जैसे यहाँ पर 'डेढ़ पसली' पद गाँधी जी की दुर्बलता का प्रतीक है; वैसे ही उपरोक्त पंक्ति में 'तोला माँस' पद नागमती की क्षीणता एवं दुर्बलता का प्रतीक है। प्रियतम के विरह में जलते रहने के कारण उसके शरीर में एक तोला भी मांस नहीं रह गया था---यह इस लक्ष्यार्थ को प्रकट करता है कि वह प्रियतम के विरह में अति क्षीणकाय हो रही थी। इस प्रकार 'तोला मांस' कथन से शुद्धा लक्षण-लक्षणा प्रतीक द्वारा नागमती के शरीर की दुर्वलता को व्यंजित करना प्रयोजनीय है।

इस लाक्षणिक प्रतीक का प्रयोग राजकुँवर मनोहर की दुर्वलता को व्यंजित करने के लिये भी हुआ है—

१- 'जायसी-ग्रन्थावली', गंधर्वसेन-मैत्री-खंड पृ० १०७, कवित्त सं० १४.

२- वही, (नागमती-वियोग-खंड) पृ० १५७, कवित्त सं० १७.

३- बाबू गुलाबरॉय–'सिद्धान्त और अध्ययन' पृ० २४३.

"मांसु न रहा कया सन्नि रती, लागी जाइ हाड़ दुःख काँती।"[1]

"मासा मन्नु न तन रहा, रती रकत न देह।"[2]

"विरह आग ते जारे मांसू, झरना भये नैन के आँसू।
कन्त विछोह औंटगा मांसू, हियरा फाट रकत भा आँसू।"[3]

यहाँ 'औंटगा मांसू' और 'हियरा फाट रकत भा आँसू' पद लाक्षणिक हैं। ये जवाहिर की क्षीणता एवं दुर्बलता के प्रतीक हैं।

"जोवन भर भादों जस गंगा, लहरैं दे समाइ न अंगा।"[4]

'लहरैं दे' पद में लाक्षणिक प्रतीक है। लहरें समुद्र और नदियों में उठती हैं, शरीर में नहीं। वस्तुतः यह यहाँ सौन्दर्य की तरलता एवं लावण्य के छलक-छलक पड़ने का प्रतीक है। इस प्रकार इसमें शुद्धा लक्षण-लक्षणा प्रतीक का सौन्दर्य निहित है।

"कहा कुँवर हो सिद्ध सरीरा, औषद दै काटेहु मन पीरा।"[5]

इसमें 'काटेहु' पद लाक्षणिक है। मन की पीड़ा कोई काटने वाली वस्तु तो है नहीं। वस्तुतः इसका लक्ष्यार्थ इस बात का प्रतीक है कि उस सिद्ध की बातों से राजकुँवर को स्वप्न में देखी गयी नारी का परिचय मिला, जिससे उसे इन्द्रावती से मिलन की कुछ आशा बँधी; उसके विरह पीड़ित मन को कुछ शान्ति की अनुभूति हुई। इस प्रकार यहाँ पर 'काटेहु' का लक्ष्यार्थ मन को शान्ति मिलना है।

"है विस मो प्यारी मन माहीं, परसद छवि मुख ऊपर नाहीं।"[6]

यहाँ 'विस' पद लाक्षणिक प्रतीक है। विष का परिणाम मौत है, किन्तु यहाँ विष मुख्यार्थ को छोड़कर यह लक्ष्यार्थ प्रकट करता है कि इन्द्रावती के मन में कोई दुःख था जिसके कारण उसका मुख-सौन्दर्य विनष्ट हो रहा था।

"वदन उघारा है पुहुप अली भँवहिं उपराईं।
की समुझत पतिझार को, अहै छिपी पट माँह।"[7]

'वदन उघारा' लाक्षणिक पद है। मुख खोलना वधू का धर्म है, क्योंकि उसका

१- 'मधुमालती'—मधुमालती का बारहमासा-खंड, पृ० १२५.

२- वही, पृ० १२५.

३- 'हंस जवाहिर' उद्धृत-'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० ४४१.

४- टीकाकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल-'पदमावत'—पद्मावती-वियोग-खंड पृ० १६४, कवित्त सं० १७०.

५- 'इन्द्रावती', जन्म-खंड-पृ० १९, कवित्त सं० ३४.

६- वही, फाग-खंड पृ० ३७, कवित्त सं० १३.

७- 'इन्द्रावती', मालिन खण्ड पृ० ४८, कवित्त सं० २०.

मुख अवगुण्ठन में छिपा रहता है, किन्तु यहाँ पर पुष्पों के पक्ष में मुख का खोलना कहा गया है। इस प्रकार यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध हो रहा है; इसका लक्ष्यार्थ है— पुष्पों का विकसित होना। इसी प्रकार 'पट' शब्द भी लाक्षणिक है, क्योंकि कलियाँ वस्त्र में नहीं छिप सकतीं; 'पट' शब्द उनकी अविकसित अवस्था का प्रतीक है।

"जब परभात भयेउ उजियारा, फुलवारी मो बहिउ बयारा।
पाई बयार कली रहसानीं, बहुत हँसी बहुतै मुसुकानीं॥"[१]

इसमें 'कलियों का हँसना' और 'मुसुकाना' पदों में शुद्धा लक्षण-लक्षणा प्रतीक का सौन्दर्य निहित है। हँसना और मुसुकराना मानव का धर्म है, अतः इनके पुष्प पक्ष में प्रयुक्त होने के कारण इनका मुख्यार्थ बाध हो रहा है। वस्तुतः यहाँ पर हँसना कलियों की विकसित अवस्था का और मुसुकाना उनकी (कलियों की) अर्धमुकुलित अवस्था का प्रतीक है।

"है दरसन का भूखा राजा, अब तेहि दरस देखाउब छाजा।"[२]

यहाँ 'भूखा' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है कि राजा तुम्हारे दर्शन का इच्छुक है। इस प्रकार भूखा शब्द राजा की इच्छा का, कामना का प्रतीक है।

"सुभ बेला यह सुभ देवस, दरसन मिला तोहार।
समाचार आपन कहो, जीउ थिराय हमार।"[३]

इसमें 'जीव थिराय' (जी ठंडा होना) पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है कि कुछ मेरे हृदय को भी सान्त्वना मिले। इस प्रकार शुद्धा लक्षण-लक्षण लक्षणा प्रतीक के माध्यम से कवि ने अर्थ को नया आयाम प्रदान किया है।

"छिरका चाँदहि अंब्रित बानी, पल्हुई बेलि जैस कुँबिलानी।"[४]

'छिरका' 'अंब्रित' 'पल्हुई' 'कुंबिलानी' पदों में शुद्धा लक्षण-लक्षणा प्रतीक का सौन्दर्य निहित है। वाणी न तो अमृत ही है और न कोई ऐसा तरल पदार्थ ही, जो छिरका जा सके। अतः 'अमृत' (अंब्रित) मृदुबानी का और 'छिरका' बोलने का प्रतीक है। इसी प्रकार पलुहाना (पल्लवित होना) और कुम्हलाना पुष्प-बेलों का धर्म है किन्तु यहाँ नायक लोरक के पक्ष में इसका प्रयोग हुआ है कि उसका मुरझाया हुआ शरीर उसी प्रकार से पल्लवित हो गया है जैसे कि कुम्हिलायी हुई बेल पल्लवित होती है। वस्तुतः यहाँ कुम्हलाना लोरक के भयभीत होने का और पल्लवित उसके

१- 'इन्द्रावती' पाती-खंड पृ० ७१, कवित्त सं० ३०
२- वही, मधुकर-खंड पृ० ११४, कवित्त स० ५१.
३- 'इन्द्रावती'-मधुकर-खंड पृ० १०१, कवित्त सं० ५.
४- 'चंदायन' पृ० २०७.

आनन्दित होने का प्रतीक है। इस प्रकार कवि ने भाव को स्पष्ट करने के लिये इन पदों को नवीन अर्थों से मंडित कर दिया है।

"भल फुनि होइ खांडकर मारा, जरम न पलुह पिरमकर जारा।"[1]

यहाँ 'जारा' और 'न पलुह' पदों में लाक्षणिक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। प्रेम कोई अग्नि तो है नहीं, जो किसी को जला दे; यह प्रेम की आवद्धता का प्रतीक है; इसी प्रकार 'न पलुह' दुःखित रहते का (हर्षित न होने का) प्रतीक है। इस प्रकार कवि ने इन शब्दों में नवीन अर्थों की संयोजना की है।

"दिन दिन पलुहै राजकुमारा।"[2]

चूँकि पल्लवित होना पुष्प-वेलों का धर्म है। अतः यहाँ पर (पलुहै शब्द में) शुद्धा लक्षण लक्षणामूलक प्रतीक है। यह राजकुमार के शरीर के दिनोदिन बढ़ने का प्रतीक है।

"कह तेहि सुरिजु कवन घर बसा।
विख सिर चढ़ा चेतु मोर डसा।"[3]

इसमें 'विख' एवं 'डसा' पद लाक्षणिक हैं। विष वैसे मौत का प्रतीक है किन्तु यहाँ 'विष' इस मुख्यार्थ को छोड़कर यह लक्ष्यार्थ प्रकट कर रहा है कि चाँद लोरक के विरह में व्याकुल हो रही थी। इसी प्रकार 'डसा' शब्द भी लक्षणामूलक प्रतीक से युक्त है। चेतना कोई चेतन प्राणी तो है नहीं कि उसे डस लिया जाय, अतः इसका लक्ष्यार्थ है कि लोरक के विरह ने उसकी चेतना का हरण कर लिया था।

"कुँवर सींचि कै पानि जियाई, कहिसि देखु मारेउँ सकताई।"[4]

'सींचि कै' पद लाक्षणिक प्रतीक से युक्त है। पानी से वृक्षों, लताओ, वेलों आदि को सींचा जाता है न कि मनुष्य को। इसका लक्ष्यार्थ है-मुख पर पानी के छींटें देना, अर्थात् राजकुँवर ने मूच्छित राजकुमारी रूपमणि के मुख पर पानी के छींटें देकर उसे होश में लाकर वताया कि देखो मैने राक्षस को मार डाला। इस प्रकार कवि ने 'सींचि कै' शब्द को नवीन अर्थ के आयाम में प्रस्तुत किया है।

"पियरि धूप अव जीवन मोरा, वहु पछिताउ रहसि तुम्ह लोरा।"[5]

'पियरि धूप' का मुख्यार्थ है--पीली धूप, किन्तु यहाँ पर इसका यह अर्थ वाधित हो रहा है, क्योंकि जीवन पीली धूप कैसे वन सकता है, अतः इसका लक्ष्यार्थ

१- 'चंदायन' पृ० ३२२.
२- 'मधुमालती'-जन्मौती-खंड पृ० १९.
३- 'चंदायन' पृ० १७७.
४- 'मिरगावती' पृ० १६२, कवित्त सं० १३३.
५- 'चंदायन' पृ० ३५७.

है--वृद्धावस्था। इस प्रकार शुद्धा लक्षणलक्षणा के प्रयोग द्वारा कवि ने 'पियरि धूप' पद को नवीन अर्थ से सम्पृक्त कर दिया है।

"कहिसि बेगि चलु पवन सुहाई, देखौं नैनहि जाहिं सिराई।"[१]

यहाँ पर 'सिराई' पद लाक्षणिक है। नेत्र कोई गर्म वस्तु तो है नहीं जो किसी को अवलोककर ठण्डे हो जायें। वस्तुतः सिराई का प्रतीकार्थ है -आनन्द प्राप्त होना। अतः शुद्धा लक्षण-लक्षणा प्रतीक के माध्यम से इसका अर्थ होगा कि नेत्रों के माध्यम से राजकुँवर को अवलोककर मेरे मन को आनन्द की प्राप्ति हो।

'नैन सिराई' 'हिया सिराई' आदि का यह लक्षणामूलक प्रतीकात्मक प्रयोग अन्य प्रेमाख्यानों में भी प्रचुर रूप में हुआ है; उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं-

"जेहि वियोग निसि जागि सिराई।"[२]

"कुँवर बाहु कामिनि गहि कहा, हिया सेरान जो रे दुख रहा।"[३]

"देखौं सौंह जाइ सो रूपा, नैन सिराहि जरे जो धूपा।"[४]

"चित्त सीस मलि धरयो ठंडाई, सहब सो आगि कहा सियराई।"[५]

यहाँ पर 'सिराई' पद लाक्षणिक है।

"चित्रिन कह सुनु सखी पियारी, तुम्ह मोरि पीर सिरावनि हारी।"[६]

यहाँ 'पीर-सिरावनिहारी' पद में शुद्धा लक्षण-लक्षणा प्रतीक है। प्रेम की पीड़ा कोई ऐसी गरम वस्तु तो है नहीं, जिसे कि ठंडा किया जा सके। इसका लक्ष्यार्थ है कि तुम चित्र में चित्रित व्यक्ति को ढूढ़कर उससे मेरा मिलन कराकर मेरी पीड़ा को दूर कर सकती हो।

हंस द्वारा कौंलावती का स्मरण कराने पर कुँवर सुजान की जो अवस्था हो जाती है, उसका वर्णन करते हुए कवि उसमान ने लिखा है-

"ततखन हिए अगिन उद्‌गरी, मया पौन परि छाती जरी।"[७]

यहाँ 'अगिन उद्‌गरी' और 'छाती जरी' पद लाक्षणिक हैं। इसका मुख्यार्थ है-हृदय में अग्नि प्रज्वलित हो गयी और मया रूपी वायु के स्पर्श से उसकी छाती जलने लगी, किन्तु हृदय में न तो अग्नि ही उत्पन्न हो सकती है और न उससे छाती

१- 'मिरगावती' पृ० ३१७, कवित्त सं० २६५.

२. 'मधुमालती'-राकस-मारि-पेमहि-लै-चला-खंड, पृ० ८६.

३- वही, व्याह-खंड-पृ० १३२.

४. 'चित्रावली' कुटीचर-खंड, पृ० १११, कवित्त सं० २९०.

५- 'पुहुपावती' उद्धृत---'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य' पृ० ४६६.

६- 'चित्रावली'--चित्रावलोकन-खंड, पृ० ४६, कवित्त सं० १२३.

- ७ वही' चित्रावली गवन-खंड पृ० २१९, कवित्त सं० ५७३.

हीं जल सकती है, अतः इसका लक्षणार्थ है कि कौंलावती के स्मरण से उसका हृदय उद्वेलित हो उठा और प्रेम के कारण उसके वक्षस्थल में पीड़ा-सी उठने लगी।

"नैन वान कवि जान कहि, जिह उर लागत आइ।
सालि करेजे में रहे, करक न कवहूँ जाइ॥"[१]

नयन वस्तुतः वाण नहीं हैं अतः वे न तो हृदय में चुभ सकते हैं और न उसे साल ही सकते हैं। इन पदों का लक्ष्यार्थ यह है कि कौंलावती के नेत्र इतने अधिक सुन्दर हैं कि सभी लोकों का मन उसके नेत्रों की ओर आकर्पित हो जाता है। इस प्रकार इन पंक्तियों में कवि जान ने शुद्धा लक्षण लक्षणामूलक प्रतीक का प्रयोग किया है।

इस लक्षणामूलक प्रतीक का प्रयोग यूसुफ-जुलेखा में भी हुआ है, जो इस प्रकार है—

"देखत नारि विमोहित भई, निरखि रूप वाउर होइ गई।
नैन वान ते वेधा हीया, वात न आउ मौन भई तीया॥"[२]
"मान स्वरूप तहँ आय कै, देखि रहे टक लाय।
लीन्ह प्रान तिन्ह काढ़ि कै, रूप अनूप दिखाय॥"[३]

इसमें 'प्रान काढ़ना' पद लाक्षणिक है। यूसुफ ने जुलेखा की ओर एकटक देखकर मानो उसके प्राण ही काढ़ लिये, यह मुख्यार्थ वाधित हो रहा है; इसका लक्ष्यार्थ है कि उसके हृदय को अपनी ओर आकर्पित कर लिया, अतः यहाँ शुद्धा लक्षणलक्षणा मूलक प्रतीक है।

"प्रेम की आग धाय के आये, चाम हाड़ सव छन मा जराये।"[४]

'प्रेम की आग' पद लाक्षणिक है। प्रेम की आग दौड़कर आती है और चाम-हाड़ सभी को क्षणभर में जला देती है। किन्तु प्रेम वस्तुतः आग नहीं है जो क्षण-भर में किसी वस्तु को जला दे, अतः यह मुख्यार्थ यहाँ वाधित हो रहा है। इसका लक्ष्यार्थ है—प्रेम में आवद्ध व्यक्ति विरह के कारण दिन-प्रति-दिन क्षीण (दुर्वल) होता जाता है।

१— कथा कँवलावती उद्धृत-'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य'-४१०
२— 'यूसुफ जुलेखा'-उद्धृत-वही पृ० ५१७
३—वही, पृ० ५१७
४—अली मुरादकृत 'कथा कुँवरावत' उद्धृत-'जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि और काव्य पृ० ५८६

शुद्धा उपादान लक्षणामूलक प्रतीक-योजना—

जब कोई शब्द अपने मुख्यार्थ का त्याग किये बिना किसी अन्य अर्थ को संकेतित करता है तो वहाँ पर उपादान लक्षणा प्रतीक होता है। हिन्दी-सूफी-काव्य में यद्यपि इस लाक्षणिक प्रतीक का प्रयोग रूढ़ लक्षणा, साध्यवसाना लक्षणा एवं शुद्धा लक्षण लक्षणा सम्बन्धी प्रतीकों की तुलना में अपेक्षाकृत कम हुआ है, फिर भी यत्रतत्र इसके प्रयोग उपलब्ध हो जाते हैं; यथा—

"जस भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई, परहि बूँद औ सोंध बसाई।"[१]

इस वाक्य में 'भुइँ' शब्द अपने मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ घास के पौधें को भी संकेतित करता है, अतः लक्ष्यार्थ हुआ—'पृथ्वी पर घास के पौधे' अतः यहाँ पर उपादान लक्षणा प्रतीक है।

"नगर रहा हुत निसि होइ कारी, बहुरि भयउ उजियार।"[२]

इसमें 'नगर' पद लाक्षणिक है। राक्षस द्वारा राजकुँवर का हरण कर लिया जाने पर कंचनपुर नगर में जो दुःख रूपी अंधकार छा गया था, उसके आ जाने से नगर पुनः आनन्दित हो गया। किन्तु नगर दुःख-सुख से अभिभूत नहीं हो सकता अतः इसका लक्ष्यार्थ है—कंचनपुर के नगर—निवासी।

"मन हरिगा सब नगर को, परमद रीत न होत।"[३]

यहाँ नगर पद लाक्षणिक है। किन्तु मुख्यार्थ द्वारा अर्थ की सिद्धि नहीं हो पाती क्योंकि नगर के मन का हरण नहीं हो सकता। अतः इसका प्रतीकयुक्त अर्थ नगर—निवासियों होगा। इस प्रकार उपादान लक्षणा प्रतीक के प्रयोग ने नगर शब्द को नगर निवासियों के अर्थ से संपृक्त कर दिया है।

"राज काज तजि राजा, लीन्ह अगम को जोग।
परेउ नगर कालिजरै, राजा कारन सोग॥"[४]

राजकाज छोड़ कर राजा के जोग लेने के कारण कालिजर नगर में शोक छा गया। किन्तु नगर शोक से अभिभूत नहीं हो सकता, मुख्यार्थ द्वारा अर्थ की प्राप्ति नहीं हो पाती; अतः इसका लक्ष्यार्थ है—'नगर निवासियों'। इस प्रकार उपादान शुद्धा लक्षणा प्रतीक के प्रयोग द्वारा कवि ने नगर-निवासियों के शोक को व्यंजित

१— 'जायसी-ग्रन्थावली' चित्तौर-आगमन-खण्ड पृ० १८७, कवित्त सं० २.
२— सं०—डा० परमेश्वरी लाल गुप्त, 'मिरगावती-पृ० ३१६, कवित्त सं० २६
३—'इन्द्रावती' मानिक-खण्ड-पृ० १३५, कवित्त सं० ६६.
४—वही, जोगी-खण्ड-पृ० २३, कवित्त सं० २.

किया है।

"इन्द्रावति राजा कर बारी, आगमपुर की प्रान पियारी।"[1]

इसमें 'आगमपुर' पद लाक्षणिक है। इन्द्रावती आगमपुर नगर की प्राण पियारी थी, इस मुख्यार्थ द्वारा अर्थ की संगति नहीं बैठती। अतः इसका लक्ष्यार्थ है—आगमपुर निवासियों की।

"सगरी नग्र रहै बिसमादा, सुनी न कंठ नाद कै स्वादा।"

—'मधुमालती'

'सागरी नग्र' पद में शुद्धा उपादान लक्षणामूलक प्रतीक है। सम्पूर्ण नगर अत्यन्त दुःखित रहता था, इसमें मुख्यार्थ बाधित हो रहा है, अस्तु इसका लक्ष्यार्थ है सम्पूर्ण नगर के लोग।

"सात दीप नौ खंड पिरथिमी चहुँ दिसि हरख अनंद।
एक बिरह दुख परिहरि दोसर औरु न दंद॥"

'मधुमालती'

यहाँ सात दीप, नौ खंड और पृथ्वी पर चारों ओर हरष और आनन्द छाया हुआ था, इसमें मुख्यार्थ बाधित हो रहा है—इसका लक्ष्यार्थ है कि सात दीप, नौ खंड और पृथ्वी, इनके निवासियों में हर्ष और आनन्द की लहर छायी हुई थी।

'बाजत गाजत भा असवारू, सब सिंहल नै करहि जोहारू।'[2]

यहाँ 'सिंहल' पद उपादान शुद्धा लक्षणा प्रतीक से युक्त है। सिंहल कोई चेतन जीव तो है नहीं जो झुक कर प्रणाम करने लगेगा, अतः यह समस्त सिंहल-निवासियों के प्रणत होने का प्रतीक है। इस प्रकार कवि ने सिंघल शब्द से यहाँ के निवासियों का बोध कराया है।

इसी प्रकार निम्नांकित पंक्तियों में भी सिंघल शब्द का इसी अभिप्राय से प्रयोग हुआ है—

'रोवै सब नैहर सिंघला, लै बजाइ कै राजा चला।'[3]

इसमें 'नैहर सिंघला' के रोने से तात्पर्य यह है कि पद्मावती की विदा के समय उसके नैहर सिंघल के समस्त लोग रोने लगे।

'बाजन लागे बाजन बारा, घर घर उठा मंगला चारा।'[4]

१—'इन्द्रावती' फाग-खण्ड-पृ० ३४, कवित्त सं० ३.
२—'पदमावत'-रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खण्ड-पृ० ३१५, कवित्त सं० २७७.
३—वही, पृ० ४७५.
४—'चित्रावली' कँवलावती-विवाह-खण्ड-पृ० १५३, कवित्त सं० ४००

इसमें 'घर-घर उठा मंगलाचारा' पद लाक्षणिक है। कुँवर सुजान के साथ कौंलावती के विवाह का समाचार जानकर घर-घर में मंगलाचार उठने लगे, इस मुख्यार्थ द्वारा अर्थ की सिद्धि नहीं होती। इसका लक्ष्यार्थ है कि नगर के प्रत्येक घर के लोग अपने-अपने घरों में मगलाचार करने लगे।

इस शुद्धा उपादान लाक्षणिक प्रतीक का प्रयोग 'मधुमालती' में भी हुआ है। कुँवर मनोहर राक्षस को मारकर प्रेमा सहित जब उसके नगर में आता है तो प्रत्येक घर लोगों के मंगलाचार से गुंजित हो उठता है। इसी स्थल पर कवि ने इस लाक्षणिक प्रतीक का प्रयोग किया है--

'नग्र बधावा चहुँ दिस, हरखित सब परिवार ।
होइ कल्यान कोलाहल घर-घर मंगलचार ॥'[१]
'देखि कटक जिमि वादल छाहीं, परी हूल सागर गढ़ माहीं।'[२]

यहाँ 'परी हूल सागर गढ़ माहीं' पद में उपादान शुद्धा लक्षणा प्रतीक है। सागर गढ़ कोई चेतनायुक्त जीव तो है नहीं, जिसके हृदय में सेना को अवलोककर खलबली मच जाये; वस्तुतः यह (सागर गढ़) वहाँ के निवासियों का प्रतीक है और इस प्रकार इसका अर्थ होगा कि सुजान की सेना को देखकर सागरगढ़ निवासियों के हृदय में खलबली मच गयी।

अस्तु, समग्र रूप में, कहा जा सकता है कि हिन्दी-सूफी-कवियों का सम्पूर्ण काव्य-वैभव लाक्षणिक प्रतीकों से अलंकृत है। इन लाक्षणिक प्रतीकों के प्रयोग से एक ओर तो इन प्रेमाख्यानों के काव्य-सौष्ठव में वृद्धि हुई है और दूसरी ओर इनमें उक्ति-वैचित्य एवं बिम्बात्मकता का समावेश हुआ है। मुहावरें और लोकोक्तियाँ जो कि भाषा की स्फूर्ति है, उनका इन कवियों ने खुलकर प्रयोग किया है। वस्तुतः इनके मूल में रूढ़ लक्षणामूलक प्रतीकों का सौन्दर्य निहित है। इसके अतिरिक्त इनके काव्य में कतिपय पद (शब्द) ऐसे भी प्रयुक्त हुए हैं जो कवि प्रयोग प्रसिद्धि के कारण किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गये हैं।

चूँकि इन कवियों ने प्रस्तुत को प्राकृतिक अप्रस्तुतों की सहायता से स्पष्ट किया है, अतः इनके काव्य में रूपकों का जमघट-सा लग गया है। इसके अतिरिक्त रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, समासोक्ति आदि अलंकारों का भी इनके काव्य में प्रचुर प्रयोग हुआ है। इन समस्त स्थलों पर अति समर्थ, सुन्दर एवं काव्य के सौष्ठव

१–'मधुमालती'-राकस-मारि-पेमहि लै चला-खण्ड ८६.

२–'चित्रावली'–कौंलावतीं-गवन-खण्ड पृ० २२६, कवित्त सं० ५६१.

को बढ़ाने वाले लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं, इसके साथ ही हिन्दी-सूफी-कवियों ने शब्दों को नये अर्थ के आयाम में भी प्रस्तुत कर लाक्षणिक प्रतीकों के वैभव का जो दिग्दर्शन कराया है वह अनुपम है। इन लक्षणामूलक प्रतीकों के प्रयोग से प्रेमाख्यानों के वर्ण्य-विषय में स्पष्टता आयी है और साथ ही भावों में तीव्रता भी उत्पन्न हो गयी है। इन लक्षणिकप्रतीकों की सहायता से अभिप्रेत भावों को स्पष्ट करने में इन कवियों को पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है।

---

१२ | संत काव्य एवं हिन्दी-सूफी-काव्य के प्रतीकों का तुलनात्मक विवेचन

संत एवं सूफ़ी दोनों ही कवियों ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का आश्रय लिया है किन्तु उनके द्वारा अपनाये गये प्रतीकों में विभिन्नता है–

१२.१ ब्रह्म

संत-कवियों ने परम तत्त्व को ब्रह्म, निरंजन, राम, खुदा, अल्लाह, केशव, रहीम आदि नामों से देखा है। संत-कवियों ने इस इन्द्रियातीत परमतात्त्व को ज्योति स्वरूप बतलाया है –

"जोति सरूपी तत अनूप, अमल न मल न छाँह नहीं धूप।"[1]

संत-कवियों के राम दशरथी राम न होकर निराकार राम है किन्तु उन्होंने इस निराकार और निर्विकार राम की सत्ता में अनेक गुणों की प्रतिष्ठा करके उसको प्रेम का आलम्बन भी बनाया है। संत कवियों ने जिस परम सत्ता को स्वीकार किया वह अपने आकार-प्रकार में गोरखनाथ की "परम ज्योति" से भिन्न नहीं है, किन्तु प्रेम का आलम्बन बनकर वह ज्योति विशिष्ट हो गयी है। जहाँ गोरखनाथ की ज्योति (निरंजन देव) तटस्थ एवं निर्विकार है वहाँ कबीर का ज्योति स्वरूप राम अनेक गुणों से सम्पन्न है। कबीर चारों ओर उसी की ज्योति का अवलोकन करते हैं –

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन हौं गयी, मैं भी हो गयी लाल॥"[2]

हिन्दी के सूफ़ी-कवियों ने भी खुदा के इस नूर की चर्चा की है, किन्तु उन्होंने खुदा की कल्पना नायिका के रूप में की है अर्थात् नायिका को परब्रह्म का प्रतीक माना है। उसके रूप सौन्दर्य के माध्यम से ईश्वरीय ज्योति को व्यंजित किया है।

१– सन्त-कबीर, रागु गउड़ी पद सं० ७६, पृ ८५.
२– आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'कबीर' पृ० ३५४।

नायिका के अंग प्रत्यंग के सौन्दर्य-चित्रण में ब्रह्म के सौन्दर्य का आभास मिलता है; उदाहरणार्थ मुख या कपोल ईश्वरीय सौन्दर्य का प्रतीक है। उसमें दयालुता, उदारता, प्रकाश, रक्षण एवं संहार सभी शक्तियों का समन्वय है। सूफ़ी-कवि जहाँ भी नायिका के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, उसे इस समन्वित सौन्दर्य का प्रतीक बनाने का प्रयास करते हैं।[१]

ईश्वरीय ज्योति का ऐसा प्रतीकात्मक सौन्दर्यमय आलम्बन हमें संत-कवियों के काव्य में नहीं मिलता। उन्होंने किसी मानवी-रूप को प्रतीक-रूप में अपनाकर ईश्वरीय ज्योति को नहीं देखा है; उनके राम तो पूर्णरूपेण निर्गुण ही है और निर्गुण-रूप में ही उनके सौन्दर्य का यत्र-तत्र चित्रण हुआ है।

इसके अतिरिक्त संत-कवियों और सूफ़ी-कवियों के ब्रह्म प्रतीक में एक प्रमुख अन्तर यह भी है कि संत-कवियों ने ब्रह्म की कल्पना नायक (प्रीतम, दुलहा, खसम) के रूप में की है और सूफ़ी-कवियों ने नायिका रूप में। हिन्दी के सूफ़ी-कवियों में केवल शेख निसार ही ऐसे हैं जिन्होंने अपनी कृति "यूसुफ-जुलेखाँ" में ईश्वरीय गुणों एवं सौन्दर्य का प्रतीक नायिका को न मान कर नायक को माना है, जिसके सौन्दर्य को स्वप्न में अवलोक कर नायिका प्रेम विमोहित हो जाती है।[२]

नायक के प्रतीक के अतिरिक्त संत कवियों ने ब्रह्म के लिये जोति-सरूपी, सागर, कुम्हार, कलाल आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है किन्तु सूफी-कवियों ने मुख्य रूप से ब्रह्म के लिये नायिका प्रतीक को ही लिया है साथ ही यत्र-तत्र समुद्र, सूर्य, नट चित्रकार जैसे प्रतीकों को भी अपनाया है।

जीव :—

जीव के विषय में हिन्दी के सूफ़ी-कवियों एवं संत-कवियों दोनों ने अद्वैत-भावना को अपनाया है। जीव और ब्रह्म में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जीव ब्रह्म का ही अंश है। गीता में कहा गया है —

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन।"[३]

इस अद्वैत-भावना को संत एवं सूफ़ी दोनों ही कवियों ने बूंद और समुद्र के प्रतीकों से व्यंजित किया है।[४]

१— अधिक विस्तार के लिए देखिये-प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के आठवें अध्याय का प्रेम-सौन्दर्य सम्बन्धी प्रकरण।

२— देखिये-प्रस्तुत पुस्तक का ही तृतीय अध्याय।

३— गीता, अध्याय १५ श्लोक सं० ७।

४— विस्तृत विवरण के लिए देखिये प्रस्तुत पुस्तक का ही अध्याय ८, पृ० ३२४-२५।

सूफी-कवियों ने जीव के लिये केवल नायक, हंस, बूँद किरण को प्रतीक के रूप में लिया है, किन्तु संत-कवियों ने जीवात्मा के लिये अनेक प्रतीक अपनाये हैं ; यथा –

पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहिन, बादशाह, हंस, अवधूत, महर, गूजर, प्रजापति, खग, सती, बांझ, वियोगिनी, सुन्दरी, बैरागिनी, सुल्तान, राजा, शाह, काजी, बेली, अरवाह, अंजनी आदि ।

संत एवं सूफी दोनों ही कवियों के काव्य में हंस का प्रयोग उपाधिहीन एवं मुक्त जीवात्मा के अर्थ में हुआ है। जीवात्मा प्राण स्वरूप है और हंस को उलटने से 'सहं' (सोऽहं) होता है। सोऽहं के ज्ञान से उल्टी रीति पर चलने वाली आत्मा हंस अर्थात् जीवात्मा है। ज्ञानार्णव तंत्र[1] के अनुसार हं=शिव और स=शक्ति है, अतः हंस शिव-शक्ति का समन्वित रूप है। हंस मानसरोवर निवासी है, जहाँ चिर आनन्द है। वह द्वेष-द्विधा, संकोच–कुंठा, शंका–संशय से हीन एवं जगत्पाश से मुक्त है। सांसारिक माया-मोह में अपने देश को भूला हुआ वह (जीवात्मा) जिसमें उड़ने की शक्ति तो है किन्तु अज्ञानवश अपने स्वरूप को भूल गया है इसलिए उड़ नहीं सकता, बद्ध है, और इस बेड़ी की जकड़ से मुक्ति शाश्वत आनन्द के देश की ओर उन्मुखता है। हंस ख–ग (ख=आकाश,+ग=गामी) है। आकाश शून्य तत्त्व है, सहस्त्रार और सहस्त्रार में लीन होने वाली आत्मा इस स्थिति में हंस है कि इसमें गमन करने वाली आत्मा ख–ग है। खग इधर-उधर भटकता है अतः भटकने वाला मन भी खग है। सहस्त्रार में गमन करने वाला ख–ग ही ख–सम अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। मोती (=मुक्तावस्था) चयन करने वाला भी हंस है और मोती (=राम नाम) को ग्रहण करने वाला भी ।[1]

संत और सूफ़ी दोनों ही कवियों ने शरीर के लिये दुर्ग[2] और घट[3] के प्रतीक अपनाये हैं। शरीर घट है, कारण वह घटित (निर्मित) है और उसमें अ-घट की क्रीड़ा होती है।[4] यह शरीर उपाधियों का घर है। इसके फूटने और गलने में कोई समय नहीं लगता, अतः यह कच्चा है, मिथ्या अर्थात् नष्ट होने वाला है, खोखला है क्योंकि

---

१. मध्यकालीन संत-साहित्य, पृ० २६७-६८ ।
२. 'संत-कवीर', रागु भैरउ, पद सं० १७, पृ० २५४ ।
'जायसी-ग्रन्थावली'-पार्वती-महेश-खण्ड पृ० ८३ कवित्त सं० ६ ।
३. 'कबीर-ग्रंथावली' भूमिका पृ० ३७
'जायसी-ग्रंथावली'-सिंहल द्वीप-वर्णन-खण्ड पृ० १६, कवित्त १८ ।
४. 'घट महि खेले अघट अपार' 'सन्त-कबीर' राग गउड़ी ७६ पृ० ८४ ।

जीवात्मा इसमें स्थिर नहीं रहती। इस प्रकार यह अत्यन्त तुच्छ है। सैंचने-जोगने के उपयुक्त नहीं।

संत-कवियों ने हरि को प्रियतम और स्वयं (जीवात्मा) को दुलहिन माना है। उनका विश्वास है कि वही दुलहिन अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकती है जो पतिव्रता है। स्वार्थ के वशीभूत होकर साधना करने वाली वधू (आत्मा) पति (=पत =मर्यादा की रक्षा करने वाले) को प्राप्त नहीं कर सकती। जिसमें सत (=सत्य—धर्म और टेक निबाहने का हठ) है वही सती हो सकती है। पति[1] को छोड़कर और कोई जिसका आराध्य नहीं और जिसके अभाव में संसार के सारे वैभव तुच्छ और नगण्य हैं। जो अपना सर्वस्व पति पर निछावर कर देती है, वही सती है, प्रियतम की प्यारी है, सुहागिनी है। जो सुहागिनी है वह सुन्दरी है, दुलहिन है, हरि की बहुरिया है। प्रेम के कारण सुहाग मिलता है अतः प्रेमस्वरूप भक्ति लहुरी (छोटी) हरि की अत्यन्त प्यारी दुलहिन बन गयी तथा सांसारिकता जिसके साथ प्रथम भाँवरें पड़ी थीं, तिरस्कृत और अपमानित हो गयी।[2]

स्त्री (जीवात्मा) अपने प्रिय और पति (हरि) को पूरी तरह पहचानती नहीं, किन्तु स्वयं उससे दूर नहीं। अज्ञान (अ=परिचय) के कारण वह अपने को प्रिय से विच्छिन्न जानती है और प्रिय के सन्धान में लगी रहती है, वही विरहिणी है, वियोगिनी है। अन्य के सन्धान में लगी जीवात्मा तो जारिणी, व्यभिचारिणी है। अनेक के सहवास से भी तो उसे तृप्ति नहीं मिल सकती। परमात्मोन्मुख जीवात्मा ही विरहिणी है, वियोगिनी है प्रिय की कामना है, अतः कामिनी है और जो प्रिय को जानती ही नहीं, उससे प्रेमभाव, भाव-भक्ति नहीं रखती वह बाँझ है, वन्ध्या है।[3]

जगत् :—

यह समग्र जगत् नाम रूपात्मक है। देश और काल इसकी सीमाएँ हैं। रूप का नाम रखा जाता है; जब तक रूप है, तभी तक नाम भी सार्थक है। यह अनेक नाम-रूपों वाला जगत 'पंचतत्व' से निर्मित है और इसकी रचना ब्रह्म ने की है। यदि संत कवियों ने इस संसार और ब्रह्म की कला और कलाकार के रूप में कल्पना की है।[4]

---

१. "बिनु सत सती होई कैसे नारि" 'संत कबीर' राग गउड़ी २३ पृ० ७५।
२. "लहुरी संगि भई अब मेरै जेठी अउर धरिओ"।
वही, रागुआसा, पृ० ३२।
३. मध्यकालीन 'संत-साहित्य' पृ० २६६।
४. "ऐसी कला अनन्त है जाके सो हमको क्यूं बिसरै।
जिन्हीं ब्रह्मंड रच्यों बहु रचना, बाब बरन ससि सूरा॥"
—कबीर ग्रन्थावली पृ० १७७ पद सं० २६१।

तो सूफी-कवियों ने इसके लिये चित्र और चित्रकार के प्रतीक को अपनाया है।[1]

यह जगत् उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है। उत्पत्ति और विनाश का क्रम सदैव चलता रहता है।

इसी प्रवाह-क्रम को संसार की संज्ञा दी गयी है। इस जगत् की दो अवस्थाएँ हैं—उत्पत्ति और विनाश। यहाँ जो उत्पन्न हुआ है वह नष्ट होगा और जो नष्ट हो रहा है उसकी सृष्टि अवश्य होगी। इस विचारधारा के अनुसार संत-कवियों ने ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या माना है किन्तु सूफी-कवियों ने ब्रह्म के साथ-साथ जगत् की भी सत्यता स्वीकार की है। कबीर ने अपने ब्रह्म को हृदय के अन्दर "शून्य-मंडल" में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है जबकि जायसी ने उस परम ज्योति को सम्पूर्ण जगत् में प्रतिविम्बित देखा है ; यथा—

"कोई ऐसा न मिले सब निधि देइ बताय।
सुनि मंडल में पुरुष एक ताही रहै ल्यौ लाय॥"

—कबीर

"रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ विहँसि सुभावहि हँसी।
तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥"

—जायसी

संत-कवियों और सूफी-कवियों दोनों ने ही इस संसार के लिये 'हाट' प्रतीक को अपनाया है। उनकी मान्यता है कि यह जगत् एक बाजार है। इसमें जीव की स्थिति एक क्रेता या विक्रेता के समान है। यहाँ लोग आते हैं और चले जाते हैं ; यहाँ ठहरता कौन है ? लोग इस तात्त्विक रहस्य को नहीं समझ पाते, इसीलिये अहंकार, ममता आदि से उनकी मुक्ति नहीं हो पाती।[2] इस हाट (संसार) में आकर कुछ लोग अपने सत्कर्मों द्वारा अपने जीवन को सफल बना लेते हैं तथा कुछ अपने बुरे कर्मों द्वारा इस मानव-जीवन रूपी मूलधन को भी खो देते हैं।[3] अतः इस नश्वर संसार में जीव की सार्थकता तभी है जब वह प्रेम-मार्ग का अनुसरण कर अपनी साधना द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर ले, आत्मा को परमात्मा में विलीन कर दे। ब्रह्म-प्राप्ति हेतु इस प्रेम-साधना में संत-कवियों ने यदि परमात्मा की नायक-रूप में कल्पना की है तो सूफी कवियों ने नायिका-रूप में।

१– 'आदि बखानौ सोई चितेरा, यह जग चित्र कीन्ह जेहि केरा।'
चित्रावली पृ० १

२– कबीर-ग्रन्थावली, पद सं० १०२

३– जायसी-ग्रन्थावली, पद सं० ३७

माया

'अद्वैतवाद' में विश्व की व्याख्या के लिये माया का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। "मायावी सृजते विश्वमेतत्" कहकर उस सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को मायावी कहा गया है। वह इस प्रपञ्चात्मक विश्व का माया से ही सृजन कर माया से ही स्वयं अन्य सा होकर स्थित रहता है। वेदान्त के अनुसार आत्मा और परमात्मा एक हैं। माया के ही कारण दोनों में भिन्नता है। जब यह माया का आवरण हट जाता है तो जीव और ब्रह्म पुनः एकाकार की स्थिति में आ जाते हैं। वेदान्त के इस भाव की अभिव्यक्ति सन्त कवि कबीर ने अपनी निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार की है——

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ्य कथौ गियानी॥"[१]

वेदान्त के इस भाव को अभिव्यक्त करने वाली जायसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं——

"जब लग गुरू हौं अहा न चीन्हा, कोटि अन्तरपट बीचहि दीन्हा।
जब चीन्हा तब और न कोई, तन, मन, जिऊ, जीवन, सब सोई।
'हौं हौं' करत धोख इतराहीं, जब भा सिद्ध कहाँ, परछाहीं॥"[२]

यहाँ पर 'करोड़ों अन्तरपट' माया के प्रतीक हैं। गुरु 'आत्मस्वरूप भाव' का प्रतीक है और 'हौं' 'अहंकार' का। रत्नसेन 'जीवात्मा' का प्रतीक है और सिद्ध-'द्वैत-भाव' की समाप्ति का। इन प्रतीकों के माध्यम से इसमें बताया गया है कि जब तक जीवात्मा आत्मस्वरूप को नहीं पहचानता तब तक उनके बीच माया के अनेकों आवरण पड़े रहते हैं। ज्ञानोदय हो जाने पर माया के ये समस्त आवरण विनष्ट हो जाते हैं। जीवात्मा और परमात्मा के बीच का द्वैतभाव समाप्त हो जाता है। जीव जब अपने आत्मस्वरूप को पहचान लेता है तो उसे यह अनुभव होने लगता है कि तन, मन, जीवन सब कुछ वही एक आत्मतत्त्व है। लोग अहंकार के वशीभूत होने के कारण ही द्वैतभाव में फँसे रहते हैं किन्तु ज्यों ही अहंकार नष्ट हो जाता है त्यों ही छाया और आतप वाला भेद समाप्त हो जाता है।

सन्त-कवियों के अनुसार माया एक जेवड़ी के समान है जिसने सब जीवों को अपने बंधन में बाँध रखा है। इसके बन्धन से वही प्रबुद्ध जीव मुक्त हो सकता है जो इसका परित्याग कर दें। माया का निवारण दो प्रकार से हो सकता है–

(१) ज्ञान से और

१– 'कबीर-ग्रन्थावली' (भूमिका) पृ० ३७.

२– 'जायसी-ग्रन्थावली', गंधर्वसेन-मन्त्री-खण्ड, पृ० १०५, कवित्त सं० ७.

(२) भगवत्कृपा से ।

ज्ञान के द्वारा सहज स्वभाव के प्रतिष्ठित होने पर मानाभिमान आदि माया के फन्दे शीघ्र टूट जाते हैं । विषयों के प्रति उदासीन हो जाना ही सच्ची मनो-विजय है ।

जिस प्रकार ज्ञान से माया का निवारण होता है उसी प्रकार भगवत् भक्ति से भी माया का निवारण होता है । इसीलिये कबीर कहते हैं ––

"कहैं कबीर ताके भ्रम छूटै,
जे रहै राम ल्यौ लाई ।।

संत कवियों ने माया के लिये पापिनी, विश्वासघातिनी, अनिष्टकारिणी, वेश्या, कामिनी, कनक आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है । यों तो इन कवियों ने इन सभी प्रतीकों के द्वारा उसकी निन्दा की है, किन्तु कनक और कामिनी के रूप में उसकी विशेष निन्दा की है ।

संत कवियों ने जिसे माया कहा है, सूफी-कवियों की साधना का वह प्रमुख माध्यम है । शंकराचार्य के अद्वैतवाद से प्रभावित होकर भी सूफ़ी-कवियों ने शैतान की कल्पना सूफ़ी सिद्धान्तों के अनुसार ही की है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में माया आत्मा और परमात्मा के मिलन में बाधक है पर सूफीमत में बन्दे और खुदा के मिलन में शैतान बाधा पहुँचाता है । 'पदमावत' में राघवचेतन के रूप में शैतान की कल्पना मुसलमानी विश्वास के अनुकूल है । इस शैतान से बचने के लिये सूफ़ी-कवियों ने पीर (गुरु) की आवश्यकता बतायी है । सूफी कवियों ने माया के दो पक्ष लिये हैं, एक तो प्रपञ्च, प्रवञ्चना, अहंकार, जड़ता, कपट-बुद्धि आदि के रूप में और दूसरे अज्ञान के रूप में । पदमावत के अलाउद्दीन जैसे पात्र माया के पहले रूप के प्रतीक हैं और नयिकाओं की सपत्नियाँ माया के दूसरे रूप की प्रतीक हैं ।

संत कवियों की भाँति कतिपय हिन्दी के सूफी-कवियों ने भी माया के लिये नागिन, त्रिभुवन, मोहिनी, विधि कुमारी, पापिन, छिनारि आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है ।[२]

कवि काशिम शाह ने इसके लिये ठग और बटमार के प्रतीक अपनाये हैं ।[३]

गुरु

जीव यद्यपि ब्रह्म का अंश है किन्तु माया के वशीभूत हो जाने पर वह आत्म-

---

१– विशेष विवरण के लिये देखिये—इसी पुस्तक के अध्याय ९ पर पृष्ठ ३२८ से ३३५ तक ।

२– मंझन–'मधुमालती' पृ० १३–१४.

३– कवि काशिमशाह 'हंस जवाहिर' पृ० २१.

स्य चैतन्यस्वरूप के दर्शन नहीं कर पाता। ब्रह्म से उसका आत्म-साक्षात्कार सम्भव नहीं हो पाता, अत: ऐसे माध्यम की आवश्यकता होती है जो ब्रह्म और जीव के बीच पड़े इस माया के आवरण को विच्छिन्न कर सके। वह माध्यम कोई और नहीं गुरु ही है। वेद भी जिसे 'नेति-नेति' कहकर छोड़ देते हैं। शिव और सनकादि भी जिसे खोजते-खोजते वीतराग हो गये, किन्तु प्राप्त नहीं कर सके; गुरु ने ऐसे अमूल्य धन का रहस्य ज्ञान और भक्ति द्वारा बतला दिया। गुरु के उपदेश द्वारा ही जीव ब्रह्म को पहचानने में समर्थ हो पाता है।

संत-कवियों एवं सूफी-कवियों दोनों ने ही गुरु की महत्ता पर बल दिया है। दोनों ही मानते हैं कि साधक को सिद्धि की प्राप्ति गुरु-प्रकाश से प्रदीप्त साधन की चरम उपयुक्तता के कारण होती है। गुरु ही वह चिन्गी जलाता है जिससे कि साधक का अज्ञानरूपी अन्धकार से पूर्ण अन्तर सहज ज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठता है। संत कवियों ने वर्षाकालीन मेघ, मृग, पारस पत्थर, चन्दन आदि प्रतीकों के माध्यम से गुरु की महत्ता प्रदर्शित की है। सूफी-कवियों ने तोता, परी, देव आदि को गुरु रूप में स्वीकार किया है। इनके नायक (साधक) का मार्ग-प्रदर्शन ये ही गुरु के रूप में करते हैं।

साधना

संत कवियों की योग साधना अनेक स्रोतों से सार लेकर निर्मित हुई है। कबीर के युग में योग के अनेक रूप प्रचलित थे, उनमें से हठयोग ने अपने में बहुत सी बातों का समावेश कर लिया था। इस हठयोग साधना का प्रभाव संत और सूफी दोनों पर पड़ा। योग मार्ग की गूढ़ता को प्रकट करने के लिये इन कवियों ने प्रतीकात्मक शैली को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। गढ़ प्रतीक को शरीर का रूपक देकर दोनों ही कवियों ने हठयोग-साधना के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं।[२]

योग-साधना के प्रतीकों के साथ-साथ दोनों ने ही दाम्पत्य-भाव के प्रतीक लिये हैं किन्तु दोनों के आश्रय और आलम्बन में अन्तर है। संत-कवियों ने यदि दुलहिन को जीवात्मा का और दुलहा को परब्रह्म का प्रतीक माना है तो सूफी-कवियों ने नायक को जीवात्मा का और नायिका को परब्रह्म का प्रतीक माना है। सूफी-कवियों ने केवल दाम्पत्य-भाव से सम्बन्धित प्रतीक लिये हैं किन्तु सन्त-कवियों ने दाम्पत्य-भाव के साथ-साथ दास्य-भाव और वात्सल्य-भाव के प्रतीकों का भी प्रयोग

१– 'मध्यकालीन संत-साहित्य' पृ० ३२२.

२– संत-कवियों के इस रूपकात्मक प्रतीक के लिए देखिए––'संत-कबीर' रागु भैरऊ, पद सं० १७ पृ० २२४। सूफ़ी-कवियों के इस प्रयोग के लिये देखिये––प्रस्तुत पुस्तक के अध्याय ८ को पृ० २३० से २६७ तक।

किया है ।[1]

साधना-क्षेत्र में अपनाये गये इन कवियों के प्रतीकों में एक प्रमुख अन्तर यह भी है कि संत-कवियों ने केवल हठयोग, राजयोग, दाम्पत्य-भाव, वात्सल्य-भाव और दास्य-भाव से सम्बन्धित प्रतीकों को अपनाया है किन्तु सूफी-कवियों ने दाम्पत्य-भाव और हठयोग-साधना सम्बन्धी प्रतीकों के साथ-साथ रसायनशास्त्र, धातुवाद, सहजयान और सूफी-साधना के प्रतीकों को भी ग्रहण किया है ।[2]

१२.२ उपर्युक्त प्रतीकों के माध्यम से संत-कवियों एवं सूफी-कवियों के अन्तःकरण का प्रकाशन

कवि एक जागरूक प्राणी होता है अतः उसकी रचनाओं में समाज के रूप की झलक तो रहती ही है साथ ही उसमें उसके अन्तःकरण की झलक भी मिलती है । कवि जिस मनोवृत्ति का होता है अपने काव्य के लिये वह उसी प्रकार के प्रतीकों का चयन करता है । संत-कवियों का काव्य इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि इन कवियों के अन्तःकरण में समाज की बुराइयों को दूरकर मानव को अध्यात्म की ओर प्रेरित करने की भावनाएँ आसीन थीं, अतः इनके काव्य में समाज के उन लोगों के विरुद्ध जो बाह्याचारण द्वारा ढोंग दिखाया करते हैं, अनेक प्रतीक अपनाये गये हैं । आ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने लक्षित किया है कि कबीर का पंडित अत्यन्त अदना आदमी है, तत्त्व-ज्ञान से रहित, बाह्याचार के आतंक से आतंकित एवं आत्मज्ञान-शून्य, व्रत-उपासना का कट्टर विश्वासी और धार्मिक बन्धनों में अटूट विश्वास रखने वाला गवाँर ।[3] कबीरदास 'पंडित' के द्वारा इन सभी तत्त्वों की ओर संकेत कराना चाहते हैं । इसी प्रकार मुल्ला और काजी भी बाह्याचार के प्रतीक और प्रतिनिधि हैं, जिनकी प्रधानता कबीर के युग तक हो चुकी थी । न्यायकर्त्ता काजी न्याय का मखौल उड़ाने लगे थे । धर्म के आव-रण में कपटाचरण होता था । योगीवेश छल-कपटहीन जनता को ठगने का बहाना था । अतः संत-कवियों ने पंडित, मुल्ला, काजी आदि को बाह्याचार का प्रतीक माना है । उनके काव्य में इन प्रतीकों का बहुलता के साथ प्रयोग हुआ है ।

किन्तु सूफी-कवियों ने कर्मकाण्डी काजियों, मुल्लाओं एवं पण्डितों के लिये प्रतीक-योजना नहीं की है । इन कवियों ने सही अर्थों में केवल अव्यक्त को व्यक्त करने में प्रतीकों का सहारा लिया है । कहीं-कहीं एकाध स्थलों पर अवश्य 'डाढ़ी'

१– विस्तृत विवेचन के लिये देखिये—इसी पुस्तक के द्वितीय अध्याय को, पृ० ९७–९८ ।

२– वही, अध्याय ७ और ८ ।

३– कबीर, पृ० १३२ ।

का प्रयोग कर्मकाण्डबहुल काजियों के लिये हुआ है।[1] शेख रहीम ने ऐसे ही व्यक्ति के लिये 'खरीदार' शब्द का प्रयोग किया है। ऐसे व्यक्ति अपनी श्रद्धा, भक्ति, पूजा, उपासना, बाह्याडम्बर एवं लोकाचार सभी कुछ के बदले में 'रब' या 'कर्त्ता' से कुछ पाना चाहते हैं किन्तु 'रब' न तो बेचने वाला है और न बिकने वाला; ऐसे खरीदार उसे पा नहीं सकते।[2]

सन्त-कवियों के प्रतीकों पर भारतीयता की छाप है। उनके दाम्पत्य-प्रेम के प्रतीकों में पवित्रता और सात्विकता है। मिलन और विरह के चित्रों में वासना की दुर्गन्ध नहीं है जब कि सूफ़ी-कवियों के इन प्रतीकों पर वासना की छाप विद्यमान है। वस्तुत: सूफी-कवियों और सन्त-कवियों के दाम्पत्य-प्रतीकों में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी अन्तर है। सन्त-कवियों का प्रेम भारतीय पद्धति पर हैं और सूफी-कवियों का फारसी–पद्धति पर। इसके अतिरिक्त दाम्पत्य-प्रेम में सूफी-कवियों ने जहाँ रत्नसेन, पद्मिनी, नागमती आदि नामों को प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत प्रतीकात्मक रूप में लिया है वहाँ कबीर आदि सन्त-कवियों की प्रतिभा मुक्तक-क्षेत्र में पीव, दुलहा, बालम, राजाराम, बहुरिया, दुलहिन आदि प्रतीकों के माध्यम से मुखर हुई है। जहाँ सूफ़ी कवि शून्य, गगन, त्रिकुटी, सूर्य, चन्द्र आदि परम्परागत प्रतीकों में ही प्राय: घूमते रहे वहाँ सन्त-कवियों की वाणी ने कुम्हार, कलाल, बनजारे, जुलाहे आदि से भी सम्बन्ध स्थापित किया हैं। सन्त--कवियों की प्रतीक–पद्धति भारतीय संस्कारों पर आधारित है किन्तु सूफी-कवियों के प्रतीकों में सूफी-सिद्धान्तों को गुह्य रखा गया है।

१२.३ तालिका द्वारा इनके प्रतीकों के साम्य-वैषम्य का स्पष्टीकरण

सन्त-कवियों एव हिन्दी के सूफी-कवियों की इस काव्यगत प्रतीक की समता-विषमता को निम्नलिखित प्रतीक-सूची के माध्यम से अधिक सरलतापूर्वक समझा जा सकता है––

१– "है बैराग पंथ अति गाढ़ो, चलि न सकै जिनके मुख डाढ़ी॥"
—नूरमुहम्मद, अनुराग-बाँसुरी, पृ० ११९

२– "मक्के गये हज्ज करि आये, कपटी मन फिर संगै लाये।
मक्के और मदीने जावे, खरीदार रब का न पावै॥"
—भाषा प्रेमरस

सांकेतिक शब्द	सन्त-कवियों के प्रतीक	हिन्दी-सूफ़ी-कवियों के प्रतीक
बाह्याचार	पंडित, मुल्ला, काजी	डाढ़ी, खरीदार ।
ब्रह्म	जोतिसरूपी, सागर, कुम्हार,प्रीतम, दुलहा, खसम, कलाल आदि ।	नायिका, समुद्र, सूर्य, नट, चित्रकार ।
जीवात्मा	पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहिन, हंस, बादशाह, खग, सती, बांझ, वियोगिनी, सुन्दरी, वेली, गूजरि, प्रजापति, सुल्तान, राजा, शाह, बूँद, योगी, अंजनी आदि ।	नायक, हंस, बूँद, किरण, कठपुतली ।
शरीर	पिंड, घट, नौका, महल, चादर, वन, दुर्ग, कुम्भ, विरिछ, वंक, कूप, गोकुल, मंदिर, कागज की गुड़ी आदि ।	फुलवारी, पिंड, घट, दुर्ग, नौका, कुम्भ, माटी कर भाँड़ा ।
मन	मृग, मेढक, मूसा, सियार, भँवरा, वगुला, मत्त गजेन्द्र, कौवा आदि ।	
माया	साँपिणी, विलैया, कनक, कामिनी, मगर, हिरणी, पापिणी, डाकिणी, डाइन, विश्वासघातिनी, अनिष्टकारिणी आदि ।	अलाउद्दीन (पदमावत में), नायिकाओं की सपत्नियाँ, ठग, बटमार, नागिन, त्रिभुवनमोहिनी, विधिकुमारी, पापिन, छिनारि आदि ।
इन्द्रियाँ	पाण्डव, पाँच लरिका, सखी, सहेलरी, गाय आदि ।	पाँच कोतवाल, बटमार ।
गुरु	सतगुरु, सूरिवाँ,लुहार, वर्षाकालीन मेघ, मृग, पारस पत्थर, चंदन आदि ।	हीरामन तोता, पीर, परी, देव ।
कुंडलिनी	शिव-शक्ति, ईश्वरी, गौरी, नागिनी, मछली, पंषी, पनिहारी, धरती-आकाश ।	कुंड, बालरंडा ।
इड़ा-पिंगला	इंगला-पिंगला, चन्द्र-सूर्य, रात्रि-दिन गंगा-जमुना ।	गंगा-जमुना, चन्द्र-सुर्य, जुग, धूप-छाँह, रात-दिन, वाम-दक्षिण ।

सुषुम्ना	सुखमना, सुखमान, उलटी गंगा, बंक नालि।	सुरंग, नारी।
ब्रह्मरन्ध्र	शून्य	दशम-द्वार
षट्चक्र		सात खण्ड
मूलाधार चक्र	मूलकमल	
स्वाधिष्ठान चक्र	षट्दल कमल	
मणिपूरक चक्र	नाभिकमल	
अनाहत चक्र	द्वादशदल कमल, द्वादस, हिया पंकज।	
विशुद्ध चक्र	षोड्स कमल,	
आज्ञा चक्र	अकास, त्रिवेणी, गंगा-जमुना संधि, त्रिकुटी-संधि।	अकास
सहस्त्रार चक्र	गगन, गगन मंडल, शून्य, शून्य मंडल, भँवर, गुफा, औंधा कुआँ।	कैलास, कविलासा, माँग, सातवाँ गगन।
अनहद नाद	अनहद नूर, गगन का गरजना	राजवरिआर, घड़ियाल।
शरीअत, तरीक़त, मारिफ़त और हक़ीक़त		चारि बसेरे, भोगपुर, गोरखपुर, नेहनगर, रूपनगर[1] आदि।
हालावस्था		नायिका के गुणश्रवणकर या दर्शनकर नायक का बेसुध हो जाना।
पुले सरात		किलकिला समुद्र।
शैतान		नारद, राघव चेतन।

१– 'चित्रावली', पृ० ८०, ८१, ८२।

१३ | उपसंहार : निष्कर्ष

कवि की कल्पना के निर्माण का एक स्वरूप प्रतीक है। वैसे तो प्रतीक का क्षेत्र अति व्यापक है क्योंकि यह गणित, तर्क-शास्त्र, मनोविज्ञान, धार्मिक कर्मकाण्डों, ज्योतिष आदि के भी क्षेत्र में प्रयुक्त होता हैं, किन्तु साहित्यिक प्रतीक इन क्षेत्रों में प्रयुक्त प्रतीकों से प्रायः भिन्न अर्थ एवं भिन्न सत्ता रखते हैं। साहित्यिक प्रतीक स्वच्छन्द और भावसत्ता से सम्बद्ध होते हैं जबकि अन्य क्षेत्रों में प्रयुक्त प्रतीक रूढ़, परम्परागत और सांकेतिक अर्थमात्र को ध्वनित करते हैं। बीजगणित के प्रतीक रूढ़ होते हैं। धर्म एवं धार्मिक कर्मकाण्डों के प्रतीक संकेत के तात्त्विक सम्बन्धों पर आश्रित रहते हैं, परन्तु काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों का अपना एक विशेष महत्त्व और उपयोग होता है। 'हिन्दी-साहित्य-कोश' में कहा गया है कि प्रतीक कई कार्य कर सकते हैं–[१]

(१) किसी विषय की व्याख्या करना,

(२) उसको स्वीकृत कराना,

(३) पलायन का पथ प्रस्तुत करना,

(४) सुप्त या दमित अनुभूतियों को जागृत करना और

(५) अलंकरण या प्रदर्शन का साधन होना।

यद्यपि काव्य में प्रतीक किसी-न-किसी रूप में ये सभी कार्य करते हैं किन्तु उनका मुख्य कार्य है–वस्तु या भाव के आध्यात्मिक अथवा मानसिक अर्थों का प्रतिनिधित्व करना। इस कारण प्रतीक का सर्वप्रमुख गुण उसकी प्रतिनिधित्व करने की शक्ति अथवा व्यंजनात्मकता मानी जा सकती है। अनुभूति, भाव या वस्तु की सम्यक् व्यंजना ही प्रतीक का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य है, उसका एकमात्र कार्य है। वैसे तो मनुष्य का समस्त जीवन ही प्रतीकों से परिपूर्ण है, वह मूलतः प्रतीकों के माध्यम से ही सोचता है क्योंकि अमूर्त चिन्तन अधिक विकसित स्तर का लक्षण है। मानव-जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही पक्ष प्रतीकाश्रित है। प्रतीक

१–"हिन्दी-साहित्य-कोश"-पृ० ४७५.

गागर में सागर की स्थिति का स्वतः प्रतीक है। प्रतीक कवि के अभीप्सितार्थ को प्रांजलतापूर्वक व्यक्त करते हैं, इसी कारण काव्य की शिल्प-योजना में उनका निजी महत्त्व होता है। कवि जो भाव एवं अनुभूतियाँ अनेक पृष्ठ रंगकर भी स्पष्ट नहीं कर पाता है, उसी को वह प्रतीकों के माध्यम से एक-दो पंक्तियों में ही अभिव्यक्त कर देता है।

अनुभूतियों में भी रहस्यात्मक अनुभूतियों से प्रतीक का विशेष सम्बन्ध है। वस्तुतः भाषा के माध्यम से केवल लौकिक कार्य-कलापों की अनुभूतियाँ ही व्यंजित हो पाती हैं, आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये तो भाषा का माध्यम अत्यन्त अपूर्ण, अशक्त एवं अक्षम है, "क्योंकि जिसने परमात्मा को जान लिया है, उसकी जिह्वा में शक्ति नहीं रह जाती कि वह कुछ कह सके"[1] आध्यात्मिक अनुभूतियाँ तो 'गूँगे के स्वाद' के समान हैं। साधक उस अविगत, असीम, एवं अनुपम तत्त्व को देखता है, किन्तु प्रयत्न करने पर भी वह अपनी उस अनुभूति की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ रहता है। मिठाई खा चुकने वाले गूँगे की भाँति वह मन-ही-मन प्रसन्न होता है और केवल संकेत करता है।[2]

दादू को भी इसी उलझन का सामना करना पड़ा था –

"केते पारिख पचि मुये, कीमत कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं, गूँगे का गुड़ खाइ॥"

अतः रहस्यवादी कवि अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये इसी सांकेतिक भाषा (प्रतीकात्मक पद्धति) का आश्रय ग्रहण करता है। स्पष्ट है कि जब भाषा संवेदजन्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ हो जाती है तब कवि एक ऐसे कलात्मक युक्ति की खोज करता है जो उसकी अशरीरी सूक्ष्म, भाव-प्रधान अनुभूतियों को वाणी का परिधान दे सके। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिये जो एक माध्यम चुनता है वह है प्रतीक योजना। इसके द्वारा वह अपने अन्तर्जगत की समस्त बातें कह लेता है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रतीक किसी अदृश्य या अव्यक्त सत्ता के दृश्य और व्यक्त रूप होते हैं।

यद्यपि प्रतीक मूलरूप में बिम्ब हैं और काव्यात्मक अभिव्यक्ति में उनका

१-श्री राजपूजन तिवारी-"सूफीमत : साधना और साहित्य" पृ० ६३.

२-"अविगत सकलै अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई।
सैन करे मन-ही-मन रहसे, गूँगे जानि मिठाई॥"
"कबीर-ग्रन्थावली'-पृ० ९०.

स्वरूप मिश्रित–सा रहता है। आवृत्ति और समय के साथ-साथ बिम्ब रूढ़ हो जाने पर प्रतीक बन जाते हैं, परन्तु फिर भी उनमें अन्तर है, वे दोनों एक नहीं हैं। बिम्ब प्रतीकात्मक अर्थों में प्रयुक्त अवश्य हो सकते हैं पर वे प्रतीक नहीं हैं। मूलरूप की समानता होते हुए भी उनमें अनेक रूपगत अन्तर हैं। प्रतीक जातीयचेतना द्वारा निर्मित होते हैं जबकि बिम्ब वैयक्तिकचेतना से। प्रतीक का उद्देश्य प्रतिनिधित्व करना है जबकि बिम्ब का उद्देश्य मूर्तीकरण करना है। इसी प्रकार प्रतीक अलंकारों से भी भिन्नता रखते हैं। यद्यपि अनेक विद्वानों ने प्रतीक को अलंकारों में प्रयुक्त उपमान तथा उपमा या रूपक का संक्षिप्त संस्करण अथवा रूपकातिशयोक्ति माना है पर वस्तुतः ऐसा है नहीं, प्रतीकों में सादृश्य की अपेक्षा भावोद्‌बोधन की शक्ति का रहना आवश्यक है जबकि उपमान में सादृश्य के आधार का रहना अपरिहार्य माना गया है। यद्यपि प्रतीक तथा अलंकार दोनों में प्रस्तुत अप्रस्तुत का विधान रहता है, किन्तु उपमा में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की पृथकता रहती है और रूपक में वे एकरूपता को प्राप्त कर लेते हैं, पर प्रतीक दोनों का स्थान ग्रहण कर लेता है। प्रतीक और रूपकातिशयोक्ति में भी अन्तर है। रूपकातिशयोक्ति में जिन उपमानों का प्रयोग होता है, वे रूढ़ होते हैं और उनका प्रयोग केवल रूढ़ अर्थ में ही किया जाता है, किन्तु प्रतीकों के रूढ़ होने पर भी कवि उन्हें नवीन अर्थो से आवृत्त कर लेता है। इस प्रकार सभी प्रतीक रूढ़ उपमान नहीं होते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रतीक अलंकार-प्रणाली के अन्तर्गत होते हुए भी उनसे भिन्न है।

बिम्ब और अलंकार की भाँति प्रतीक संकेत से भी भिन्नता रखते हैं। यद्यपि आजकल साधारणतः लोग प्रतीक और संकेत को पर्याय मानने लगे है किन्तु वस्तुतः ऐसी धारणा भ्रान्तिमय है। प्रतीक प्रस्तुत का स्थानापन्न होता है जबकि संकेत प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत की ओर इंगित मात्र होता है। परोक्ष या अज्ञात वस्तु के चित्रण को प्रतीक कहा जाता है और जब किसी प्रत्यक्ष किन्तु सूक्ष्म और भावात्मक सत्ता की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सामान्य और स्थूल वस्तु के चित्रण द्वारा होती है तो उसे संकेत की संज्ञा दी जाती है। स्पष्ट हैं कि प्रतीक को संकेत नहीं कहा जा सकता।

प्रतीकों की परम्परा अति प्राचीन है। वैसे तो विद्वानों ने प्रतीकात्मकभाषा को आदिमभाषा का ही एक रूप माना है, किन्तु काव्य-क्षेत्र में प्रतीकों का सर्वप्रथम प्रयोग वैदिक-साहित्य में उपलब्ध होता है। वेद, उपनिषद एवं पौराणिक ग्रंथों में प्रतीक के प्रभूत प्रमाण उपलब्ध हैं। वैदिक-साहित्य में उद्‌भूत इन प्रतीकों का लौकिक संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश-साहित्य में और अधिक विकास हुआ। हिन्दी-साहित्य

में हिन्दी के सूफी-काव्य का महल तो प्रतीकों की नींव पर ही खड़ा है। यद्यपि इसके पूर्ववर्ती साहित्य सिद्ध तथा नाथ-काव्य, वीरगाथाकालीन काव्य तथा संत-काव्य में भी प्रतीकों का प्रयोग हुआ था किन्तु वहाँ प्रतीक साध्य न होकर केवल साधनमात्र थे; जबकि हिन्दी-सूफी-काव्य में प्रतीकों का प्रयोग साध्यरूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त नाथयोगियों, हठयोगियों आदि के प्रतीक सामान्य जनता से दूर थे, क्योंकि उन्होंने अपनी रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति जिस प्रतीकात्मक-भाषा में की थी उसे केवल योग-साधना के सिद्धान्तों से परिचित व्यक्ति ही समझ सकते थे। किन्तु हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपनी बात को जनता तक संप्रेषित करने के लिये अपनी रहस्यानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये सरल प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया और इसमें उन्हें सफलता भी मिली। संतों और हठयोगियों का साहित्य जनता को आकर्षित न कर सका था, किन्तु इन हिन्दी-सूफी-कवियों के प्रतीकात्मक प्रेमाख्यानों ने जनता के हृदय को जीत लिया।

प्रायः सभी हिन्दी के सूफी-कवि एक अलौकिक प्रतिभा एवं सत्यानुभूति से युक्त थे। अन्तस्तम की गुहा में निहित जिस दुर्लभ निगूढ़ तत्व की अनुभूति उन्हें आत्मचिन्तन के द्वारा खण्ड सत्यों के रूप में हुई थी, उनको उन्होंने प्रेमाख्यानों का रूप देकर प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की थी। मुल्ला दाउद, जायसी, मंझन, उसमान, जान, नूरमुहम्मद, शेखनिसार, ख्वाजा अहमद आदि हिन्दी के सूफी-कवियों ने प्रेमगाथाओं का सृजन करके हिन्दी में प्रेमकाव्यों की एक धारा ही प्रवहित कर दी है, जो चौदहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक धीरे-धीरे प्रवाहित होती चली आ रही है। इन सूफी कवियों द्वारा प्रणीत समस्त रचनाएँ एक प्रकार से कथारूपक के अन्तर्गत आती हैं।

इन प्रेम-काव्यों का वर्ण्य-विषय साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से अनुपम है। इन प्रेमाख्यानों से जहाँ एक ओर साहित्यिक विकास में योग मिला है वहीं दूसरी ओर उनके काव्य में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं गार्हस्थ्य जीवन भी साकार हो गया है। लोकभाषा में प्रणीत ये कथाएँ केवल प्रेम-कथाएँ न रहकर धर्म-कथाएँ भी बन गयी, क्योंकि ये सूफी-सिद्धान्त एवं साधना के नियमों से अनुप्राणित हैं। इन लौकिक कथाओं में यद्यपि दिव्य-प्रेम की झाँकी है किन्तु ईश्वरीय प्रेम के साथ-साथ विश्वप्रेम की भागीरथी को प्रवाहित करने में भी इनका बड़ा हाथ रहा है। इस साहित्य का भवन प्रेम के पुट से बड़ा मनमोहक और सर्वग्राह्य हो गया है। विच्छिन्न होती हुई सामाजिक व्यवस्था में समन्वय स्थापित करके शान्ति और हृदयगत प्रेम की स्थापना में इन कवियों का अत्यधिक योग है। इनके प्रेमाख्यानों में निरूपित प्रणयवाद मानव-समाज के लिये भी वरदान रूप में है। जो मनुष्य मनुष्य

से प्रेम नहीं कर सकता वह भला ईश्वर से क्या कर सकेगा ?

मानव-जीवन के महान मूल्य को आंकने में इन हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है। इन्होंने क्षुद्र स्वार्थ भावना, मानसिक कालुष्य एवं श्वानप्रवृत्ति-सी युद्ध-लोलुप लिप्सा को मिटाकर संघर्षरहित विश्व-समाज का निर्माण करने का प्रयास किया है। इनकी सामाजिक व्यवस्था का आधार प्रेम है। किन्तु आज के इस भौतिकवादी युग में यह प्रश्न उठ सकता है कि उनकी इस आध्यात्मिक प्रेम-साधना से विश्व-समाज कहाँ तक प्रभावित हो सका है ? आज भी उद्दाम भोग-लिप्सा लहरा रही है, जिसमें आध्यात्मिकता का लेशमात्र भी अंश नहीं है। दूसरों को जलाकर स्वयं द्वेष-दाह में दग्ध होता हुआ मानव आज भी उसी पुरानी बर्बर राह पर चला जा रहा है। वही पारस्परिक जातिगत भेद-भाव आज भी व्याप्त है। हिन्दी-मुस्लिम की जिस खाई को पाटने मे इन कवियों ने थोड़ी-सी सफलता प्राप्त की थी, वह खाई आज पुनः चौड़ी हो गयी है। वही अपहरण, शोषण, कुत्सित अभियान एवं दूसरों को नष्टकर स्वयं का निर्माण सततगति से हो रहा है। तो फिर हिन्दी-सूफी-कवियों के इन प्रेमाख्यानों से मानव-जाति को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान में क्या सहयोग मिला है ? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि यहाँ राम-कृष्ण, गौतम-गाँधी, ईसा-मुहम्मद आदि संत महात्मा आये और सब अपना संदेश सुनाकर चले गये। आने वाले समाज ने उनका मौखिक बखान तो किया, उनके आगे अपना गर्वोन्नत माथा तो झुकाया, पर वे उनका अनुकरण करने में असफल रहे।

शाश्वत सर्वयुगीन इन हिन्दी-सूफी-काव्यों की महत्ता निर्विवाद है। शोषण और उत्पीड़न तथा भौतिकता के गर्त्त में विलीन संस्कृति के ध्वंसावशेषों पर जब प्रेमाभिसिंचित नवयुग की संस्कृति का निर्माण होगा तब अध्यात्म से ओतःप्रोत, विश्वबन्धुत्व की भावना से प्रेम के एक सूत्र में बन्धे समाज की रचना-प्रक्रिया में इन हिन्दी के सूफी–काव्यों की देन और भी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी।

वस्तुतः प्रेम जीव-मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। पशु-पक्षी से लेकर मानव तक सभी इसकी शृंखला में आबद्ध हैं। हिंस्र सिंहनी जब अपने नवजात शिशु को स्तन पान कराती है उस समय उसकी क्रूर दृष्टि से पुत्र-वात्सल्य की स्निग्ध पयस्विनी प्रवाहित होने लगती है। सूफियों की साधना इश्क़ (प्रेम) की साधना है। मारिफ़त के भावावेगमय रूप का ही नाम प्रेम है। सूफियों का यह प्रेम प्रच्छन्न के प्रति है जो बहुत कुछ व्यक्तिगत रहस्यवादी अनुभूति पर आधारित है। ईश्वर को प्राप्त करने के जितने साधन बताये गये हैं उनमें प्रेम का स्थान सर्वोच्च

है। अबूतालिब का कथन है कि प्रेम से परमात्मा सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन होता है और उसके स्वरूप का परिचय मिलता है। सूफ़ी-साधक अलशिबली के कथनानुसार प्रेम हृदय में अग्नि के समान है जो परमात्मा की इच्छा के सिवा अन्य सभी वस्तुओं को जलाकर भस्म कर देता है। इस प्रकार सूफ़ी-मत की साधना-पद्धति प्रेम पर ही आश्रित है। हिन्दी के सूफी-कवियों ने भी आध्यात्मिक प्रेम की उपलब्धि के लिये सांसारिक प्रेम को प्रतीक-रूप में ग्रहण किया है। वे इन्द्रियों द्वारा गृहीत सौन्दर्य को उसी सौन्दर्यशाली की एक छटा का प्रतीक मानते हैं तथा यत्र-तत्र सर्वत्र उसी प्रियतम के सौन्दर्य का दर्शन करते हैं।

सूफ़ी-साधक स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर देने में ही अपनी चरम सार्थकता मानते हैं। आन्तरिक प्रेम-निवेदन सूफियों की आध्यात्मिक जीवन रूपी यात्रा (सफर) का एक आवश्यक पाथेय है। सूफी साधक अबू अब्द अल्लाह अल क़ुरशी का कथन है कि प्रेम वही है जिसमें परम प्रियतम परमात्मा को अपना सर्वस्व समर्पित कर देना होता है और उसके बाद साधक के पास कुछ नहीं रह जाता। सभी धर्मों ने इस बात को एकमत से स्वीकार किया है कि स्त्री से बढ़कर स्फुट साक्षात् प्रेममय और मधुर प्रतीक हमारे इस लोक में पुरुष के लिये दूसरा नहीं है। इसी प्रतीक के माध्यम से हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपने प्रेम-मार्ग और प्रेमकाव्य के उपकरणों का निर्माण किया है। उनके नायक जीवात्मा के प्रतीक हैं जो नायिका रूपी पर-मात्मा के प्रेम में आबद्ध होकर अपना घर-बार छोड़ सर्वस्व त्यागकर उसकी प्राप्ति के लिये चल देते हैं। उनका यह प्रयाण सूफी-साधक की आध्यात्मिक यात्रा का प्रतीक है। नायिका या प्रेमिका तो प्रतीक मात्र है। नायक की प्रेममार्गी साधना अध्यात्म के प्रति तीव्र आकर्षण का प्रतीक है। यद्यपि अधिकांश हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों में रति एवं श्रृंगार के अनेक उभरे हुए चित्र चित्रित किये हैं, पर ये समस्त रागानुगी प्रतीक काव्यपक्ष के रसात्मक निर्वाह के लिये ही हैं, अन्यथा फिर ये हिन्दी के सूफी-कवि काव्य-सृजन न करके 'हठयोग-प्रदीपिका' की ही रचना करते।

चूँकि प्रतीक मानव-जीवन के समग्र क्षेत्रों में परिव्याप्त हैं अतः मानव अपनी अनेकानेक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से करता है। विभिन्न अनुभूतियों की भाँति प्रतीक भी अनेक प्रकार के होते हैं। अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने इन अनेकमुखी विविध प्रतीकों के भेदों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। इन समस्त वर्गीकरणों को ध्यान में रखते हुए साहित्य में प्रच-लित प्रतीकों के आधार पर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्रतीकों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

१– सार्वभौम प्रतीक,
२– देशस्थ प्रतीक,
३– परम्परागत प्रतोक,
४– साधनात्मक साम्प्रदायिक प्रतीक,
५– रहस्यात्मक संकेतसूचक प्रतीक
६– रूपकात्मक प्रतीक और
७– लक्षणामूलक प्रतीक ।

हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपनी श्लेषमयी भाषा से प्रतीकों के इन स्तरों का अद्‌भुत निर्वाह किया है । यद्यपि सार्वभौमिक प्रतीक संख्या में कम ही होते हैं किन्तु हिन्दी-सूफी-कवियों के प्रेमाख्यानों में इन अत्यल्प प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है। चूँकि सभी हिन्दी सूफी-कवि मुस्लिम हैं अतः इनके प्रेमकाव्यों में सूफी-साधना एवं फारस देश के उपमान प्रतीक-रूप में अधिक व्यवहृत हुए हैं किन्तु इसके साथ ही भारतीय प्रतीक भी इनके काव्य के उपजीव्य बने हैं । इस प्रकार इनके प्रेमकाव्यों में फारस एवं भारत इन दोनों देशों के प्रतीकों का सामंजस्य हुआ है । परम्परा से चले आ रहे प्रतोकों के प्रयोग द्वारा भी इन हिन्दी के सूफी-कवियों ने अपने काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाया है । यदि उन्होंने एक ओर सिद्धों एवं नाथपंथियों के सूर्य, चन्द्र, गंगा-यमुना, त्रिवेणी, दशम-द्वार आदि प्रतीकों को, रसायनिकों और धातुवादियो के सोना, रूपा, पारा, गंधक, कंचन, सीसा, सोहाग आदि प्रतीकों को और सहजयानियों के मरजिया शून्य, पान, सुपारी, कत्था, चूना चौरस का खेल आदि पारिभाषिक प्रतीकों को स्वीकार किया है तो दूसरी ओर उन्होंने खंजन मीन, मृग, कमल, नागिन, कालिंदी, दामिनि, सारस-जोरी, हंस आदि साहित्यिक प्रतीकों एवं राम, लक्ष्मण, सीता, नल, दमयंती आदि पौराणिक प्रतीकों को भी अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है ।

इसके अतिरिक्त इन हिन्दी-सूफी-कवियों ने सिद्ध, नाथ, संत और सूफी-सम्प्रदाय के साधनात्मक प्रतीकों को भी अपनाया है । चूँकि ये कवि भारतीय योग–साधना और सूफी प्रेम-साधना दोनों से ही प्रभावित हैं अतः इन्होंने अपने काव्य में जहाँ सूफियों के प्रेम व सौन्दर्यपरक साधना के प्रतीकों का प्रयोग किया है वहाँ इन्होंने भारतीय योग-साधना के कुण्डली योग, हठ योग और तंत्र-मंत्र साधना के प्रतीकों को भी स्वीकार किया है । अस्पष्ट एवं अतीन्द्रिय सत्ता से सम्बन्धित प्रतीक रहस्यात्मक संकेत सूचक प्रतीक कहलाते हैं। हिन्दी के सूफी कवियों ने अपने प्रेम-काव्यों में इन प्रतीकों को भी प्रयुक्त किया है। दिव्य-प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये इन्होने प्रेमी-प्रेमिका और पति-पत्नी के प्रतीकों को अपनाया है । उन्होंने नायक को जीवात्मा, नायिका को परब्रह्म, जीवात्मा को वधू तथा ससुराल को पर-

लोक मानकर अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। इसके अतिरिक्त इन कवियों ने चित्र, कठपुतली, बूँद, किरण आदि को जीव तथा चित्रकार, नट, समुद्र, सूर्य आदि को परब्रह्म का प्रतीक मानकर इनके माध्यम से जीव की लघुता और परब्रह्म की महानता की ओर संकेत किया है। काल के वशीभूत जीव की दशा को इन कवियों ने मैना और बाज, मैना और मार्जारी प्रतीकों के द्वारा व्यक्त किया है। माया के लिये इन्होंने सपत्नियों, पंचेन्द्रियों, ठग, बटमार आदि प्रतीकों को लिया है।

इन रहस्यवादी हिन्दी-सूफी-कवियों ने अपनी रहस्यानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये रूपकात्मक प्रतीकों का भी आश्रय ग्रहण किया है। इसके लिये इन्होंने दुलहा-दुलहिन का गौने का और पनिहारिन आदि का रूपक बाँधा है तथा इन रूपकात्मक प्रतीकों के माध्यम से काव्य की रमणीयता को बढ़ाया है। इसके साथ ही लक्षणामूलक प्रतीकों ने तो उनके काव्य-सौन्दर्य की भाव-व्यंजना में चार-चाँद ही लगा दिये हैं। इन हिन्दी के सूफी-काव्यों में यदि एक ओर रूढ़ लक्षणामूलक प्रतीकों का सौन्दर्य निहित है तो दूसरी ओर प्रयोजनवती लक्षणामूलक प्रतीकों के प्रयोग से भी काव्य-सौष्ठव की वृद्धि हुई है। इसके साथ ही इन हिन्दी के सूफी-कवियों ने शब्दों को नये अर्थ के आयाम में प्रस्तुत कर लाक्षणिक प्रतीकों के वैभव का जो दिग्दर्शन कराया है, वह अनुपम है। इन लक्षणामूलक प्रतीकों के प्रयोग से प्रेमाख्यानों के वर्ण्य-विषय में स्पष्टता आयी है और साथ ही भावों में तीव्रता भी उत्पन्न हो गयी है। लाक्षणिक प्रतीकों की सहायता से अभिप्रेत भावों को स्पष्ट करने में इन कवियों को पूर्ण सफलता मिली है। इस प्रकार हिन्दी-सूफी-कवियों ने प्रतीकों के कई भेदों—उपभेदों का प्रयोग कर अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है।

हिन्दी के सूफी काव्य में प्रयुक्त इन प्रतीकों ने अपने परवर्ती साहित्य पर भी प्रभाव डाला है। शब्द की जिस व्यंजना-शक्ति से सूफी-कवियों ने काम लिया है वही व्यंजना-शक्ति कृष्ण-भक्त-कवियों के काव्य में भी दिखायी पड़ती है। उनके कृष्ण परब्रह्म के प्रतीक हैं और गोपियाँ जीवात्माओं की। गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति प्रेम जीवात्माओं का परब्रह्म के प्रति प्रेम का प्रतीक है। रीतिकाल में रीति-मुक्त कवियों पर इनके प्रतीकों का प्रभाव परिलक्षित होता है। सूफी-कवियों की भाँति इन्होंने नायिका को परब्रह्म का प्रतीक स्वीकार किया है; यथा—घनानन्द जी ने अपने कवित्तों में सुजान को परब्रह्म का प्रतीक माना है।

कृष्ण-भक्त कवियों और रीतिकालीन कवि घनानन्द पर तो इन प्रतीकों का अल्पमात्रा में ही प्रभाव पड़ा है। सूफी-कवियों के प्रतीकों का विशद प्रभाव हमें छायावादी और रहस्यवादी कवियों के साहित्य पर दिखायी पड़ता है। सूफी-कवियों

की भाँति ये कवि भी प्रकृति के सौन्दर्य को उसी परब्रह्म के सौन्दर्य का प्रतीक मानते हैं और प्रकृति के नानारूपों में उसी की छाया देखते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी छाया-वाद की इस प्रतीकमयी भाषा से प्रभावित होकर उसके माध्यम से अपनी अनुभूतियों की जो अभिव्यक्ति की, उसने संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। छायावादी एवं रहस्यवादी-साहित्य में पुनः वही प्रियतम आलम्बन बना और सर्वत्र उसी की आभा छिटकने लगी। उषा में उसी का हास, संध्या की लालिमा में उसी का लालित्य चाँदनी में उसी का रूप, लहरों में उसी की सिहरन और वायु में उसी का संचार प्रतीत होने लगा। सुमन उसी के रोमांकुर तथा सूर्य और चन्द्र उसी के नेत्र बन गये। उसकी दिव्य विभूति और रम्य छटा के दर्शन अणु-अणु और पत्ती-पत्ती में होने लगे। इन रहस्यावादी कवियों ने अपनी रहस्यनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये चित्रभाषा को अपनाया, जिससे उनके काव्य में प्रतीकों का बोल-बाला हुआ और प्रतीकों ने उनके काव्य-सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया।

परब्रह्म के सर्वत्र आलोकित होने वाले सौन्दर्य ने इन कवियों के प्रेम को उद्दीप्त कर दिया। प्रेम के जाग्रत होते ही विरहानुभूति हुई और प्रेम विरह की पीड़ा में परिवर्तित हो गया, जिससे कवि के हृदय की वीणा के तार-तार झंकृत हो गये। अव्यक्त सत्ता पुनः चिरप्रतीक्षा, चिरचिन्तन, चिरमिलन और चिरमादकता का विषय बन गयी। प्रेमोपासना में परब्रह्म के प्रतीक बनते ही सुरा, सुराही और साकी के प्रतीक भी काव्य के उपजीव्य बन गये। इस प्रकार हिन्दी-सूफ़ी-काव्यों में प्रयुक्त प्रतीकों ने भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के हिन्दी-साहित्य को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित अवश्य किया है।

अब हमें यह देखना है कि प्रतीकों के माध्यम से अपनी रहस्यानुभूतियों की अभि-व्यक्ति करने के अतिरिक्त प्रतीकों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाने में हिन्दी के इन सूफ़ी कवियों का और क्या उद्देश्य था ? अवश्य ही प्रतीकों के प्रयोग से गुह्य-विद्या की मर्यादा बनी रहती है और लोग उसका ज्ञान भी सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं। सूफ़ी भी अपनी विद्या को गुह्य रखते हैं। उनका तो कथन ही है-"मुहम्मद साहब ने इस विद्या का प्रचार गुप्त रीति से किया था।"[१] सूफियों ने सदा इस बात पर बल दिया है कि तसव्वुफ़ की व्याख्या इस ढंग से करनी चाहिये कि उसकी गुह्यता भी बनी रहे और उससे जनता का पूर्ण मनोरंजन भी हो जाय। धीरे-धीरे प्रतीकों का प्रचार सूफियों में इतना व्यापक और गहरा हो गया कि सभी पंथों ने उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की और उनके आवरण में ही अपने मत का प्रदर्शन ठीक समझा। हिन्दी के

1– Macdonald-'Muslim Theology' P. 240.

सूफी कवियों ने भी इस प्रतीक-शैली को अपना कर एक ओर तो अपने सूफी-सिद्धान्तों को गुह्य रखा है और दूसरी ओर धर्मान्ध इस्लामी कट्टरता से अपनी रक्षा की है। उस युग में जो भी मुस्लिम सिद्धान्तों के विरुद्ध कुछ कहता था, उसे मौत के घाट उतार दिया जाता था; यथा—मंसूर हल्लाज के 'अन्-अल्-हक' (मैं ही सत्य हूँ) का सिद्धान्त प्रतिपादित करने पर उसे मौत की सजा दी गयी थी, क्योंकि इस्लाम में खुदा के सम्बन्ध में कहा गया है कि अल्लाह एक है; न उससे कोई पैदा हुआ और न वह किसी से पैदा हुआ; न ही कोई उसकी समता का है। अस्तु, कट्टर उल्मा वेदान्त से प्रभावित मंसूर हल्लाज के इस 'अन्-अल्-हक' के सिद्धान्त को कैसे स्वीकार कर सकते थे ? अतः उन्होंने उसको कत्ल करवा दिया।

इस प्रकार सूफी-कवियों ने इस्लाम की कट्टरता एवं धर्मान्ध शासकों की क्रूरता से आत्मरक्षा के लिये प्रतीकों का सहारा लिया। उन्होंने प्रतीकों की ओट में इस्लाम की कर्मकाण्डता का शिकार किया; उन पर व्यंग्य किये; किन्तु उन पर किसी प्रकार का दोषारोपण न हुआ। इस्लाम-धर्म में दूसरे के धर्म एवं संस्कृति के लिये जरा भी सहिष्णुता नहीं है। मुहम्मद साहब ने तो तलवार के बल से अरब देश में मुस्लिम-धर्म का प्रचार करने में सफलता प्राप्त कर ली थी किन्तु उनके अनुयायी भारत देश में ऐसा करने में समर्थ न हो सके। सूफी राज्य-सत्ता के विरोध में पहले ही पराजित हो चुके थे वे यह बात भली-भाँति समझ गये थे कि राज्य-सत्ता के विरोध में वे पनप नहीं सकते हैं। साथ ही भारत में जिस समय सूफीमत का आगमन हुआ था वह इस्लाम का ही एक अंग बन चुका था इसलिये अब सूफियों का उद्देश्य भी इस्लाम का प्रचार करना था। किन्तु उन्होंने उसके प्रचार का जो ढंग अपनाया, वह प्रच्छन्न था। उन्होंने हिन्दू-कथाओं, उनके आचार-विचार तथा हिन्दी भाषा आदि को प्रतीक-रूप में अपनाकर मुस्लिम-धर्म एवं संस्कृति की ओर हिन्दू जनता को आकर्षित कर लिया। मुस्लिम शासक तलवार के जोर से भी जिस कार्य को करने में सफल न हो सके थे, उसे इन हिन्दी-सूफी-कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से कर दिखाया। उन्होंने प्रतीकों की ओट से अपने मत का प्रचार करके मुस्लिम समाज, धर्म एवं संस्कृति की ओर भारतीय जनता को आकर्षित कर लिया। इस प्रकार नवोत्थान काल में इन प्रतीकों ने ही हिन्दी-सूफी कवियों की इस्लामी कट्टरता और मुस्लिम शासकों की धर्मान्ध क्रूरता से रक्षा की और बाद में प्रतीक ही सूफीमत की अभिव्यंजना और प्रचार में समर्थ हो सके।

उपर्युक्त अध्ययन से हिन्दी के सूफी-काव्यों में जो प्रतीक-योजना हुई है उसकी महत्ता और उत्कृष्टता प्रकट हो जाती है। हिन्दी-सूफी-काव्यों की इस प्रतीक

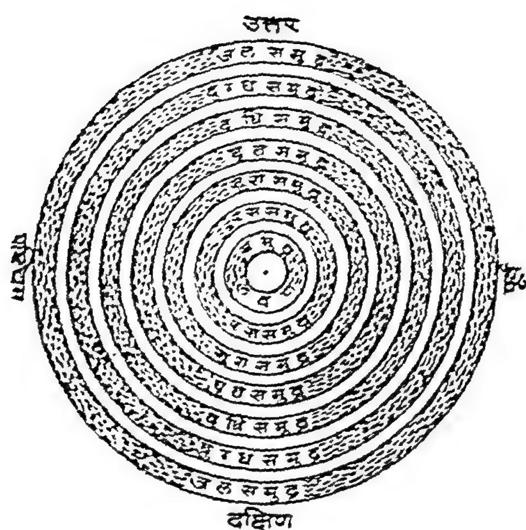
योजना के आधार पर कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकल सकते हैं। इस प्रतीक-योजना का अध्ययन करने से तत्कालीन विचारधारा के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का स्पष्टीकरण होता है; राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक स्थिस्तियों का दिग्दर्शन होता है। अस्तु, इन सब कारणों से हिन्दी साहित्य में सूफी कवियों द्वारा की गयी प्रतीक-योजना अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है । इस अनुपम प्रतीक-योजना के कारण ही हिन्दी-सूफी-कवियों के प्रेमकाव्य सदैव हिन्दी-साहित्य के अलंकार रहेंगे ।

परिशिष्ट १

चित्र एवं उनका परिचय

पुराणों में वर्णित समुद्र[1]

जायसी के द्वारा वर्णित समुद्र पुराणोल्लिखित समुद्रों से बहुत कुछ साम्यता रखते हैं। पुराणों में वर्णित समुद्रों का विवरण इस प्रकार है—

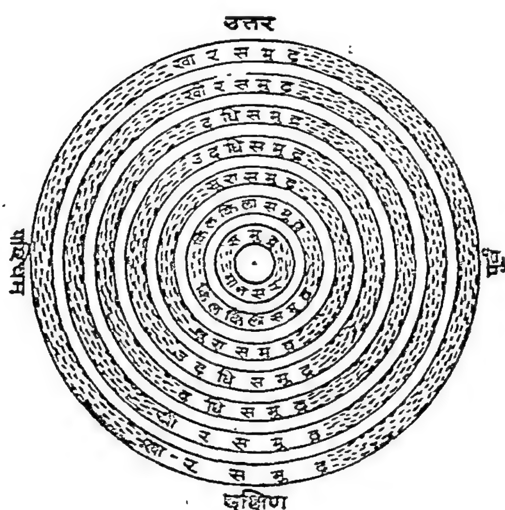


---

१. कल्याण-शक्ति, अंक-योगांक

जायसी के द्वारा वर्णित समुद्र[1]

जायसी ने अपने 'पदमावत' में निम्नलिखित सात समुद्रों का वर्णन किया है–



स्पष्ट है कि पुराणों की भाँति यद्यपि जायसी ने भी समुद्रों की संख्या सात मानी है किन्तु घृत, रस और लवण समुद्रों के स्थान पर जायसी ने उदधि, किलकिला और मानसर समुद्रों की कल्पना की है। उदधि और किलकिला समुद्रों की कल्पना का कारण सम्भवतः यह है कि जायसी ने सूफी साधक होने के कारण इन समुद्रों के माध्यम से 'पुले-सरात' की भयंकरता का वर्णन करने का प्रयास किया है। यह वर्णन पुराणों में वर्णित समुद्रों के माध्यम से सम्भव न था। किलकिला समुद्र का वर्णन जायसी ने पूर्णतः 'पुले-सरात' की भाँति ही किया है। 'पुले-सरात' की भाँति यह भी तीस सहस्त्र कोस लम्बा है और बाल से भी अधिक तीक्ष्ण तथा पतला है। जो धर्मात्मा इसे पार कर लेता है, उसे स्वर्ग मिलता है और पापी पातालगामी हो जाता है। मानसर समुद्र 'पुले-सरात' को पार कर मिलने वाले स्वर्ग का प्रतीक है।

---

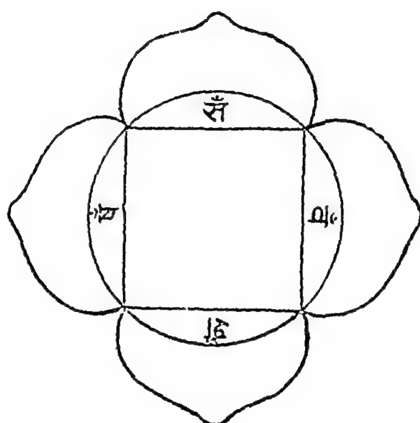
१. जायसी-ग्रंथावली, सात-समुद्र-खण्ड

शरीर में षट्चक्र

मेरुदंड के समानान्तर सुषुम्ना नाड़ी के विस्तार में नीचे से ऊपर तक छः चक्र हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं–

१– मूलाधार चक्र,
२– स्वाधिष्ठान चक्र,
३– मणिपूरक चक्र,
४– अनाहत चक्र,
५– विशुद्ध चक्र, और
६– आज्ञा चक्र।

प्राणायाम की स्थिति में इन चक्रों की सिद्धि दिव्यानुभूति में परिणत होती है। मूलाधार चक्र में कुंडलिनी है जो जागृत होकर इन षट्चक्रों का भेदन कर सहस्त्रदल कमल में पहुँचती है और योगी को चरम सिद्धि तक पहुँचा देती है। इन षट्चक्रों के चित्र और उनकी व्याख्याएँ[1] इस प्रकार हैं–

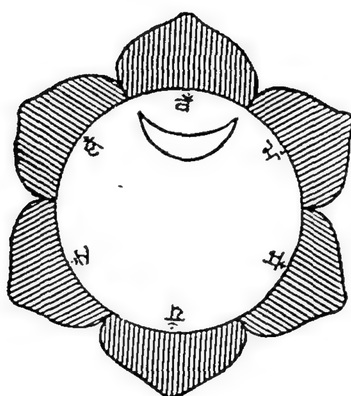


चित्र १– मूलाधार चक्र

षट्चक्रों में से पहला मूलाधार चक्र है। यह चक्र गुह्य स्थान के समीप स्थित

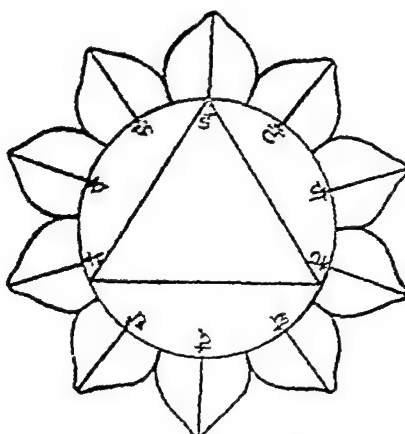
१. ये चित्र और व्याख्याएँ डा० रामकुमार वर्मा की पुस्तक 'संत कबीर' से लिये गये हैं।

है। यहीं कुंडलिनी शक्ति का निवास है। चतुर्दल कमल के आकार का यह चक्र अधोमुख है। इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक को दरदुरी (मेढक के समान उछलने की) शक्ति प्राप्त होती है। वह क्रमशः पृथ्वी को संपूर्णतः छोड़कर आकाश में उड़ सकता है। बुद्धि सम्पन्नता के साथ उसमें सर्वज्ञता आती है। वह जरा और मृत्यु को नष्ट कर सकता है। इस चक्र के सिद्ध होने पर प्रत्येक दल से क्रमशः व, श ष, स का नाद झंकृत होता है।



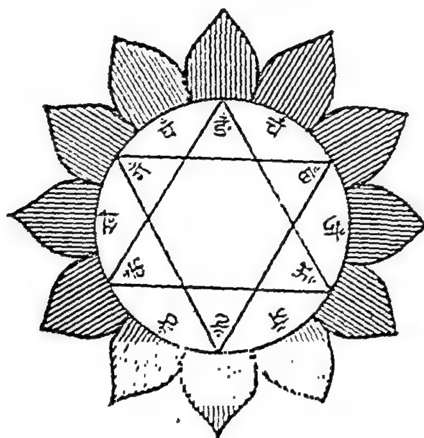
चित्र २-स्वाधिष्ठान चक्र

यह चक्र लिंगमूल के समीप स्थित है। यह षट्दल कमल के आकार का है। इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक विश्व में वन्धनमुक्त और भयरहित हो जाता है। वह इच्छानुसार अणिमा या लघिमा सिद्धि का उपयोग कर सकता है। वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। इस चक्र के सिद्ध होने पर प्रत्येक दल से क्रमशः ब, भ, म, य, र, ल, का नाद झंकृत होने लगता है।



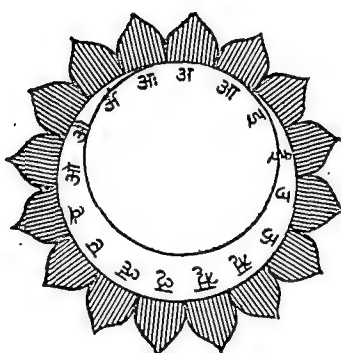
चित्र ३–मणिपूरक चक्र

यह तीसरा चक्र मणिपूरक नाभि के समीप स्थित है। यह दसदल कमल के आकार का है। इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक इच्छाओं का स्वामी हो जाता है और वह इच्छानुसार किसी दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है। स्वर्ण निर्माण की शक्ति और गुप्त धन की दृष्टि उसे मिल जाती है। इस चक्र के सिद्ध होने पर प्रत्येक दल से क्रमशः ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ का नाद झंकृत होने लगता है।



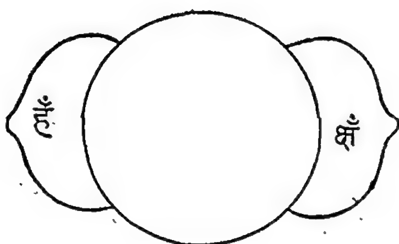
चित्र ४-अनाहत चक्र

यह चक्र हृदयस्थल के समीप है। यह द्वादशदल कमल के आकार का है। इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक भूत, भविष्य और वर्तमान जानने लगता है। वह वायु पर चल सकता है; अथवा उसे खेचरी शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस चक्र के सिद्ध होने पर प्रत्येक दल से क्रमशः क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ का नाद झंकृत होने लगता है।



चित्र ५-विशुद्ध चक्र

यह चक्र कंठस्थान में स्थित है और यह षोडशदल कमल के आकार का है। इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक योगीश्वर की संज्ञा प्राप्त करता है। वह चतुर्वेदों का ज्ञाता हो जाता है और उसकी प्रवृत्तियाँ सम्पूर्णतः अन्तर्मुखी हो जाती हैं। वह सुदृढ़ शरीर में एक सहस्र वर्षों का जीवन व्यतीत करता है। इस चक्र के सिद्ध होने पर प्रत्येक दल से क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः का नाद झंकृत होने लगता है। यह चक्र स्वर-ध्वनि का केन्द्र है।



चित्र ६-आज्ञाचक्र

भ्रूमध्य में यह छठा चक्र है जिसे आज्ञाचक्र या आकाशचक्र भी कहते हैं। यह द्विदल कमल के आकार का है। इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक अपनी इच्छानुसार कार्य करने में समर्थ हो जाता है। यह प्रकाश का बिन्दु है। इस चक्र के सिद्ध होने पर प्रत्येक दल से ह और क्ष का नाद झंकृत होने लगता है।

उपर्युक्त चित्रों के माध्यम से वर्णित षट्चक्रों की शरीर में स्थित के स्थान, उनके वर्ण, उनकी शक्तियों एवं कमलदल- संख्या आदि का विवरण निम्नांकित

चार्ट से कुछ अधिक सरलता से समझा जा सकता है —

क्रम संख्या	चक्र	स्थान	वर्ण	देवता	कमल दल संख्या
१.	मूलाधार	गुह्य अर्थात् गुदा और लिंग के मध्य में।	रक्त	गणेश	चार
२.	स्वाधिष्ठान	लिंग	पीत	ब्रह्मा	छः
३.	मणिपूरक	नाभि	नील	विष्णु	दस
४.	अनाहत	हृदय	श्वेत	गुरु	बारह
५.	विशुद्ध[1]	कण्ठ	धूम	जीव	षोडश
६.	आज्ञा	भ्रू-मध्य	पीत	अग्नि	दो[2]

१. वर्णादि के विषय में मतान्तर है। शिव-संहिता के अनुसार 'विशुद्धाख्य' स्वर्ण-वर्ण (सुहेमाभं)है, धूम वर्ण नहीं। (द्रष्टव्य-शिव-संहिता, पंचम पटल)
२. 'मध्यकालीन संत–साहित्य', पृ. ५१३.

परिशिष्ट २

विशेष प्रतीक-सूची

संकेतित शब्द	प्रतीक
१– अकास	ब्रह्माण्ड का
२– अधर	जीवनदायिनी शक्ति के
३– अगस्त्य	शरद्-ऋतु के आगमन का
४– अलाउद्दीन	माया-मोह और अज्ञानता का
५– अमृत और विष	सुख-दुख का
६– अर्जुन-द्रौपदी	नायक-नायिका के
७– अर्जुन	लक्ष्य-वेध का, वीरता का
८– आँख या नेत्र दृष्टि	ईश्वरीय अनुकम्पा का
९– आग पड़ना	उमंगों एवं आशाओं पर तुषारपात होने का (लाक्षणिक प्रतीक)
१०– इन्द्र	नायक का
११– कमल	नायिका और उसके मुख, नेत्र आदि का
१२– कस्तूरी (फारसी उपमान)	काले-केशों का
१३– कबूतर की ग्रीवा	ग्रीवा-सौन्दर्य का
१४– कजरी वन	भोग विलास का
१५– कत्था	महाशून्य का
१६– कविलासा	महल के उस ऊपरी भाग का प्रतीक है, जहाँ राजा-रानी रहते थे (प्रेम-पक्ष में) ब्रह्माण्ड-चक्र का (योग-पक्ष में)।
१७– कमल और सूर्य	साधक और साध्य, जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम का।
१८– करहु–करील	सांसारिक माया-जाल में आबद्ध व्यक्ति का
१९– काशी	शिवपुरी का
२०– कालिन्दी	काले केशों का
२१– किलकिला-समुद्र (पदमावत'-के 'सरोवर-खंड' में वर्णित)	पुले-सरात का

२२– कैलाश	सहस्रार-चक्र का
२३– कूर्म	कुण्डलिनी शक्ति का
२४– कोयल, चातक, मयूर, चकई, चकवा।	प्रेम-पीर के
२५– कोठा	सभा मंडप या दरबार आम का (प्रेम-पक्ष में) शरीर के मध्य में स्थित हृदयगुहा का प्रतीक है, जिसमें अनहदनाद सुना जाता है (योग-पक्ष में)।
२६– खंजन	नेत्रों का
२७– क्षीर-समुद्र ('पदमावत' के 'मान सरोवर-खंड' में वर्णित)	विलास एवं ऐश्वर्य का
२८– गजपति	अज्ञानी पुरुष का
२९– गंगा	इड़ा नाड़ी का
३०– चंपक	रूपवती पद्मावती (नायिका) का
३१– गुलाब एवं भ्रमर	साध्य और साधक, परमात्मा और जीवात्मा के प्रेम का।
३२– चन्द्र	मूल का, इड़ा नाड़ी का
३३– चन्द्रमा और चकोर, चुम्बक और लोहा।	साध्य और साधक, परमात्मा और जीवात्मा के प्रेम का।
३४– चारिबसेरे	शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत के।
३५– चित्रकार और चित्र	परब्रह्म की महानता और जीव की लघुता का
३६– चींटी	पिपीलिका-गति का।
३७– चूना	सर्वशून्य का।
३८– जुग	स्त्री-पुरुष का (कामशास्त्र में), इड़ा, पिंगला नाड़ियों का (योग-शास्त्र में)।
३९– जुल्फ या अलक	अज्ञानता का
४०– तमचूर	ग्रीवा-सौन्दर्य का
४१– तरुवर	सुषुम्ना नाड़ी का, मेरुदण्ड का
४२– तरीकत	उपासना-काण्ड का
४३– तराईं	नायिका की सखियों का
४४– तिरबेनी	इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों का
४५– त्रिवेणी	मांग का

४६– दशम-द्वार	ब्रह्मरन्ध्र का
४७– दर्पण	साधक के हृदय का
४८– दामिनी	मांग का
४९– द्वितीया का चन्द्र (फा० उ०)	ललाट का
५०– दीपक, (फा० उ०)	मांग का
५१– दुल्हन	जीवात्मा का
५२– दोज़ख (नर्क)	पाप के फल का
५३– धूप-छाँह	इड़ा, पिंगला नाड़ियों का
५४– धातु शून्य	शून्य अवस्था का
५५– नट और कठपुतली	परब्रह्म की महानता और जीवकी लघुता का
५६– नगर	नगर-निवासियों का (लाक्षणिक प्र०)
५७– नरगिस (फा० उ०)	आँख का
५८– नल-दमयन्ती	नायक-नायिका का
५९– नव-पौरी	शरीर के नव-द्वारों का
६०– नाग	केशों का
६१– नायक	जीव, मन और सूर्य का, सहजयानी परिभाषा में 'भोगी' का।
६२– नायिका	परब्रह्म की, सहजयानी परिभाषा में 'सहज-सुन्दरी' की।
६३– नायिका के गुण श्रवण या दर्शन द्वारा नायक का वेसुध होना।	हालावस्था का
६४– नायिकाओं की सपत्नियाँ	माया की प्रतिरूप अज्ञानमयी नारी की।
६५– नारद	शैतान का
६६– नैहर	संसार (इहलोक) का
६७– नैयाँ	जीवन का
६८– पड़ाव या नगर, पंचेन्द्रियाँ, ठग या बटमार	माया के
६९– पार (पारा)	शुक्ररूप रत्नसेन का
७०– पान	शून्य का
७१– पारस रूप	निर्गुण ब्रह्म का प्रतीक होने के साथ-साथ उस मधुर रूप का भी प्रतीक है जिसकी स्पर्श-

	दीप्ति से समस्त संसार में लावण्य और माधुर्य छा जाता है।
७२– पिंड (शरीर)	ब्रह्माण्ड का
७३– पियरि धूप	वृद्धावस्था का (लाक्षणिक प्र०)
७४– पनिहारिन	जीवात्मा के चित्त की एकाग्रता का
७५– पक्षी	जीवात्मा का
७६– पतझार	विरह का (लाक्षणिक प्र०)
७७– पुलि-सरात	विषम स्थिति में फँसे साधक की उस परीक्षा का प्रतीक है जिसमें केवल धर्मात्मा ही सफल हो पाता है।
७८– पुष्प-कमल, मालती आदि के	नायिका के
७९– फल	मुक्ति का
८०– फुलवारी	शरीर का
८१– फूल और काँटा	प्रसन्नता और अवसाद का
८२– बालरंडा	कुण्डलिनी शक्ति का
८३– बिंबाफल	अधरों की लालिमा का
८४– बिहिश्त (स्वर्ग)	पुण्य के फल का
८५– बूँद और समुद्र	जीव की लघुता और परब्रह्म की महानता का
८६– भँवर	काले केशों का
८७– भाड़ा	शरीर का
८८– भीम	वीरता का
८९– भुगुति	महासुख का
९०– भ्रमर	नायक का
९१– मरजिया	जीव की पाशविक प्रवृत्तियों की विनष्टता का
९२– महाभारत	युद्ध की भीषणता और भयंकरता का।
९३– माँग	सहस्त्रार चक्र का
९४– मारिफ़त	ज्ञानकाण्ड का
९५– मान सरोवर	त्रिकूट के ऊपर स्थित उस विस्तृत प्रदेश का प्रतीक है जिसमें सहस्त्रदल कमल खिलता है।
९६– मुख पर तिल	एकत्व का, पूर्ण शून्य का
९७– मुख या कपोल	ईश्वरीय सौन्दर्य, दयालुता, उदारता, प्रकाश, रक्षण एवं संहार सभी शक्तियों के समन्वित रूप का।

९८–	मीन	नेत्रों का
९९–	मैना और बाज, मैना और मार्जारी	काल के वशीभूत जीव के
१००–	मोरनी, मयूर	ग्रीवा-सौन्दर्य के
१०१–	यमुना	पिंगला नाड़ी का
१०२–	योगी-वेश में नायकों का कंथा, छाल, वीणा, गुदड़ी, खप्पर आदि धारण करना।	तप और योग के लिये उनकी तत्परता का।
१०३–	योगी-वेश में नायकों का भस्म धारण करना।	जीव की कलुष भावनाओं की दग्धता का
१०४–	रक्त (फा० उ०)	अधरों की, हथेलियाँ एवं माँग की लालिमा का।
१०५–	रात-दिन	इड़ा-पिंगला नाड़ियों का
१०६–	राग और हिरण	साध्य और साधक, परमात्मा एवं जीवात्मा के प्रेम का
१०७–	राघव चेतन	तांत्रिक सम्प्रदाय और शैतान का
१०८–	राम-सीता	नायक-नायिका के
१०९–	रावण	विरह का
११०–	राहु	केश, वेणी, विरह आदि का
१११–	लंकादीप	योग-साधना का
११२–	लाल दोपहरिया का फूल	अधरों की लालिमा का
११३–	वसंत	यौवन का
११४–	वन	विपत्ति और कष्ट का
११५–	बाम-दक्षिण	इड़ा-पिंगला नाड़ियों का
११६–	विद्रुम	अधरों की लालिमा का
११७–	सर्प	केशों का
११८–	ससि	नायिका का
११९–	ससुराल	परलोक का
१२०–	समुद्र	भयंकरता और भीषणता का
१२१–	सारस-जोरी	दाम्पत्य-प्रेम का
१२२–	सातवाँ गगन	सहस्रार-चक्र का
१२३–	सारिपासा	युगनद्ध-भाव का

१२४– सिंहल-गढ़	सिद्धि-स्थान का
१२५– सिद्धि-गोटिका	पद्मावती (नायिका का)
१२६– सीसा	संदेह का
१२७– सुरसरि	श्वेत केशों का
१२८– सुवर्ण	प्रेम का
१२९– सुहागा	सौभाग्य का
१३०– सुपारी	अति शून्य का
१३१– सुआ	गुरु का
१३२– सुरंग	सुषुम्ना नाड़ी का
१३३– सूर्य	पिंगला नाड़ी का, नायक की तेजस्विता का
१३४– सूर्य और किरण	परब्रह्म की महानता एवं जीव की लघुता का
१३५– सोहिलतारा	हीर फूल (नासिका में पहने जाने वाला आभूषण) का
१३६– शरीअत	कर्मकाण्ड का
१३७– शिखर	शरीर का
१३८– शून्य	ब्रह्मरन्ध्र का
१३९– हक़ीक़त	सिद्धावस्था का
१४०– हंस	मुक्तात्मा का, श्वेत केशों का
१४१– हाट	संसार का
१४२– हाट में खरीदारी करना	जीव के कर्मों का
१४३– हिंगलाज पर्वत	सिद्धि-स्थान का
१४४– हियासिरान	आनन्दप्राप्ति का (लाक्षणिक प्र०)–
१४५– हीरामन	गुरु का, वज्रमणि (वज्रयानी-सिद्धि) का

परिशिष्ट ३

ग्रन्थानुक्रमणिका

"हिन्दी-ग्रन्थ"

१– अग्रवाल, डा० पद्मा — प्रतीकवाद, मनोविज्ञान-प्रकाशन, वाराणसी-१ प्र० सं० ।

२– अज्ञेय, मदन वात्स्यायन (संपादक) — तीसरा सप्तक, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी-द्वितीय संस्करण, सन् १९६१ ।

३– अग्रवाल, डा० तारकनाथ (संपादक) — बीसलदेवरासो, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बाराणसी-१, प्र० सं० ।

४– अग्रवाल, डा० वासुदेव शरण (टीकाकार) — पदमावत, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) द्वितीय संस्करण, २०१८ वि० ।

५– अग्रवाल, राधे-मोहन (अनुवादक) — मराठों का नवीन इतिहास, शिवलाल अग्रवाल, एंड कम्पनी प्रा० लि०, आगरा द्वि० सं० १९६३ ई० ।

६– उपाध्याय, बल्देव प्रसाद — भारतीय दर्शन, शारदा-मन्दिर, गणेश दीक्षित लेन, बनारस, द्वि० सं० सन् १९४५ ।

७– कुमार, विमल — सौन्दर्य-शास्त्र के तत्त्व, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, पटना-६, प्र० सं० सन् १९६७ ।

८– कुमार, डा० सुधीन्द्र — हिन्दी-कविता में युगान्तर, आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली, प्र० सं० १९५० ई

९– (डा०) केशनी प्रसाद — मध्यकालीन-हिन्दी-संत विचार और साधना, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद प्र० सं० सन् १९६५ ।

१०– कोछड़, प्रो० हरिवंश — अपभ्रंश-साहित्य, भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा-दिल्ली प्र० सं० ।

११– गाँधी, महात्मा — गीता माता, मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री, सस्ता साहित्य-मण्डल, नयी दिल्ली, प्र० सं० सन् १९५० ।

१२– गुप्त, डा० माताप्रसाद (संपा०) — चंदायन, प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा, प्र० सं०

सन् १९६७ ।
१३– गुप्त, डा० माताप्रसाद (संपा०) पृथ्वीराज रासउ, साहित्य-सदन, चिरगाँव झाँसी प्र० सं०, २०२० वि ।
१४– „ „ छिताई वार्ता, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र० सं० २०१५ ।
१५– „ „ पदमावत, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद १९६३ ।
१६– गुप्त, डा० परमेश्वरीलाल (सम्पादक) मिरगावती, श्रीमती अन्नपूर्णा गुप्त, बौलिया बाग नाटी इमली, वाराणसी-१, प्र० सं० सन् १९६७ ।
१७– „ „ चांदायन, प्रथम संस्करण ।
१८– गुप्त, मैथिली शरण साकेत, साहित्य-सदन चिरगाँव (झाँसी) पंचम् संस्करण २००१ वि० ।
१९– गुप्त, मणि भूषण दास (अनु०) अल्पज्ञात धार्मिक सम्प्रदाय ।
२०– गुप्त, डा० गणपति चन्द्र हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, भारतेन्दु भवन, चंडीगढ़-२, प्र० सं० सन् १९६५ ।
२१– गौड़, विश्वनाथ (संपा०) पद्मावती-समय, साहित्य-निकेतन, कानपुर, तृ० सं० सन् १९६५ ।
२१– गौड़, कृष्णदास (अनु०) अनङ्क-शतक, मित्र प्रकाशन, प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।
२२– चतुर्वेदी, परशुराम (अनु०) हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, अवध पब्लिशिंग हाऊस, चारबाग लखनऊ, प्र० सं० ।
२३– „ (संपा०) सूफी-काव्य-संग्रह, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृ० सं० २००० वि० ।
२४– „ „ दादूदयाल-ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी-१, प्र० सं० २०१३ वि० ।
२५– „ „ संत-काव्य, किताब महल, इलाहाबाद प्र० सं० सन् १९५२ ।
२६– चटर्जी० आर० एल० तंत्रसार ।
२७– (डा०) चन्द्रकला प्रतीक तथा प्रतीकवाद, उमराव सिंह मंगल, जयपुर, प्र० सं० सन् १९६५ ।
२८– (डॉ०) जयदेव सूफी महाकवि जायसी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, सं० २०१३ वि० ।

२९– जैन, डॉ० विमलकुमार — सूफी-मत और हिन्दी-साहित्य, आत्माराम, एण्ड संस, दिल्ली-६ संस्करण सन् १९५५।
३०– तिवारी, श्री रामपूजन — हिन्दी-सूफी-काव्य की भूमिका, ग्रंथ-वितान, पटना–१, प्र० सं० सन् १९६०।
३१– " (अनु०) — एकोत्तरशती, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दरियागंज दिल्ली, सं० सन् १९५८।
३२– " — जायसी, राधा कृष्ण प्रकाशन, रूपनगर दिल्ली, संस्करण सन् १९६५।
३३– " — सूफी-मत साधना और साहित्य।
३४– तिवारी, डॉ० भोलानाथ — भाषा विज्ञान, किताब महल प्रा० लि०, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण १८८४ वि०।
३५– दास, डा० श्यामसुन्दर — भाषा विज्ञान, इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग, तृतीय संस्करण सं० २००४ वि०।
३६– " (संपा०) — कबीर-ग्रंथावली, इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग, प्र० सं० १९२८।
३७– दास, डा० श्यामसुन्दर (संपा०) — दीनदयालगिरि-ग्रंथावली, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९७६ वि०।
३८– " " — हम्मीर-रासो, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय संस्करण २००५।
३९– " " — इन्द्रावती, काशी नागरी प्रचारिणी, सभा, काशी, संस्करण, १९०६।
४०– दास, खेमराज श्री कृष्ण (टीका०) — रसिक-प्रिया, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई, सं० १९८८।
४१– " (संपा०) — कुंडलियाँ, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई, संस्करण १९७७ वि०।
४२– " " — काव्य-निर्णय, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई, प्र० सं०।
४३– दास, ब्रजरत्न (संपा०) — नंददास-ग्रन्थावली, द्वितीय संस्करण २०१४ वि०।
४४– द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद — नाथ-सम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, संस्करण सन् १९५०।
४५– " " — हिन्दी-साहित्य, अतरचन्द कपूर एण्ड संस, देहली, अम्बाला, आगरा, नागपुर, जयपुर

संस्करण १९५५ ई०

४६– द्विवेदी आ० हजारी प्रसाद — कबीर, हिन्दी–ग्रंथ रत्नाकर, प्रा० लि०, बम्बई-४ छठा संस्करण, सन् १९६० ।

४७– " " — मध्यकालीन-धर्म-साधना, साहित्य-भवन लि० इलाहाबाद, तृ० सं० सन् १९६२ ।

४८– द्विवेदी, राम अवध — साहित्य-सिद्धान्त, बिहार-राष्ट्र-भाषा- परिषद पटना-४ प्रथम संस्करण, १९६३ ई० ।

४९– दिनकर, रामधारी सिंह — हुंकार ।

५०– दीक्षित, डा० त्रिलोकी नारायण — हिन्दी-संत साहित्य, राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०, दिल्ली-६, प्र० सं० सन् १९६३ ।

५१– नगेन्द्र (डॉ०) — काव्य-बिम्ब, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली-७, प्र० सं० सन् १९६७ ।

५२– नाथ, गोरख — सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति ।

५३– नाथ, मत्स्येन्द्र — कौल-ज्ञान-निर्णय ।

५४– नागर, डा० अम्बाशंकर — गुजरात के हिन्दी गौरव-ग्रंथ, भारती प्रकाशन, लखनऊ, प्र० सं० १९६४ ।

५५– (डॉ०) नामवर सिंह — हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, साहित्य-भवन, लि० इलाहाबाद, प्रा० लि०, सन् १९५२ ।

५६– 'निराला,' सूर्यकान्त त्रिपाठी — गीतिका, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृ० सं० २००५ वि० ।

५७– " " — परिमल, गंगा पुस्तक माला, कार्यालय, लखनऊ, प्र० सं०, सं० १९८६ वि० ।

५८– पंत, सुमित्रा नन्दन — गुंजन, भारती-भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, दशम् संस्करण, सं० २०१८ वि० ।

५९– " — रश्मिबन्ध, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्र० सं० सन् १९५८ ।

६०– " — स्वर्ण-किरण, भारती-भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद प्र० सं०; सं० २००४ वि० ।

६१– " — स्वर्ण-धूलि, भारती-भंडार लीडर प्रेस इलाहाबाद प्र० सं०, सं० २००४ वि० ।

६२– पांडेय, डॉ० रामखेलावन — मध्यकालीन संत साहित्य, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-१, प्र. सं. सन् १९६५ ।

६३– पाण्डेय, डॉ० चन्द्रबली	कालिदास. मोतीलाल बनारसीदास, हिन्दी-पुस्तक विक्रेता, बनारस, प्र० सं० सं० २०११ वि० ।
६४– "	तसव्वुक अथवा सूफीमत, सरस्वती मन्दिर जतनबर, बनारस, सं० सन् १९४५ ।
६५– पाण्डेय, डॉ० अरविन्द	रीतिकालीन काव्य में लक्षणा का प्रयोग, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्र० सं० सन् १९६६ ।
६६– पाण्डेय, डॉ० श्याम मनोहर	सूफी-काव्य विमर्श, विनोद पुस्तक-मंदिर, आगरा, सन् १९६८ ।
६७– " "	मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, मित्र प्रकाशन, प्रा० लि० इलाहाबाद प्र० स० ।
६८– पाठक, पं० शिवसहाय (संपा०)	चित्ररेखा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी प्र० सं० सन् १९५९ ।
६९– " "	मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य, ग्रंथम-रामबाग, कानपुर प्र० सं० सन् १९६४।
७०– पोद्दार, हनुमान प्रसाद (टीका०)	रामचरित-मानस, गीता-प्रेस गोरखपुर, चतुर्थ सं० सं० २१०८ वि० ।
७१– प्रसाद जयशंकर	कामायनी, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, नवम् सं०, सं० २०१३ वि०
७२– (आ०) प्रताप सिंह	काव्य-विलास, हस्त० प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, रघुनाथ, सं० १८०२ ।
७३– 'प्रेमधन' बद्री नारायण चौधरी	प्रेमधन-सर्वस्व, श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद, श्री दिनेश नारायण, हिन्दी--साहित्य--सम्मेलन, प्रयाग, प्र० सं० संवत् १९९६ वि० ।
७४– (डॉ०) फतेह सिंह	कामायनी-सौन्दर्य, वीरेन्द्रपाल, संस्कृति-सदन, कोटा (राजस्थान) प्र० सं० सन् १९४८ ।
७५– बड़थ्वाल, डॉ० पीताम्बरदत्त (सपा०)	गोरखबानी, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय सं० संवत् २००३ वि० ।
७६– बच्चन, हरिवंशराय	मधुशाला ।
७७– बाबू गुलाबराय	सिद्धान्त और अध्ययन, प्रतिभा-प्रकाशन-२०६, हैदरकुली, छठा० सं० सन् १९६५ ।

७८–	बेनीपुरी, श्री रामवृक्ष (संपा०)	विद्यापति की पदावली, पुस्तक-भंडार, लहेरिया सराय (विहार प्रान्त) द्वि० सं०
७६–	भारती, डॉ० धर्मवीर	सिद्ध-साहित्य, किताब महल, इलाहाबाद, प्र० सं० सन् १६५५।
८०–	महीपाल (संकलनकर्त्ता)	गहरे पानी पैठ, जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई-१ प्र० सं० १६७१।
८१–	मनोज, जानकी नाथ सिंह (संपा०)	शब्द-रसायन, प्र० सं०
८२–	मिश्र, रामदहिन	काव्य में अप्रस्तुत-योजना, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना, प्र० सं० संवत् २००५ वि०
८३–	डॉ० मिश्र, जनार्दन	भारतीय प्रतीक विद्या, विहार राष्ट्रभाषा-परिषद, सम्मेलन-भवन पटना-३, प्र० सं०
८४–	मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद (संपा०)	पद्माकर, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी प्र० सं० २०१६ वि०
८५–	” ”	भिखारीदास-ग्रंथावली प्र० सं०
८६–	” ”	विहारी, वाणी-वितान, प्रकाशन, ब्रह्मनाल वाराणसी-१, पंचम सं० संवत् २०२२ वि०
८७–	मिश्र, शिवगोपाल (संपा०)	मधुमालती, हिन्दी प्रचारक, पुस्तकालय, वाराणसी-१ प्र० स० सन् १६५७।
८८–	मिश्र, आ० कुलपति	रस-रहस्य, बल्देव प्रसाद, ज्वाला प्रसाद, इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १८५४।
८९–	मुस्तफा, सैयद कल्बे	मलिक मुहम्मद जायसी
९०–	वर्मा, महादेवी	नीरजा, इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग, सं० सन् १९३६।
९१–	” ”	यामा, किताबिस्तान, इलाहाबाद और लंदन, सं० सन् १६३६।
९२–	” ”	स्मृति की रेखाएँ, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद द्वि० सं० २००१ वि०।
९३–	वर्मा, श्री परिपूर्णानन्द	प्रतीक-शास्त्र, हिन्दी-समिति सूचना-विभाग, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ, प्र० सं० सन् १९६४।
६४–	वर्मा, जगन्मोहन (संपा०)	चित्रावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं० सन् १६१२।

९५– वर्मा, डॉ० रामकुमार — हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायण लाल, प्रयाग, द्वि० सं० १९५४।

९६– " " — कबीर-पदावली, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग पंचम सं० २००३ वि०।

९७– " " — संत कबीर, साहित्य-भवन प्रा० लि० प्रयाग, सन् १९४७।

९८– " " — कबीर का रहस्यवाद, साहित्य-भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, दसवाँ सं० सन् १९६६।

९९– वर्मा, वृन्दावन लाल — झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, मयूर प्रकाशन झाँसी दशम् संस्करण।

१००– विद्यालंकार, आ० अभयदेव (अनु०) — वेद रहस्य

१०१– वियोगी, हरि (टीका०) — विनय-पत्रिका, साहित्य-सेवा-सदन, काशी, पंचम सं० २००५ वि०।

१०२– (डॉ०) संसारचंद्र — हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति, राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०, प्र० सं० सन् १९६०।

१०३– सक्सेना, डॉ० सुधा — जायसी की बिम्ब-योजना, अशोक-प्रकाशन, नयी सड़क, देहली-६, प्र० सं० सन् १९६६।

१०४– सप्रे, माधवराव (अनु०) — श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य, तिलक मंदिर, गायकबाड़ पूना-२, बारहवाँ सं० सन् १९६२।

१०५– सांकृत्यायन, राहुल — हिन्दी-काव्य-धारा।

१०६– " " — पुरातत्त्व-निबंधावली।

१०७– सिंह, डॉ० वीरेन्द्र — आयाम, उपमा प्रकाशन, जयपुर, प्र० सं०

१०८– सुधांशु, लक्ष्मीनारायण — काव्य में अभिव्यंजनावाद, जनवाणी प्रकाशन, हरसिन रोड, कलकत्ता-७, तृ० सं० २००६ वि०।

१०९– सुदर्शन, डॉ० मजीठिया सिंह — संत-साहित्य, रूपकमल-प्रकाशन, दिल्ली-६, प्र० सं० १९६२।

११०– (डॉ०) शम्भूनाथ सिंह — हिन्दी-महाकाव्य का स्वरूप, विकास।

१११– " " — छायावाद-युग, सरस्वती-मन्दिर, जतनवर, बनारस, प्र० सं० सन् १९५२।

११२– शर्मा, डा० हरिद्वारीलाल — काव्य और कला

११३– शर्मा, पुरोहित श्री हरिनारायण (संपा०) सुन्दरदास--ग्रंथावली, राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता, प्र० सं०, सं० १९९३ वि० ।

११४– शर्मा, डा० मुंशीराम (संपा०) सूर-संचयन, रवीन्द्र प्रकाशन, पाटनकर बाजार, ग्वालियर-३६ ।

११५– शास्त्री, चन्द्रशेखर मिश्र (टीका०) घनानन्द-कवित्त, वाणी-वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी–१ द्वि० सं०, सं० २०२२ वि० ।

११६– शास्त्री, पृथ्वीनाथ (अनु०) गीतांजलि, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली मथुरा, प्र० सं० ।

११७– शास्त्री, हरप्रसाद बौद्धगान ओ दोहा बंगाब्द १३२३ ।

११८– शुक्ल, डॉ० सरला जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सं० २०१३ वि० ।

११९– शुक्ल, रामचन्द्र चिन्तामणि, (प्रथम भाग) इंडियन प्रेस प्रा० लि०, प्रयाग, प्र० सं० सन् १९६१ ।

१२०– " " चिन्तामणि, भाग २ ।

१२१– " " सूरदास, सरस्वती मंदिर, जतनबर, वाराणसी पंचम सं० सन् १९६१ ।

१२२– शुक्ल, रामचन्द्र (संपा०) जायसी-ग्रंथावली, काशी नागरी प्रचारिणी, सभा काशी, तृ० सं० २००३ वि० ।

१२३– " " हिन्दी-साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १४ वाँ सं०, सं० २०१९ वि० ।

१२४– शुक्ल, डा० प्रेमनारायण हिन्दी-साहित्य में विविधवाद, पद्मजा प्रकाशन, रामबाग, कानपुर प्र० सं०, सं० २०१० वि० ।

१२५– शेष, चुन्नीलाल (संपा०) सूर के सौ कूट, द्वि० सं०, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी वाराणसी ।

१२६– (प्रो०) क्षेम छायावाद के गौरव-चिह्न, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-१, द्वि० सं० सन् १९६२

१२७– त्रिपाठी, डॉ० जगदीश-नारायण — आधुनिक हिन्दी-कविता में अलंकार-विधान, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर, प्र० सं० १९६२।

१२८– त्रिगुणायत, डॉ० गोविन्द — जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन, अशोक प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली-६, प्र० सं० सन् १९६३।

१२९– " " — शास्त्रीय-समीक्षा के सिद्धांत, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, प्र० सं०

१३०– " " — कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक अध्ययन, साहित्य-सदन देहरादून, प्र० सं०।

१३१– " " — हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि।

"संस्कृत-ग्रंथ"

१– अथर्ववेद

२– आयंगर — हठयोग-प्रदीपिका

३– गोरक्ष-शतक

४– चतुर्वेदी, नर्मदेश्वर — गाथा-सप्तशती, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी-१, प्र० सं० सं० २०१७ वि०।

५– छान्दोग्योपनिषद्

६– पातंजल — योग-दर्शन

७– भर्तृहरि — नीतिशतकम् (एक स्नातक द्वारा संपादित) एजूकेशनल बुक, डिपाट।

८– भामह — काव्यालंकार

९– मिश्र, आ० श्रीरामचन्द्र (व्याख्याकार) — काव्यादर्श, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी-१ सं० २०१५ वि०।

१०– यास्क — निरुक्त

११– वामनवृत्ति

१२– (डॉ०) सत्यव्रत सिंह (व्या०) — काव्य-प्रकाश, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी-१ द्वि० सं० सं० २०१७ वि०।

१३– साहित्य-दर्पण, चौखम्बा विद्या-भवन वाराणसी-१, सं० सन् १९५७।

१४– शर्मा, आ० श्रीराम — सांख्य-दर्शन, संस्कृति-संस्थान, बरेली, प्र० सं०

सन् १९६४।

१५- श्वेताश्वेतर उपनिषद।

१६- शास्त्री, शेषराज (टीका०) प्रसन्न-राघवम्, चौखम्बा, विद्याभवन, चौक बनारस-१ प्र० सं०

१७- शास्त्री, डा० सुरेन्द्र देव (टीका०) अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, पं० रामनारायण लाल, बेनी प्रसाद, प्रकाशन तथा पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद-२, प्र० सं० सन् १९६७।

१८- शास्त्री, गुरु प्रसाद (टीका०) अभिज्ञान-शाकुन्तलम्-भार्गव-पुस्तकालय, गाय घाट, काशी, द्वि० सं० सं० २००५ वि०।

१९- श्रीमद्भगवद्गीता, मोतीलाल जालान, गीता-प्रेस, गोरखपुर, बहत्तर्वां सं० २०१९ वि०।

२०- ऋग्वेद।

"उर्दू-ग्रन्थ"

१- खय्याम, उमर ईरान के सूफ़ी कवि

२- बशीर श्री अहमद तर्जुमां कुरान शरीफ

३- सेल कुरान

"अंग्रेजी-ग्रन्थ"

1- Augdon and Richards The meaning of meaning

2- Author, Evalen Principle of Tantras

3- Aurtor The Shaktas

4- Bannerjee Jitendra Nath The Development of Hindu Iconography, Calcutta University, 1941.

5- Barlaw, H. C. Essay on Symbolism

6- Barquat Ulla Contribution to Hindu Literature.

7- Bowra, C. M. The Heritage of Symbolism.

8- Bose, D. N. Tantras Their Philosophy and ocult Secrets

9- Brill, A A. The University of Symbols, The Psychonaly Review 1943.

43-Yeats , W. B. Essays and Introduction London, 1961.

44- Zuckerkandl, Victor Sound and Symbol.

"कोश"

१- अमरकोश

२- आप्टे, वामन शिवराम-संस्कृत-हिन्दी-कोश, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, पटना, वाराणसी, सं० १९६६.

३- दास, डा० श्यामसुन्दर (संपा०)-हिन्दी शब्द कोश, तीसरा भाग,काशी नागरी, प्रचारिणी सभा, काशी, १९२५ ।

४- प्रसाद, कालिका, राज-वल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव (संपा०)-वृहत्त हिन्दी कोश - बनारस ज्ञानमंडल, लिमिटेड, प्र० सं० २००९ वि०

५- वर्मा, रामचन्द्र - संक्षिप्त हिन्दी-शब्द-सागर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ सं० २००२ वि० ।

६- वर्मा, डा० धीरेन्द्र - हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल लि० वाराणसी, प्र० सं० २०१५ वि० ।

7- Bhargava's Standard Illustrated Dict. Bhargava Book Depot; Chowk, Varanasi, 1966.

8- Dictionary of Psychology, Peter Owen Ltd. London Sw/, Second edition, 1961.

9- Encyclopaedia Britanica, Volume, 21, Encyclopaedia Britanica, Inc. Chicago, London Toronto, Fifteen Edition, 1947.

10- Fowler, H. W. & F. G. - The Concise Oxford Dict. (Edited) Oxford, At the Clarendon Press. Fifth edition, 1964.

11- Geddie, William - Chamber's Twentieth Century Dict. (E.) W. & R. Chambers Ltd. London, W. I., Fourth Edition, 1964.

12- Society the Philological. - The Shorter Oxferd English Dict. (Collected) Oxford, At the Clarendon Press, Third Edition.

13- Webster's Third New International Dict., G. & C.

Morrian Company Publishers. Springfield. Massachusetts, U. S. A., 15th Edition, 1966.

"पत्र-पत्रिकाएँ"

१–	अमृत बाजार पत्रिका, नवम्बर, १९५६ में प्रकाशित ।
२–	कल्याण का योगांक ।
३– द्विवेदी, महावीर प्रसाद ।	ब्राह्मण-पत्र सं० १ ।
४– डॉ० देवराज	नयी कविता, प्रथम अंक
५–	नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग–६, १४, २१
६–	नागरी प्रचारिणी सभा-खोज रिपोर्ट, १९०७ ।
७– भारती, धर्मवीर	आलोचना, अंक २३ जुलाई, १९५८ ।
८–	साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २१ अगस्त, १९५५ ।
९–	साहित्य संदेश, महेन्द्र प्रकाशन साहित्य-कुंज, आगरा, जून, १९६५, भाग–२६, अंक १२ ।
१०– सिंह, शिवदान सिंह सम्पादकीय	आलोचना त्रैमासिक अंक–२ ।
११– सुधांशु, लक्ष्मी नारायण	अवंतिका, काव्यालोचनांक, वर्ष–२, अंक–१, पटना, जनवरी, १९५४ ।
१२–	हिन्दी-अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, भारतीय हिन्दी-परिषद, इलाहाबाद ।